श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय

छिंदवाड़ा

ज्ञान वैभव

चतुर्थ वर्ष

सन् २०१४

प्रकाशक

श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान

छिंदवाड़ा मध्यप्रदेश

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय
छिंदवाड़ा

ज्ञान वैभव

चतुर्थ वर्ष

सन् २०१४

प्रकाशक

श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान

छिंदवाड़ा मध्यप्रदेश

मूल्य - २५० रुपया

प्रस्तावना

अध्यात्म सुमनों की सुरभि से साधना का उपवन सदा सुरभित होता रहा है। संतों की साधना और साहित्य इस आध्यात्मिक वसुंधरा की संस्कृति को शाश्वत पहचान देती है। साहित्य का स्वर्णकाल भक्तिमय, संतमय था। विशेष रूप से चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तो अनेक संतों द्वारा नि:सृत, अनुभूत दर्शन, योग, सिद्धांतों की परिचायक है। वीतरागी संत आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज ऐसे ही संत शिरोमणी हैं। जिन्होंने स्वयं वीतराग धर्म की निश्चय साधना करते हुए शुद्धात्मानुभव रूप चौदह ग्रंथों में जैनागम का सारभूत सृजन किया है। उनकी यह वाणी स्वप्रसूत ज्ञानगंगा है, जिसने भारतीय साहित्य वाङ्मय में आध्यात्मिक परम्परा को नवीन मार्ग दिया है। रत्नराशियों की तरह आभावान यह चौदह ग्रंथ किसी जीव के मोक्षगमन में प्रेरणा बन जायें तो कोई आश्चर्य नहीं। अत: श्रीमद् जिन तारण तरण ज्ञान संस्थान ने मुक्ति प्रेरक, सहकारी इन ग्रंथों को श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय के पंचवर्षीय पाठ्यक्रम का आधार बनाया है। इस आधार की भावभूमि जैनाचार्यों की मूल परम्परा को अनुश्रुत करती है। तीर्थंकरों की दिव्य देशना, गणधरों की वाणी, आचार्यों की लिपियों ने संत पुरुषों को यह गंगधारा सौंपी है; वहीं आज घर-घर में प्रवाहित करने का लक्ष्य इस ज्ञानयज्ञ की महत्वाकांक्षा है। इक्कीसवीं सदी, भौतिकता, विदेशी संस्कृति, संस्कारों का तिरोहित होता जाना आज के समय की शोचनीय चिन्ता है। इस प्रभाव ने संसार, देश व समाज में आध्यात्मिक, धार्मिक संस्कारों को धूमिल किया है। अत: पुन: आध्यात्मिक क्रांति का शंखनाद करते हुए श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान पंचवर्षीय पाठ्यक्रम द्वारा शिक्षा, प्रयोग, आचरण, स्वाध्याय और प्रचार के साधन के माध्यम से जैनागम, सिद्धांत एवं आम्नाय में दक्ष करने हेतु इस कर्तव्य-रथ पर आरूढ़ है।

अखिल भारतीय तारण तरण दिगंबर जैन समाज का यह प्रथम अद्‌भुत चरण है। अध्यात्म रत्न बाल ब्र. श्री बसंत जी की प्रबल प्रेरणा से ही श्रीसंघ के मार्गदर्शन में श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय का यह स्वरूप धर्मनगरी छिंदवाड़ा में साकार हुआ है। सत्य तो यह है कि आत्म साधक चिंतक बाल ब्र. श्री बसंत जी ने आचार्य प्रवर श्री जिन तारण तरण की दिव्य देशना को जन-जन तक पहुँचाने का विचार वर्षों से संजोया था, वह श्रीसंघ तथा विद्वत्‌जनों के अपूर्व सहयोग से मूर्त रूप ले रहा है।

श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान द्वारा संचालित श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय पत्राचार माध्यम से देश, समाज के समस्त वर्गों में स्वाध्याय की रुचि जाग्रत कर, उन्हें शास्त्री की गरिमामय उपाधि से अलंकृत करेगा। समाज में प्रचलित आचरण-अध्यात्म एवं परम्परा से सम्बंधित समस्त भ्रांतियों का उन्मूलन कर सम्यक् आचरण का प्रयास करना भी इसका एक लक्ष्य है। आधुनिक शैक्षणिक गतिविधियों के माध्यम से शिक्षण-प्रशिक्षण, वक्ता-श्रोता गुणों का विकास इस लक्ष्य का सहायक होगा। इस ज्ञानरथ-ज्ञानयज्ञ का महती लक्ष्य अध्यात्म जाग्रति, अध्यात्म प्रभावना, भारतीय

संस्कृति की मूल मोक्षदायिनी वृत्ति का विकास करना है। संसार के समस्त जीवों में संयम, सद्ज्ञान, सद्चारित्र जागृत हो। नैतिकता, स्वाध्याय, विनम्रता की वृत्ति का विकास हो। परम्पराओं का सम्यक् आगम प्रेरित आचरण, पूज्य-पूजक विधान का ज्ञान, गुरुवाणी की प्रभावना के संस्कारों का विकास हो। मानव मात्र के जीवन में यह पाठ्य योजना आध्यात्मिक बीजारोपण कर परम आनंद में निमित्त बने। इसके लिये श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान कृत संकल्पित है। इस हेतु बहुमूल्य सुझाव भी आमंत्रित हैं।

इस पवित्र धर्म प्रभावना उपक्रम में पूज्य बाल ब्र. श्री बसंत जी की प्रेरणा, श्रद्धेय बाल ब्र. श्री आत्मानंद जी, श्रद्धेय बाल ब्र. श्री शांतानंद जी, श्रद्धेय ब्र. श्री परमानंद जी, श्रद्धेय ब्र. श्री सुखानंद जी, श्रद्धेय ब्र. श्री मुक्तानंद जी, श्रद्धेय ब्र. श्री चिदानंद जी, श्रद्धेय ब्र. श्री नित्यानंद जी, बाल ब्र. श्री अरविंद जी, बाल ब्र. राकेश जी, विदुषी बाल ब्र. बहिन उषा जी, बाल ब्र. सुषमा जी, बाल ब्र. सरला जी, ब्र. किरण जी, बाल ब्र. रचना जी, ब्र. मुन्नी बहिन जी, ब्र. आशारानी जी, बाल ब्र. संगीता जी एवं समस्त तारण तरण श्रीसंघ सदैव प्रथम स्मरणीय है। समाज के श्रेष्ठिजन, विद्वानों, चिंतकों, लेखकों तथा प्रत्यक्ष-परोक्ष, तन-मन-धन से सहयोग करने वाले सदस्यों, संयोजकों तथा समस्त साधर्मी बंधुओं, प्रवेशार्थियों का भी श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान आभार व्यक्त करता है। जिनका सहयोग ही इस ज्ञान यज्ञ की सफलता है।

श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान
संचालन कार्यालय - श्री तारण भवन,
संत तारण तरण मार्ग,
छोटी बाजार, छिंदवाड़ा (म.प्र.) ४८०००१

आभार

श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान उन सभी व्यक्तियों, संस्थाओं, मंडलों और प्रकाशकों का आभारी है, जिन्होंने इस पाठ्य पुस्तक के निर्माण में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। पाठ्य पुस्तक में संकलित विषय वस्तु के रचनाकारों, प्रकाशकों का भी कृतज्ञ है। छायाचित्र, रेखाचित्र, परिभाषाओं एवं सिद्धांतों के सम्पादन में सहयोगी समस्त विद्वत्जनों, कलाकारों के प्रति आभारी है, जिन्होंने समय-समय पर अपने अमूल्य सुझाव दिये हैं।

ज्ञान वैभव का आमंत्रण

आत्मा में निहित है...अनंत ज्ञान का वैभव। एक समय की अंतर्मुखी दृष्टि समग्र जीवन को एक नई दिशा प्रदान करती है। दृष्टि ही सेतु है, आत्मा से परमात्मा होने का। परोन्मुखी रहकर इस आत्मा ने अनंत संसार में अनंत दु:खों का भोग किया, और अब समय...आमंत्रित कर रहा है...अनंत सुखी होने के लिये।

सौभाग्य के फलस्वरूप वे सभी अनुकूलतायें भी प्राप्त हो गईं हैं, जो सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिये आवश्यक होती हैं। यह ज्ञान वैभव चतुर्थ वर्ष का पाठ्यक्रम है, किस जीव की होनहार के निमित्त से यह सब हो रहा है, यह तो केवलज्ञानी परमात्मा ही जानते हैं। हमें अपना पुरुषार्थ निरंतर करना है। किसी भी समय वस्तु की प्राप्ति हो सकती है।

समय शीघ्रता से जा रहा है, स्वानुभव को भी इसी समय में उपलब्ध करना है। बीता हुआ समय वापस नहीं आता। इसलिये वर्तमान समय में अपने समय (आत्मा) को जान लें, पहचान लें...यह जीवन की सार्थकता का उपाय है। संसार अनादि-अनंत है, पंच परावर्तनरूप अनंत सागर है, इसमें से निकलने का, इससे पार होने का उपाय और पुरुषार्थ स्वयं को ही करना है।

आत्मरुचि, आत्म कल्याण की भावना पूर्वक सिद्धांत को समझकर सम्यक् श्रद्धान को उपलब्ध करें, सिद्धांत का श्रद्धान कार्यकारी है। पंचवर्षीय क्रम को आप पूर्ण करें, स्वयं इस स्वाध्याय की श्रृंखला से जुड़ें अन्य साधर्मी बंधु-बहिनों आदि सभी को प्रेरणा देकर स्व-पर कल्याण में अग्रणी हों । प्रस्तुत, ज्ञानवैभव पाठ्यक्रम सभी के जीवन में आत्मज्ञान के वैभव को प्रगट होने में निमित्त बने ऐसी शुभकामना सहित.......

- ब्र. बसन्त

णाणं णरस्स सारो

ज्ञान ही मनुष्य जीवन का सार है.

सम्यग्ज्ञानरूपी धन ऐसा विलक्षण है कि चोर तो चुरा नहीं सकते, भाई बन्धु बांट सकते नहीं, मरण पीछे पुत्र आदि ले सकते नहीं, राजा छीन सकता नहीं और दूसरे लोग आंखों द्वारा देख सकते नहीं। तीन लोक में यह ज्ञान पूज्य है। यह ज्ञानधन जिनके पास हो उन लोगों को धन्य समझा जाता है।

श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान द्वारा संचालित श्री तारण तरण महाविद्यालय के माध्यम से समाज में स्वाध्याय की रुचि जाग्रत हुई है।

ज्ञान दान के पवित्र कार्य के प्रेरणास्रोत अध्यात्म रत्न बाल ब्र. श्री बसन्त जी महाराज, श्रद्धेय बाल ब्र. शांतानंद जी एवं श्रीसंघ के सभी साधकों, ब्रह्मचारिणी बहिनों का इस कार्य में अमूल्य योगदान है। मैं श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान की ओर से समस्त संरक्षक, सदस्यों, पदाधिकारियों, सम्पादक मंडल के सभी सदस्यों, सभी संयोजक बंधुओं, सभी समाज बंधुओं, सभी प्रवेशार्थियों एवं प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग प्रदान करने वालों के प्रति हार्दिक आभार प्रेषित करता हूँ, सभी के सहयोग की मंगल भावना के साथ........

महासचिव **पं. जयचंद जैन**

श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान छिंदवाड़ा (म. प्र.)

सम्पादकीय

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्। आत्मा स्वयं ज्ञानरूप, ज्ञानमय, ज्ञान है। ज्ञेय-ज्ञाता-ज्ञान की यह परम्परा अनादिकाल से इस भूमि पर सिद्ध होती रही है। वर्तमान जिनशासनकाल में भगवान महावीर, परवर्ती अनुबद्ध केवली और पंच श्रुतकेवली भगवंतों ने कर्ता-कर्म एकता की ऐसी गंगा को अपनी वाणी द्वारा प्रवाहित किया है। आचार्यों ने कलश भर-भर कर इस अमृत रस का पान किया और आज भी इस अमृत के झरने झर रहे हैं। इस मनोहारी वाणी में द्रव्य स्वरूप को स्पष्ट किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत समयसार के कलशों में अमृतचंद्राचार्य रस भरते हैं कि **'एकः परिणमति सदा परिणामों जायते सदैकस्य'** द्रव्य अकेला ही परिणमन करता है और वह परिणमन एक ही होता है। द्रव्यों से अलग जीव द्रव्य की सत्ता है। **'जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो, भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्सोड्ढगई'** ऐसा जानकर उपयोग की ध्रवता का अभ्यास जीव का कर्तव्य है। तभी तो **'सहसमय मुक्ति रमन गमन सिद्ध सिद्धं'** 'होगा समय के साथ मुक्ति विलास रमण स्वरूप में, इस मार्ग से ही सिद्धि होगी, सिद्ध है निज स्वरूप में।'

सम्यक्दृष्टि भव्य जीव निज स्वरूप का ही चिंतन-मनन वेदन करते हैं - **'दर्सनं न्यान चारित्रं, सार्धं सुद्धात्मा गुनं'** वस्तुतः यही त्रिभंगी कर्मास्रव निरोध का उपाय है, आचरण में श्रावकाचार है। जैन दर्शन के मूल में यही स्वरूप वैभव सिद्धि का अनुपम उपाय है।

आत्म वैभव के इस चैतन्य चमत्कार को सहज अनुभव में लाने के लिये **'ज्ञान वैभव'** आपके हृदय में पहुँच रहा है, छिंदवाड़ा में अध्यात्म रत्न बाल ब्र. श्री बसन्त जी की पावन प्रेरणा ने श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय को स्थापित किया है। पत्राचार विधि से आत्म 'ज्ञान-वैभव' की आभा विस्तीर्ण करने हेतु चतुर्थ वर्ष 'प्रज्ञ' की पाठ्यपुस्तक 'ज्ञान वैभव' समर्पित है।

चतुर्थ और पंचम वर्ष में श्री तारण तरण श्रावकाचार, त्रिभंगीसार, छद्मस्थवाणी, द्रव्यसंग्रह, अध्यात्म अमृत कलश, आचार्य परिचय, योगसार, त्रिकालवर्ती महापुरुष, कथा एवं सिद्धांत अध्ययन क्रम में सम्मिलित है। जो इस ज्ञान यज्ञ को पूर्ण करेगी।

ज्ञान वैभव के **अध्याय प्रथम 'आचार'** में श्री तारण तरण श्रावकाचार जी की गाथा १६८ से ३०६ सम्मिलित है। जिसमें धर्मध्यान, श्रावक की अठारह क्रियाएँ, रत्नत्रय की साधना का स्वरूप, पात्र दान, दान की महिमा, रात्रि भोजन त्याग, जलगालन की विधि अध्येय है। यह अध्याय जीवन चर्या में प्रमाद, असावधानी वश होने वाली कषाय से बचाकर उत्तम धर्म धारण हेतु अभ्यास का प्रेरक बनेगा।

ज्ञान वैभव का **द्वितीय अध्याय 'विज्ञान'** दो भागों में विभक्त है। एक भाग में आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांतिदेव विरचित द्रव्यसंग्रह है, दूसरे भाग में आचार्य परिचय है। श्रुतकेवली भगवंतों के बाद भी कैसे जिनधर्म की प्रभावना होती रही है, इसका समाधान आचार्य परिचय से मिलता है। महान उपकारी आचार्य, मुनियों और कवि-लेखकों ने आज हमारे हाथों में जिनवाणी पहुँचाई है। इसे पढ़कर कर्तव्य बोध होता है, जिनागम की रक्षा का दायित्व सिद्ध होता है।

द्रव्यसंग्रह में आचार्य नेमिचंद्र जी ने मंगलाचरण के बाद जैनागम का प्रसिद्ध सूत्र **'जीव के विशेषण'** दिया है। संसारी जीव के लक्षण, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप, ध्यान का स्वरूप बताकर पंच परमेष्ठी के स्वरूप चिंतवन की प्रेरणा देते हैं। इस ध्यान का लक्ष्य निर्विकल्पता है। वह अध्याय निज विवेक की अवधारणा और सुमति की प्रखरता हेतु आग्रह करता है।

ज्ञान वैभव का **तृतीय अध्याय 'चिंतन'** अध्यात्म अमृत कलश से सराबोर है। प्रमाण ज्ञान से श्रुतसागर के मंथन का परिणाम यह अमृत कलश है। कर्ता-कर्म अधिकार के कलश ४६ से ९९ में नयज्ञान के प्रकाश में जीव का कर्ता-अकर्ता स्वरूप प्रदर्शित है। निश्चय नय से जीव, पुद्गल कर्म (रागादि) का कर्ता और कर्म नहीं हो सकता और पुद्गल कर्म जीव के कर्ता-कर्म नहीं हो सकते। इस सिद्धांत निरूपण से निश्चित ही तर्क प्रज्ञा का सुदृढ़ीकरण होगा।

ज्ञान वैभव का **चतुर्थ अध्याय 'भावना'** है। इसके एक खंड में आचार्य तारण स्वामी जी द्वारा विरचित त्रिभंगीसार जी की टीका तथा दूसरे खंड में छद्मस्थवाणी जी का प्रथम अधिकार (टीका) को विषय वस्तु बनाया गया है। त्रिभंगी द्वारा कर्मास्रव के कारण तथा कर्मास्रव निरोध का स्वरूप सरलार्थ द्वारा समझाया गया है। श्री छद्मस्थवाणी के ३८ सूत्रों में ध्यानसूर्य जागरण का रूपक है। समवशरण में स्थित अरिहंत देव का निश्चय स्वरूप भी इसमें विवेचित है। इसे पढ़कर पाठक लक्ष्य की स्थापना और लक्ष्य प्राप्ति का उपक्रम कर सकेंगे।

समग्रत: एकाग्रतापूर्वक रथारूढ़ हो जायें इस हेतु ज्ञान वैभव की पाठ्यवस्तु अपने नाम 'प्रज्ञ' को ज्ञापित करेगी ऐसी आशा है। विषय वस्तु को संग्रहीत कर सरल-सहज-सुबोध बनाने के लिये प्रश्नों को विषयानुरूप सम्पादित किया गया है। मॉडल प्रश्न पत्र परीक्षा-चिंता को कम करने में सहायक होंगे।

ज्ञानोदय, ज्ञानपुष्प, ज्ञानरत्न की तरह ज्ञान वैभव भी साधनायुक्त आत्म-वैभव के चैतन्य चमत्कार जागरण में 'प्रज्ञ' बनाये, इसलिये अध्यात्मरत्न बाल ब्र. श्री बसन्त जी ने परिश्रम पूर्वक जटिलताओं को रोचक रूप दिया है। सम्पादकों ने आवश्यक संशोधन किये हैं। संदर्भित ग्रन्थों के टीकाकार-रचनाकार, अमृतचंद्राचार्य जी, नेमिचंद्राचार्य जी, मंडलाचार्य तारण स्वामी जी, ब्र. जयसागर जी एवं अध्यात्म शिरोमणी ब्र. ज्ञानानंद जी के प्रति कृतज्ञता पूर्वक पाठ्यपुस्तक में हुई त्रुटि निदान का भाव रखते हैं। सुधी पाठक, विद्वतजनों का सहयोग अपेक्षित है।

इस सम्पादन में अनेक कर्मठ हाथों, विचारवान बौद्धिक मस्तिष्कों का बहुमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है। उसके लिये हम सभी के प्रति कृतज्ञ हैं।

डॉ. श्रीमती मनीषा जैन, उप प्राचार्य
श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय
छिंदवाड़ा (मध्यप्रदेश)

प्राक्कथन

अध्यात्म ज्ञान का मार्ग अपने शुद्धात्म स्वरूप के आश्रय से ही प्रकट होता है। पर पर्याय, कर्मादि संयोग, शरीर या बाह्य क्रिया आदि किसी से भी अध्यात्म ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। यह शुद्ध मार्ग आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज ने चौदह ग्रन्थों के माध्यम से हमें बताया है। उनके द्वारा की गई अध्यात्म क्रांति जन-जन को धर्म और पूजा के नाम पर फैल रहे आडम्बर, जड़वाद, पाखंडवाद से मुक्त कर सत्य अध्यात्म धर्म में स्थिर करने हेतु थी।

श्रीमद् जिन तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज द्वारा प्रदत्त अध्यात्म धर्म की प्रभावना, अध्यात्म धर्म के जागरण तथा समाज में युवा पीढ़ी व सभी वर्गों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति में विकास के पवित्र उद्देश्य से बाल ब्र. पूज्य श्री बसन्त जी महाराज की प्रेरणा एवं निर्देशन में समस्त श्रीसंघ के विशेष सहयोग पूर्वक श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय छिंदवाड़ा में प्रारम्भ किया गया, समाज ने अत्यधिक उल्लास पूर्वक इस महाविद्यालय में प्रवेश लेकर स्वाध्याय प्रारम्भ किया। समस्त साधकजनों के द्वारा भी सभी के लिये स्वाध्याय की प्रेरणा प्राप्त हो रही है।

वर्तमान में हमारा विशेष क्षयोपशम न होते हुए भी हमारा अहंभाव किस रूप में कार्य करता है, यह हम सब जानते हैं परन्तु वस्तुत: हमें सर्वप्रथम अपने अज्ञान का बोध होना चाहिये, इसके बिना हमारा कल्याण का मार्ग नहीं बन सकेगा। लौकिक सुखों की आकांक्षा धर्म मार्ग में बाधक है। हमें यह विश्वास रखना चाहिये कि सांसारिक संयोग अथवा लौकिक अनुकूलता-प्रतिकूलता जीव के अपने पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप के उदय से प्राप्त होती है। इस प्रकार यथार्थ वस्तु स्वरूप को समझकर सम्क्त्व का बीजारोपण करना ही इस जन्म की सार्थकता का उपाय है। इस सम्यक् भावना को जाग्रत करने के उद्देश्य से ही यह पंचवर्षीय पाठ्यक्रम है।

चतुर्थ वर्ष के प्रस्तुत ज्ञान वैभव में श्रावकाचार जहाँ हमारे सम्यक्त्वाचरण को उत्पन्न करने में सहायक होगा, वहीं द्रव्यसंग्रह और आचार्य परिचय से हमें सम्यक् दिशा बोध प्राप्त होगा। आचार्य अमृतचंद्र जी महाराज के अध्यात्म अमृत कलश से स्वानुभूति के रस में निमग्न होने का सौभाग्य प्राप्त होगा। आचार्य श्रीजिन तारण स्वामी जी विरचित श्री त्रिभंगीसार ग्रन्थ से परिणामों की सम्हाल और आयु बंध के विज्ञान का बोध होगा, और श्री छद्मस्थवाणी जी ग्रन्थ से हमारे प्रणेता आराध्य श्रीमद् जिन तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज के जीवन परिचय के संबंध में समझ सकेंगे। अध्यात्मरत्न बाल ब्र. श्री बसन्त जी महाराज ने समग्र विषय वस्तु को अत्यंत सरलता से प्रस्तुत किया है, सभी का सहयोग श्लाघनीय है।

विगत वर्षों में हमारे प्रवेशार्थियों ने अथक परिश्रम करके महाविद्यालय के पाठ्यक्रम के माध्यम से स्वाध्याय किया है और आगे भी आपका उद्देश्य पवित्र है, आपके प्रयास प्रशंसनीय हैं। हमें आशा है कि आप पंचवर्षीय पाठ्यक्रम पूर्ण करेंगे। यह जीवन को सम्यक् दिशा प्रदान करने वाला उपक्रम है।

प्रो. डॉ. उदय कुमार जैन, प्राचार्य
श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय
छिन्दवाड़ा (म.प्र.)

डालचंद जैन (पूर्व सांसद)
अध्यक्ष – विश्व अहिंसा संघ, नई दिल्ली
अध्यक्ष – मध्यप्रदेश स्वतंत्रता संग्राम सेनानी फेडरेशन, भोपाल (म.प्र.)

निवास : श्रीमंत भवन, बी.एस. जैन मार्ग
राजीव नगर, सागर (म.प्र.)
नि. : २६८०२७, २६८०५९
आ. : २६८०४९,२६८०१७
फैक्स : (०७५८२) २६८०७९ तार : बालक
email : sagarmp@hotmail.com

अध्यात्म रत्न बा. ब्र. बसंत जी
संस्थापक
श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय
छिंदवाड़ा

सादर जय तारण तरण

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय की योजना प्रारंभ कर श्री तारण तरण दिग. जैन समाज में एक नया युग प्रारंभ करने की दिशा में अच्छी पहल की शुरुआत की है। हम इसकी सराहना करते हुए स्वागत करते हैं। हमारी समाज में धर्म के ज्ञान धन की वृद्धि हो, इस योजना में समाज के सभी विद्वानों का सहयोग प्राप्त हो।

योजना की सफलता की कामना करता हूँ।

सादर भावनाओं के साथ.........

आपका शुभेच्छु

डालचन्द जैन

(डालचंद जैन)

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय - पंचवर्षीय पाठ्यक्रम

प्रथम वर्ष (प्रवेश)…….

अध्याय १ - (अ) ज्ञान विज्ञान भाग - १
(ब) ज्ञान विज्ञान भाग - २

अध्याय २ - श्री मालारोहण जी (गाथा १ - ३२)

अध्याय ३ - श्री छहढाला (पूर्ण)

अध्याय ४ - (अ) श्री ममलपाहुड जी (फूलना १, ४, ५, ११, ३२),
(ब) देव गुरु शास्त्र पूजा

द्वितीय वर्ष (परिचय)…….

अध्याय १ - (अ) शलाका पुरुष, षट्काल, रत्नत्रय
(ब) श्री बृहद् मंदिरविधि

अध्याय २ - (अ) तीन मत, पंचार्थ पदवी, अध्यात्म आराधना
(ब) श्री पंडितपूजा जी (गाथा १ - ३२)

अध्याय ३ - (अ) लेश्या, प्रतिमा, मुक्तिश्री फूलना
(ब) श्री कमलबत्तीसी जी (गाथा १ - ३२)

अध्याय ४ - श्री जैन सिद्धांत प्रवेशिका (अध्याय १, २)

तृतीय वर्ष (प्रवीण)…….

अध्याय १ - श्री तारण तरण श्रावकाचार (गाथा १ - १६७)

अध्याय २ - श्री तत्त्वार्थ सूत्र (अध्याय १ - ५)

अध्याय ३ - श्री तत्त्वार्थ सूत्र (अध्याय ६ - १०)

अध्याय ४ - श्री जैन सिद्धांत प्रवेशिका (अध्याय ३, ४, ५)

चतुर्थ वर्ष (प्रज्ञ)…….

अध्याय १ - श्री तारण तरण श्रावकाचार (गाथा १६८ - ३०६)

अध्याय २ - (अ) श्री द्रव्यसंग्रह (गाथा ५८)
(ब) आचार्य परिचय

अध्याय ३ - श्री अध्यात्म अमृत कलश (कर्ता कर्म अधिकार, कलश ४६ - ९९)

अध्याय ४ - (अ) श्री त्रिभंगीसार जी (गाथा १ - ७१)
(ब) श्री छद्मस्थवाणी जी (अध्याय १)

पंचम वर्ष (शास्त्री)…….

अध्याय १ - श्री तारण तरण श्रावकाचार (गाथा ३०७ - ४६२)

अध्याय २ - (अ) श्री योगसार जी (गाथा १ - १०८)
(ब) कथानक सिद्धांत बोध (प्रथमानुयोग)

अध्याय ३ - (अ) श्री त्रिकालवर्ती महापुरुष (प्रथमानुयोग)
(ब) श्री सिद्ध स्वभाव जी

अध्याय ४ - श्री ज्ञानसमुच्चयसार जी (गाथा ९५ - २९५)

ज्ञानवैभव समर्पित है .....

उव उवनं उवन उवन सुइ रमनं।
रमन विंद सुइ रमन जयं ।।
विन्यान विंद सुइ सहज रमन जिनु।
अन्मोय न्यान तं ममल पयं।
भवियन कमल रमन जिन जिनय जिनं।।

की
अनवरत ज्ञान धारा प्रवाहित करने वाले
आचार्य प्रवर
श्रीमद् जिन तारण स्वामी जी के प्रति,
जिनके,
स्वानुभूति से प्रस्फुटित अमृत वचन
दैदीप्यमान रत्नमणि के समान ज्ञानानुभव प्रकाशित कर रहे हैं।
साथ ही,
उनकी विशुद्ध आम्नाय को सहेजने वाले
विविध कलाओं में निष्णात
धर्म दिवाकर पूज्य श्री गुलाबचंद जी महाराज,
समाजरत्न पूज्य श्री ब्र. जयसागर जी महाराज,
अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ब्र. ज्ञानानन्द जी महाराज
सहित
धर्म प्रभावक जागृत चेतनाओं के प्रति।

अनुक्रमणिका...........

क्र.		विवरण	पृष्ठ क्रमाँक
०१.		नियमावली	I
०२.		परीक्षा योजना	II
०३.		प्रार्थना : ब्र. बसन्त जी	III
०४.		**अध्याय एक : श्री तारण तरण श्रावकाचार :** आचार्य तारण स्वामी जी	**००१ - ०३६**
	अ -	भूमिका, शुद्ध धर्म का लक्षण एवं धर्म ध्यान के भेद	००१ - ००६
	ब -	तीन लिंग और उनकी त्रेपन क्रियाएँ	००६ - ००७
	स -	सम्यक्त्व की महिमा	००८ - ०११
	द -	अष्ट मूलगुण एवं रत्नत्रय की साधना	०१२ - ०१७
	इ -	तीन पात्र एवं चार दान कथन	०१७ - ०२४
	फ -	रात्रि भोजन त्याग एवं जलगालन क्रिया, प्रश्नोत्तर आदि	०२४ - ०३६
०५.		**अध्याय दो : [अ] श्री द्रव्यसंग्रह** - श्री नेमिचंद्राचार्य जी	**०३७ - ०७५**
		श्री आचार्य नेमिचंद्र जी परिचय एवं ग्रन्थ प्रस्तावना	०३७ - ०३८
	अ -	मंगलाचरण, सात तत्त्व विवेचन एवं पुण्य-पाप कथन	०३९ - ०६६
	ब -	मोक्षमार्ग का स्वरूप	०६७ - ०७०
	स -	ध्यान सम्बंधी विवेचन	०७० - ०७५
		[ब] आचार्य परिचय	**०७६ - १०४**
०६.		**अध्याय तीन :** श्री अध्यात्म अमृत कलश: श्री अमृतचंद्राचार्य जी	**१०५ - १५४**
	-	श्री अमृतचंद्राचार्य जी एवं ग्रन्थ परिचय	१०५ - १०८
	-	कर्ता कर्म अधिकार	१०८ - १४०
	-	अध्यात्म अमृत कलश - प्रश्नोत्तर	१४० - १४९
	-	अध्यात्म अमृत कलश - निबंधात्मक प्रश्न	१५० - १५२
	-	शास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति	१५३ - १५४
०७.		**अध्याय चार : [अ] श्री त्रिभंगीसार जी** - आचार्य तारण स्वामी जी	**१५५ - १९९**
	-	श्री त्रिभंगीसार जी - भूमिका	००० - १५५
	-	श्री त्रिभंगीसार जी ग्रन्थ	१५६ - १९९
		[ब] श्री छद्मस्थवाणी जी - आचार्य तारण स्वामी जी [भूमिका, ग्रन्थ, सारांश, निबंधात्मक प्रश्न सहित]	**२०० - २१६**
०८.		**मॉडल प्रश्न पत्र ०१-०४, एवं प्रवेश आवेदन पत्र**	**२१७ - २२१**

नियमावली -

०१. महाविद्यालय द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम में पंजीयन हेतु सभी इच्छुक विद्यार्थी पात्र हैं, जाति बंधन नहीं है।

०२. एक वर्षीय पाठ्यक्रम के अंतर्गत दिये जाने वाले ४ अध्यायों का पूरा अध्ययन करना अनिवार्य होगा।

०३. सभी पाठ्यक्रमों में प्रवेश हेतु न्यूनतम आयु सीमा १५ वर्ष रहेगी।

०४. प्रत्येक पाठ्यक्रम का अंतिम परीक्षाफल वार्षिक परीक्षा में प्राप्त अंकों को जोड़कर घोषित किया जावेगा।

०५. विद्यार्थियों की संख्या के आधार पर परीक्षा केन्द्र निर्धारित किये जावेंगे। प्रत्येक परीक्षा केन्द्र में न्यूनतम २५ परीक्षार्थी होना अनिवार्य है।

०६. परीक्षा परिणाम की अंकसूची वार्षिक परीक्षा के पश्चात् डाक द्वारा भेजी जावेगी एवं मेरिट में आने वाले छात्रों के लिये विशेष पुरस्कार प्रदान किये जावेंगे।

०७. प्रमाण पत्र पाँचवें वर्ष की परीक्षा के पश्चात् प्रदान किये जावेंगे।

०८. पाँचवे वर्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले परीक्षार्थियों को 'शास्त्री' उपाधि से अलंकृत किया जावेगा।

०९. आवेदन पत्र प्राप्त होने पर महाविद्यालय द्वारा नामांकन क्रमांक भेजने के पश्चात् पाठ्यक्रम के अनुसार विद्यार्थी को अपनी पढ़ाई स्वयं करना होगी, केन्द्र द्वारा अध्ययन हेतु पाठ्य सामग्री भेजी जावेगी।

१०. विद्यार्थी को व्यक्तिगत रूप से अपने सामाजिक और धार्मिक कार्यों में सक्रिय रहना अपेक्षित रहेगा।

११. समय-समय पर महाविद्यालय द्वारा निर्देशित नियमों का पालन करना।

१२. प्रत्येक विद्यार्थी की प्रवेश शुल्क ३५०/- रु. होगी जो एक मुश्त देय होगी, जिसमें प्रवेश शुल्क, पाठ्य सामग्री एवं परीक्षा शुल्क सम्मिलित है। अगली कक्षा में प्रवेश हेतु समिति द्वारा निर्धारित शुल्क परीक्षा परिणाम घोषित होने के बाद एक माह में जमा करना होगा। पाठ्य पुस्तक में पीछे प्रकाशित किया गया आवेदन पत्र शुल्क सहित भेजें।

१३. प्रत्येक पाठ्यक्रम में प्रशिक्षण एवं प्रायोगिक कार्य हेतु १०० अंक निर्धारित हैं। अत: प्रत्येक विद्यार्थी को प्रशिक्षण में सम्मिलित होना अनिवार्य होगा।

१४. महाविद्यालय कार्यालय से पत्र व्यवहार करने के लिये अपने नामांकन क्रमांक का उल्लेख अवश्य करें।

१५. अलंकरण समारोह तीर्थक्षेत्रों के वार्षिक आयोजन में या अन्य किसी भव्य समारोह में सम्पन्न किया जावेगा।

१६. महाविद्यालय से संबंधित समय-समय पर दी जाने वाली जानकारी और समाचार संत श्री तारण ज्योति एवं तारण बंधु में प्रकाशित किये जावेंगे।

१७. विशेष जानकारी के लिये महाविद्यालय के निर्देशक, प्राचार्य एवं उपप्राचार्य महोदय से सम्पर्क करें।

विद्यार्थियों के वर्ग विभाग एवं प्रोत्साहन योजना -

दर्शन वर्ग - १५ वर्ष से २५ वर्ष तक बालक एवं बालिका वर्ग के लिये (१० वीं कक्षा उत्तीर्ण होना अपेक्षित है।)

ज्ञान ग्रुप - २६ वर्ष से ४० वर्ष तक वयस्क पुरुष एवं महिला वर्ग के लिये।

ममल ग्रुप - ४१ वर्ष से अधिक के प्रौढ़ पुरुष एवं महिला वर्ग के लिये।

उपरोक्त प्रत्येक वर्ग में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को पुरस्कृत किया जायेगा।

प्रवेश एवं परीक्षा का समय -

(१) इच्छित पाठ्यक्रम में प्रवेश हेतु आवेदन पत्र पूर्ण रूप से भरकर संचालन कार्यालय तारण भवन छिंदवाड़ा के पते पर भेजें। प्रवेश पत्र पाठ्य पुस्तक में पीछे प्रकाशित किया गया है। (२) आवेदन पत्र संचालन कार्यालय को ३० जून तक प्राप्त होना आवश्यक है। (३) प्रवेशार्थियों के लिये महाविद्यालय में प्रवेश १ जुलाई से प्रारम्भ होगा। (४) प्रवेशार्थियों के लिये महाविद्यालय का शुभारम्भ १ जुलाई से होगा। (५) वार्षिक परिणाम डाक द्वारा प्रेषित किये जावेंगे।

प्रवेशार्थियों के लिये आवश्यक नियम (तृतीय वर्ष) -

(१) प्रतिदिन जिनवाणी दर्शन करना। (२) ऊँ नम: सिद्धं मंत्र की जाप करना। (३) प्रतिदिन नियम से स्वाध्याय करना।

परीक्षा योजना

१. श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान द्वारा संचालित श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय के पंचवर्षीय पाठ्यक्रम में प्रत्येक वर्ष में एक बार परीक्षा होगी। परीक्षार्थी को परीक्षा में चार प्रश्न पत्र देना अनिवार्य होगा। प्रत्येक प्रश्न पत्र में न्यूनतम ३३% अंक प्राप्त होने पर ही उत्तीर्ण घोषित किया जावेगा।

अंकों का प्रतिशत/ श्रेणी निम्नानुसार निर्धारित होगा –

अंक	श्रेणी	ग्रेड
००–३२	–	D अनुत्तीर्ण
३३–४४	तृतीय	C उत्तीर्ण
४५–६९	द्वितीय	B उत्तीर्ण
७०–८४	प्रथम	A उत्तीर्ण
८५–१००	विशेष योग्यता	A+ उत्तीर्ण

२. प्रत्येक प्रश्न–पत्र में पूर्णांक १०० होंगे। प्रश्न–पत्र में दो अंकों वाले वस्तुनिष्ठ, चार अंकों वाले (३० शब्दों में) लघु उत्तरीय प्रश्न, ६ अंकों वाले (५० शब्दों में) दीर्घ उत्तरीय तथा १० अंक का एक निबंधात्मक प्रश्न होगा। प्रत्येक प्रश्न–पत्र का प्रारूप निम्नानुसार होगा –

प्रश्न क्रमांक	वस्तुनिष्ठ प्रश्न (२ अंक)	लघु उत्तरीय प्रश्न (४ अंक)	दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (६ अंक)	निबंधात्मक प्रश्न (१० अंक)	प्रश्नों का योग
	रिक्त स्थान, सत्य/ असत्य, सही जोड़ी, विकल्प	परिभाषा, प्रकार, अंतर	अंतर, परिचय, व्याख्या, सारांश	परिचय निबंध	
	प्रश्न संख्या	प्रश्न संख्या	प्रश्न संख्या	प्रश्न संख्या	
प्रश्न १	५	–	–	–	५
प्रश्न २	५	–	–	–	५
प्रश्न ३	५	–	–	–	५
प्रश्न ४	५	–	–	–	५
प्रश्न ५	–	५	–	–	५
प्रश्न ६	–	–	५	–	५
प्रश्न ७	–	–	–	१	१
अंकों का योग	२०×२=४०	५×४=२०	५×६=३०	१×१०=१०	३१ प्रश्न
	४०	२०	३०	१०	१०० अंक

प्रार्थना

नमामि गुरु तारणम्

मोक्ष पथ प्रदर्शकम्, नमामि गुरु तारणम्।
नमामि गुरु तारणम्, नमामि गुरु तारणम्।।
वीर श्री नन्दनं, पुष्पावती जन्मनं।।
गढ़ाशाह प्रमुदितम्, नमामि गुरु तारणम्.....मोक्ष....
दीक्षा तप साधनम्, सेमरखेड़ी वनम्।।
ध्यान धारि निर्मलम्, नमामि गुरु तारणम्.....मोक्ष....
मिथ्या मद मर्दनम्, मोह भय विनाशनम्।।
स्याद्वाद भूषितम्, नमामि गुरु तारणम्.....मोक्ष....
आत्म ज्ञान दायकम्, मोक्ष मार्ग नायकम्।।
सत्य पथ प्रकाशकम्, नमामि गुरु तारणम्.....मोक्ष....
धर्म पथ प्रचारितं, ज्ञानामृत वर्षणम्।।
सूखा निसई शुभम्, नमामि गुरु तारणम्.....मोक्ष....
ज्ञान भाव स्थितम्, समाधि बेतवा तटम्।।
निसई तीर्थ वंदनम्, नमामि गुरु तारणम्.....मोक्ष....
वीतराग जगद् गुरुम्, युगकवि सु निर्मलम्।।
ब्रह्मानंद मोक्षदं, नमामि गुरु तारणम्......मोक्ष....

व्यक्तिगत व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक

सर्वप्रथम पद्मासन, अर्द्ध पद्मासन या सुखासन में बैठें, मेरुदंड सीधा रहे, नासाग्र दृष्टि हो, ऐसी मुद्रा में बैठकर संकल्प करें कि - मेरे भीतर अनंत ज्ञान का, अनंत शक्ति का, अनंत आनंद का सागर लहरा रहा है, उसका साक्षत्कार करना मेरे जीवन का परम लक्ष्य है। संकल्प के पश्चात् २ मिनिट श्वासोच्छ्वास पर ध्यान दें, पश्चात् श्वास को गहरे करें एवं ऊँ मंत्र का उच्चारण करें (अपने श्वासोच्छ्वास प्रमाण, श्वास छोड़ते समय ३/४ श्वास में ओ और १/४ श्वास में म् का उच्चारण करें) इसके बाद शांत मौन होकर शून्य ध्यान में आत्म स्वरूप में निमग्न हो जायें।

अंत में ३ बार ऊँ नम: सिद्धं एवं ३ बार ऊँ शांति मंत्र का उच्चारण करके अपने इष्ट शुद्धात्म देव को विनय भक्ति पूर्वक प्रणाम करके ध्यान पूर्ण करें।

अध्याय १

: श्री तारण तरण श्रावकाचार जी :

आचार्य तारण स्वामी जी

अ - भूमिका, शुद्ध धर्म का लक्षण एवं धर्म ध्यान के भेद

ब - तीन लिंग और उनकी त्रेपन क्रियाएँ

स - सम्यक्त्व की महिमा

द - अष्ट मूलगुण एवं रत्नत्रय की साधना

इ - तीन पात्र एवं चार दान कथन

फ - रात्रि भोजन त्याग एवं जलगालन क्रिया, प्रश्नोत्तर

श्रावकाचार : भूमिका

श्री श्रावकाचार जी ग्रन्थ आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज द्वारा रचित आचारमत का ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में श्रावक की चर्या का विशेष रूप से कथन किया गया है। ज्ञान वैभव में हम इस ग्रन्थ की गाथा १६८ से ३०६ तक का अध्ययन करेंगे। गाथा १६७ के पूर्व आचार्य ने विभिन्न विषयों के प्रतिपादन करने के अनंतर अधर्म के लक्षणों का वर्णन किया था। अधर्म के लक्षणों को त्यागकर धर्म की साधना आराधना करने की प्रेरणा देते हुए यहाँ प्रथम ही धर्म का स्वरूप और उसका प्रयोजन कहते हैं। संसार में एकमात्र आत्म धर्म ही धर्म है जो त्रिकाल चैतन्य लक्षण वाला है, यही धर्म कर्मों से मुक्त होने का उपाय है। धर्म की साधना हेतु आचार्य जिन तारण स्वामी जी ने पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान को साधन बतलाया है। चैतन्य लक्षण स्वरूप की अनुभूति सम्यग्दर्शन है। सम्यक्त्व की महिमा के साथ-साथ जिनागम के तीन लिंग का वर्णन किया गया है। जिनमें उत्तम, मध्यम, जघन्य लिंग और इनकी क्रमशः १९, १६ और १८ क्रियाओं का विवेचन है।

तीन लिंग का वर्णन करने के पश्चात् सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्दृष्टि की महिमा एवं सम्यक्त्व हीन जीव की दशा का अद्भुत स्वरूप स्पष्ट किया गया है। वहाँ आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शन से मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है। यदि सम्यग्दर्शन सहित जीव व्रतादि का पालन करता है तो नियम से मोक्षमार्गी है। जिसके मूल में सम्यक्त्व है उसके धर्म वृक्ष में व्रतादि की अनेक शाखायें होती हैं, वह अनेक गुणों का स्वामी होता है, उसे नियम से मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन जिस जीव को होता है उसका अज्ञान मिथ्यात्व क्षय हो जाता है, उसके जीवन में सम्यग्दर्शन से सम्बंधित कोई दोष नहीं होते। सम्यक्दृष्टि जीव पात्र होता है। इसके विपरीत सम्यग्दर्शन रहित जीव अनंत संसार में परिभ्रमण करता है। सम्यक्त्व रहित जीव कुलवान होते हुए भी कुलहीन माना जाता है और सम्यक्त्व सहित जीव कुलहीन हो तो भी कुलवान माना जाता है।

सम्यग्दर्शन का विवेचन करने के पश्चात् आचार्य ने अष्ट मूलगुणों का प्रतिपादन किया है। पाँच उदम्बर और तीन मकार का त्याग करने के पश्चात् श्रावक को तत्संबंधी अतिचारों का भी त्याग करना चाहिये ऐसी प्रेरणा दी है। पश्चात् रत्नत्रय की साधना के अंतर्गत २५ दोषों का स्वरूप और उन दोषों से रहित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप बतलाया है। तत्पश्चात् तीन प्रकार के उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्र और चार दान का स्वरूप निर्दिष्ट किया है। पात्र और कुपात्र दान का फल भी वर्णन किया है। इस सम्बंध में आचार्य कहते हैं पात्र दान वट के बीज की तरह होता है। पात्र दान से जीव सद्गति और मुक्ति का अधिकारी होता है।

पात्र दान के पश्चात् सम्यग्दर्शन की महिमा तथा मिथ्यात्व के त्याग की प्रेरणा प्रदान करते हुए रात्रि भोजन त्याग का व्यवहार-निश्चयात्मक स्वरूप तथा अंत में पानी छानकर पीने की विधि का वर्णन किया है।

इस प्रकार ज्ञान वैभव में दी गई गाथाओं में शुद्ध धर्म का स्वरूप, धर्म ध्यान की साधना, जिनागम के तीन लिंग और उनकी त्रेपन क्रियाओं के साथ-साथ सम्यक्त्व अर्थात् धर्म की श्रद्धा, अष्ट मूलगुणों का पालन, रत्नत्रय की साधना, तीन पात्रों को चार दान देना, रात्रि भोजन त्याग एवं जलगालन क्रिया इस प्रकार श्रावक की अठारह क्रियाओं का विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

अध्याय १ - श्री तारण तरण श्रावकाचार जी

(अ) शुद्ध धर्म का लक्षण एवं धर्म ध्यान के भेद

शुद्ध धर्म एवं धर्म का आराधन -

सुद्ध धर्मं च प्रोक्तं च, चेतना लष्यनो सदा ।
सुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन, धर्मं कर्म विमुक्तयं ।। १६८ ।।

अन्वयार्थ - (सुद्ध धर्मं च प्रोक्तं च) शुद्ध धर्म का स्वरूप कहते हैं **(चेतना लष्यनो सदा)** आत्मा का जो चैतन्य लक्षण स्वभाव है, वह [त्रिकाल शुद्ध ब्रह्म स्वरूपी ध्रुवतत्त्व है वही] **(सुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन)** शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से **(धर्मं)** धर्म है [और वह धर्म] **(कर्म विमुक्तयं)** सर्व कर्मों से रहित है।

धर्मं च आत्म धर्मं च, रत्नत्रयं मयं सदा ।
चेतना लष्यनो जेन, ते धर्मं कर्म विमुक्तयं ।। १६९ ।।

अन्वयार्थ - (धर्मं च आत्म धर्मं च) धर्म तो आत्म धर्म ही है **(रत्नत्रयं मयं सदा)** जो त्रिकाल रत्नत्रयमयी [अर्थात् सुख शान्ति आनंद से परिपूर्ण है] **(चेतना लष्यनो जेन)** जिसका चेतना लक्षण अर्थात् ज्ञानानंद स्वभाव है **(ते धर्मं कर्म विमुक्तयं)** वह धर्म, समस्त कर्मों से रहित है।

धर्म ध्यानं च आराध्यं, उवंकारं च स्थितं ।
ह्रींकारं श्रींकारं च, त्रि उवंकारं च संस्थितं ।। १७० ।।

अन्वयार्थ - [सम्यक्दृष्टि श्रावक] **(धर्म ध्यानं च आराध्यं)** धर्म ध्यान की आराधना करता है **(उवंकारं च स्थितं)** ओंकार स्वरूप की अनुभूति में स्थित होकर **(ह्रींकारं श्रींकारं च)** ह्रींकार और श्रींकार में **(त्रि उवंकारं च संस्थितं)** तीनों ॐ ह्रीं श्रींकार स्वरूप में स्थित होने की साधना करता है।

धर्म ध्यानं त्रिलोकं च, लोकालोकं च सास्वतं ।
कुन्यानं त्रि विनिर्मुक्तं, मिथ्या माया न दिस्टते ।। १७१ ।।

अन्वयार्थ - (धर्म ध्यानं त्रिलोकं च) धर्म ध्यान तीनों लोकों में श्रेष्ठ है [इसके द्वारा] **(लोकालोकं च सास्वतं)** लोकालोक में जो शाश्वत आत्म तत्त्व है वह जानने में आता है [जिसके जानने से जीव] **(कुन्यानं त्रि विनिर्मुक्तं)** तीनों प्रकार के कुज्ञान से मुक्त हो जाता है **(मिथ्या माया न दिस्टते)** फिर वहाँ मिथ्या माया आदि शल्य दिखाई नहीं देतीं।

उत्तम षिमा उत्पाद्यंते, उत्तम तत्त्व प्रकासकं ।
ममलं अप्प सद्भावं, उत्तम धर्मं च निस्चयं ।। १७२ ।।

अन्वयार्थ - [सम्यक्त्वी श्रावक को धर्म ध्यान की आराधना के द्वारा] **(उत्तम षिमा उत्पाद्यंते)** उत्तम क्षमा धर्म उत्पन्न हो जाता है **(उत्तम तत्त्व प्रकासकं)** [धर्म ध्यान] उत्तम तत्त्व का प्रकाशक है [सम्यक्दृष्टि को] **(ममलं अप्प सद्भावं)** अपना ममल आत्म स्वभाव दिखाई देने लगता है **(उत्तम धर्मं च निस्चयं)** निश्चय से यही उत्तम धर्म है।

मिथ्या समय मिथ्या च, रागादि मल विवर्जितं ।
असत्यं अनृतं न दिस्टंते, ममलं धर्म सदा बुधैः ।। १७३ ।।

अन्वयार्थ - **(मिथ्या समय मिथ्या)** मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व **(च)** और **(रागादि मल विवर्जितं)** राग-द्वेषादि मलों से रहित **(बुधैः)** सम्यक्दृष्टि ज्ञानी को **(असत्यं अनृतं न दिस्टंते)** नाशवान, क्षणभंगुर, अशुद्ध पर्यायें दिखाई नहीं देतीं **(ममलं धर्म सदा)** हमेशा ममल धर्म अनुभव में आता है।

धर्मं उत्तम धर्मं च, मिथ्या रागादि षंडितं ।
चेतनाचेतनं द्रव्यं, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।। १७४ ।।

अन्वयार्थ - **(धर्मं उत्तम धर्मं च)** धर्म और उत्तम धर्म वह है जो **(मिथ्या रागादि षंडितं)** मिथ्या रागादि भावों को खण्डित करने वाला है [अर्थात् समूल नष्ट कर देने वाला है] **(चेतनाचेतनं द्रव्यं)** चेतन-अचेतन द्रव्य जीव और पुद्गल को भिन्न-भिन्न देखने जानने वाला है **(सुद्ध तत्त्व प्रकासकं)** शुद्ध तत्त्व का प्रकाश करने वाला [अर्थात् वस्तु स्वरूप को यथार्थ प्रकाशित करने वाला] है।

धर्मं अर्थ तिअर्थं च, तिअर्थ वेदंति जत्पुनः ।
षट् कमलं त्रि उवंकारं, धर्म ध्यानं च जोइतं ।। १७५ ।।

अन्वयार्थ - **(धर्मं अर्थ तिअर्थं च)** धर्म अर्थात् निज शुद्ध स्वभाव रत्नत्रयमयी है **(तिअर्थ वेदंति जत्पुनः)** और द्रव्य गुण पर्याय सहित अपने विंद स्वरूप अर्थात् भावमोक्ष मय है **(षट् कमलं त्रि उवंकारं)** छह कमल अर्थात् गुप्तकमल, नाभिकमल, हृदयकमल, कंठकमल या मुखकमल और विंद कमल तथा तीन ओंकार अर्थात् उवंकार ह्रियंकार श्रियंकार के द्वारा **(धर्म ध्यानं च जोइतं)** धर्म ध्यान की साधना करो।

धर्मं च अप्प सद्भावं, मिथ्या माया निकंदनं ।
सुद्ध तत्त्वं च आराध्यं, ह्रींकारं न्यान मयं ध्रुवं ।। १७६ ।।

अन्वयार्थ - **(धर्मं च अप्प सद्भावं)** आत्म स्वभाव ही धर्म है [जो] **(मिथ्या माया निकंदनं)** मिथ्या माया आदि से परे है [उसमें यह कुछ नहीं है] **(सुद्ध तत्त्वं च आराध्यं)** ऐसे अपने शुद्ध तत्त्व की आराधना करो जो **(ह्रींकारं न्यान मयं ध्रुवं)** अरिहन्त सर्वज्ञ तीर्थंकर स्वरूप ज्ञानमयी ध्रुव है।

धर्म ध्यान के चार भेद -

पदस्तं पिंडस्तं जेन, रूपस्तं विक्त रूपयं ।
चतु ध्यानं च आराध्यं, सुद्धं संमिक दर्सनं ।। १७७ ।।

अन्वयार्थ - **(जेन)** जो जीव **(सुद्धं संमिक दर्सनं)** शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी है, वह **(पदस्तं पिंडस्तं)** पदस्थ, पिंडस्थ **(रूपस्तं विक्त रूपयं)** रूपस्थ और रूपातीत **(चतु ध्यानं च आराध्यं)** इन चार ध्यानों की साधना करता है।

पदस्तं पद वेदंते, अर्थ शब्दार्थ सास्वतं ।
व्यंजनं तत्त्व सार्धं च, पदस्तं तत्र संजुतं ।। १७८ ।।

अन्वयार्थ - **(पदस्तं पद वेदंते)** पद का अनुभव करना पदस्थ ध्यान है **(व्यंजनं)** व्यंजन **(अर्थ शब्दार्थ)** शब्द और अर्थ के द्वारा प्रयोजनीय **(सास्वतं)** शाश्वत **(तत्त्व सार्धं च)** शुद्धात्म तत्त्व की साधना करना और **(पदस्तं तत्र संजुतं)** उसी में लीन हो जाना पदस्थ ध्यान है।

कुन्यानं त्रि न पस्यंते, छाया मिथ्या विषंडितं ।
विंजनं च पदार्थं च, सार्धं न्यान मयं धुवं ।। १७९ ।।

अन्वयार्थ - **(कुन्यानं त्रि न पस्यंते)** जहाँ तीन कुज्ञान अर्थात् कुमति, कुश्रुत, कुअवधि दिखाई नहीं देते **(छाया मिथ्या विषंडितं)** जहाँ मिथ्यात्व की छाया का भी खण्डन हो गया हो [अर्थात् जहाँ यह कुछ न हों] **(विंजनं च पदार्थं च)** वहाँ व्यंजन और पदार्थ के द्वारा अपने **(सार्धं न्यान मयं धुवं)** ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना करना पदस्थ ध्यान है।

पदस्तं सुद्ध पदं सार्धं, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।
सल्यं त्रयं निरोधं च, माया मिथ्या न दिस्टते ।। १८० ।।

अन्वयार्थ - **(पदस्तं सुद्ध पदं सार्धं)** पदस्थ ध्यान में शुद्ध पद निज शुद्धात्म स्वरूप की साधना करने से **(सुद्ध तत्त्व प्रकासकं)** शुद्ध तत्त्व का प्रकाश होता है [अर्थात् शुद्ध तत्त्व अनुभव में आता है जिससे] **(सल्यं त्रयं निरोधं च)** तीनों शल्यों [मिथ्या, माया, निदान] का निरोध हो जाता है **(माया मिथ्या न दिस्टते)** वहाँ मिथ्यात्व एवं मायाचारी दिखाई नहीं देती।

पदस्तं लोकलोकांतं, लोकालोक प्रकासकं ।
विंजनं सास्वतं सार्धं, उवंकारं च विंदते ।। १८१ ।।

अन्वयार्थ - **(पदस्तं लोकलोकांतं)** पदस्थ ध्यान करने से लोकलोकांत और **(लोकालोक प्रकासकं)** लोकालोक प्रकाशित हो जाते हैं, [अर्थात् जानने में आ जाते हैं] **(विंजनं सास्वतं सार्धं)** व्यजनों के माध्यम से अपने शाश्वत पद की साधना करने से **(उवंकारं च विंदते)** अपना ॐकार स्वरूप शुद्धात्म तत्त्व अनुभव में आता है।

अंग पूर्वं च जानंते, पदस्तं सास्वतं पदं ।
अनृतं अचेत तिक्तं च, धर्म ध्यान पदं धुवं ।। १८२ ।।

अन्वयार्थ - [जो] **(अनृतं अचेत तिक्तं)** क्षणभंगुर अचैतन्य पदार्थों का त्याग कर **(धर्म ध्यान पदं धुवं)** धर्म ध्यान में अविनाशी पद का ध्यान करते हैं **(च)** और **(पदस्तं सास्वतं पदं)** पदस्थ ध्यान में शाश्वत पद को ध्याते हैं [वे ज्ञानी] **(अंग पूर्वं च जानंते)** ग्यारह अंग और चौदह पूर्व को जानते हैं।

पिंडस्तं न्यान पिंडस्य, स्वात्मचिंता सदा बुधैः ।
निरोधनं असत्य भावस्य, उत्पाद्यं सास्वतं पदं ।। १८३ ।।

अन्वयार्थ - **(पिंडस्तं न्यान पिंडस्य)** ज्ञान पिंड आत्मा में स्थित होना पिंडस्थ ध्यान है **(स्वात्मचिंता सदा बुधैः)** जो ज्ञानी साधक हमेशा अपने आत्मा का चिन्तवन करते हैं [उनके] **(निरोधनं असत्य भावस्य)** असत्य भावों का निरोध होता है [अर्थात् शुभाशुभ भाव उत्पन्न नहीं होते, वे] **(उत्पाद्यं सास्वतं पदं)** अपने शाश्वत पद को उत्पन्न कर लेते हैं।

आत्म सद्भाव आरक्तं, पर द्रव्यं न चिंतये ।
न्यान मयो न्यान पिंडस्य, चेतयंति सदा बुधैः ।। १८४ ।।

अन्वयार्थ - **(आत्म सद्भाव आरक्तं)** आत्म स्वभाव में लीन रहने से **(पर द्रव्यं न चिंतये)** पर

द्रव्य का चिन्तन नहीं होता [स्मरण नहीं आता] **(न्यान मयो न्यान पिंडस्य)** ज्ञानमयी ज्ञान का पिंड जो निज शुद्धात्मा है **(चेतयंति सदा बुधैः)** ज्ञानीजन हमेशा इसका चिन्तवन, आराधन करते हैं।

रूपस्तं सर्व चिद्रूपं, आर्ध ऊर्ध च मध्ययं ।
सुद्ध तत्त्व स्थिरी भूतं, ह्रींकारेन जोइतं ।। १८५ ।।

अन्वयार्थ - **(सर्व चिद्रूपं)** चित्स्वरूप का ध्यान करना, स्वरूप में स्थित होना **(आर्ध ऊर्ध च मध्ययं)** अधो ऊर्ध्व और मध्य तीनों लोकों को जानने वाले **(ह्रींकारेन)** तीर्थंकर सर्वज्ञ स्वरूप **(सुद्ध तत्त्व स्थिरी भूतं)** अपने शुद्ध तत्त्व में ठहर कर **(जोइतं)** संजोना, लीन होना **(रूपस्तं)** रूपस्थ ध्यान है ।

चिद्‌रूपं सर्व चिद्रूपं, धर्म ध्यानं च निस्चयं ।
मिथ्यात राग मुक्तं च, ममलं निर्मलं धुवं ।। १८६ ।।

अन्वयार्थ - **(चिद्‌रूपं सर्व चिद्रूपं)** सर्व प्रकार से जहाँ चैतन्य ही चैतन्य प्रकाशमान हो रहा है **(धर्म ध्यानं च निस्चयं)** यही निश्चय धर्म ध्यान है **(मिथ्यात राग मुक्तं च)** जो मिथ्यात्व और रागादि से रहित **(ममलं निर्मलं धुवं)** ममल, निर्मल और ध्रुव है।

रूपस्तं अर्हंत रूपेन, ह्रींकारेन दिस्टते ।
उवंकारस्य ऊर्धस्य, ऊर्ध च सुद्धं धुवं ।। १८७ ।।

अन्वयार्थ - **(रूपस्तं अर्हंत रूपेन)** आत्मा अरिहंत स्वरूप है ऐसा ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है [रूपस्थ ध्यान में साधक अपने स्वरूप को] **(ह्रींकारेन दिस्टते)** केवलज्ञानमयी परमात्मा के समान अनुभव करता है **(उवंकारस्य ऊर्धस्य)** उवंकारमयी ऊर्ध्वगामी स्वभाव है **(ऊर्ध च सुद्धं धुवं)** ऐसे श्रेष्ठ शुद्ध ध्रुव स्वभाव का चिंतन अनुभवन करना रूपस्थ ध्यान है।

रूपातीत विक्त रूपेन, निरंजनं न्यान मयं धुवं ।
मति श्रुत अवधिं दिस्टा, मनपर्जय केवलं धुवं ।। १८८ ।।

अन्वयार्थ - **(रूपातीत विक्त रूपेन)** समस्त रूपों से अतीत और अपने स्वरूप से प्रगट **(निरंजनं न्यान मयं धुवं)** सर्व कर्म मलों से रहित ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव में स्थित होना रूपातीत ध्यान है [इस ध्यान में] **(मति श्रुत अवधिं दिस्टा, मनपर्जय केवलं धुवं)** पंच ज्ञानमयी अविनाशी ध्रुव स्वभाव अखंड रूप से अनुभूति में वर्तता है।

अनंत दर्सनं न्यानं, वीर्जं नंत सौष्ययं ।
सर्वन्यं सुद्ध द्रव्यार्थं, सुद्धं संमिक दर्सनं ।। १८९ ।।

अन्वयार्थ - **(अनंत दर्सनं न्यानं)** अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान **(वीर्जं नंत सौष्ययं)** अनंत वीर्य और अनंत सुखमयी **(सर्वन्यं सुद्ध द्रव्यार्थं)** सर्वज्ञ स्वरूप निज आत्म तत्त्व शुद्ध द्रव्य है **(सुद्धं संमिक दर्सनं)** ऐसा देखना शुद्ध सम्यग्दर्शन है यही रूपातीत ध्यान है।

सम्यक्‌दृष्टि की विशेषता -

प्रतिपूर्नं सुद्ध धर्मस्य, असुद्धं मिथ्या तिक्तयं ।
सुद्ध संमिक संसुद्धं, सार्धं संमिक दिस्टितं ।। १९० ।।

अन्वयार्थ - **(प्रतिपूर्नं सुद्ध धर्मस्य)** शुद्ध धर्म का, निज शुद्ध स्वभाव का जिसे परिपूर्ण श्रद्धान हो

गया और जिसकी **(असुद्ध मिथ्या तिक्तयं)** अशुद्ध मिथ्या मान्यता छूट गई है वह **(सुद्ध संमिक संसुद्धं)** परम शुद्ध निज शुद्धात्मा की **(सार्धं संमिक दिस्टितं)** साधना में रत सम्यक्दृष्टि है।

देव गुरु धर्म सुद्धस्य, सार्धं न्यान मयं धुवं ।
मिथ्या त्रिविध मुक्तं च, संमिक्तं सुद्धं धुवं ।। १९१ ।।

अन्वयार्थ - [सम्यक्दृष्टि श्रावक] **(देव गुरु धर्म सुद्धस्य)** सच्चे देव गुरु धर्म का **(सार्धं न्यान मयं धुवं)** तथा अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव का श्रद्धान करता है **(मिथ्या त्रिविध मुक्तं च)** वह तीन प्रकार के मिथ्यात्व से मुक्त हो जाता है और **(संमिक्तं सुद्धं धुवं)** अपने शुद्ध सम्यक्त्व ध्रुव स्वभाव में रहता है।

देव देवाधिदेवं च, गुरु ग्रंथं च मुक्तयं ।
धर्मं सुद्ध चैतन्यं, सार्धं संमिक्तं धुवं ।। १९२ ।।

अन्वयार्थ - (देव देवाधिदेवं च) देवों का अधिपति देव इन्द्र और इन्द्रों के द्वारा पूज्यनीय जो देव अरिहंत सिद्ध परमात्मा **(गुरु ग्रंथं च मुक्तयं)** गुरु जो सब ग्रन्थि अर्थात् परिग्रह के बंधनों से मुक्त हो गये **(धर्मं सुद्ध चैतन्यं)** धर्म जो अपना शुद्ध चैतन्य स्वरूप है **(सार्धं संमिक्तं धुवं)** सम्यक्दृष्टि ऐसे ध्रुव स्वभाव की साधना करता है।

संमिक्तं जस्य जीवस्य, दोषं तस्य न पस्यते ।
न तु संमिक्त हीनस्य, संसारे भ्रमनं सदा ।। १९३ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक्त जस्य जीवस्य) जिस जीव को सम्यक्त्व हो गया है **(दोषं तस्य न पस्यते)** उसमें शंकादि पच्चीस दोष नहीं दिखते **(न तु संमिक्त हीनस्य)** यदि कोई दोष दिखाई देते हैं, तो वह सम्यक्त्व से हीन है **(संसारे भ्रमनं सदा)** वह हमेशा संसार में ही भ्रमण करेगा।

संमिक्त जस्य हृदयं सार्धं, व्रत तप क्रिया संजुतं ।
सुद्ध तत्त्वं च आराध्यं, मुक्ति गामी न संसयः ।। १९४ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक्त जस्य हृदयं सार्धं) जिसके हृदय में सच्चा श्रद्धान है **(व्रत तप क्रिया संजुतं)** तथा जो व्रत तप क्रिया सहित **(सुद्ध तत्वं च आराध्यं)** शुद्ध आत्मीक तत्त्व का आराधन करता है **(मुक्ति गामी न संसयः)** वह मुक्तिगामी है अवश्य मोक्ष जायेगा इसमें कोई संशय नहीं है।

(ब) तीन लिंग और उनकी त्रेपन क्रियाएँ

अंतरात्मा सम्यक्दृष्टि के तीन लिंग -

लिंगं च जिनं प्रोक्तं, त्रिय लिंग जिनागमं ।
उत्तम मध्यम जधन्यं च, क्रिया त्रेपन संजुतं ।। १९५ ।।

अन्वयार्थ - (लिंगं च जिनं प्रोक्तं) जिनेन्द्र परमात्मा ने लिंग अथवा पात्र कहे हैं **(त्रिय लिंग जिनागमं)** तीन लिंग जिनागम में मुक्ति मार्ग पर चलने वालों के बताये हैं **(उत्तम मध्यम जघन्यं च)** जो उत्तम, मध्यम और जघन्य **(क्रिया त्रेपन संजुतं)** त्रेपन क्रिया सहित होते हैं।

उत्तमं जिन रूवी च, मध्यमं च मति श्रुतं ।
जघन्यं तत्त्व सार्धं च, अविरतं संमिक दिस्टितं ।। १९६ ।।

अन्वयार्थ - (उत्तमं जिन रूवी च) उत्तम पात्र जिनेन्द्र परमात्मा जैसे रूपवाला **(मध्यमं च मति श्रुतं)** मध्यम जो मति श्रुत ज्ञानधारी श्रावक हैं **(जघन्यं तत्त्व सार्धं च)** और जघन्य जो तत्त्व का श्रद्धानी **(अविरतं संमिक दिस्टितं)** अविरत सम्यक्दृष्टि है।

लिंगं त्रिविधं उक्तं, चतुर्थ लिंग न उच्यते ।
जिन सासने प्रोक्तं च, संमिक दिस्टि विसेषतं ।। १९७ ।।

अन्वयार्थ - (जिन सासने च) जिन शासन और जिनवाणी में **(लिंगं त्रिविधं उक्तं, चतुर्थ लिंग न उच्यते)** लिंग तीन प्रकार के कहे गए हैं, चौथा लिंग नहीं कहा गया **(संमिक दिस्टि विसेषतं)** इनमें सम्यग्दर्शन और सम्यक्दृष्टि की विशेषता **(प्रोक्तं)** कही गई है।

जघन्यं अव्रत नामं च, जिन उक्तं जिनागमं ।
सार्धं न्यान मयं सुद्धं, दस अष्ट क्रिया संजुतं ।। १९८ ।।

अन्वयार्थ - (जघन्यं अव्रत नामं च) जघन्य लिंग अव्रत नाम का **(जिन उक्तं जिनागमं)** जिनेन्द्र भगवान ने जिनागम में कहा है **(सार्धं न्यान मयं सुद्धं)** जो अपने ज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान करता है **(दस अष्ट क्रिया संजुतं)** और अठारह क्रियाओं सहित होता है।

जघन्य लिंग की अठारह एवं शेष ३५ - कुल ५३ क्रियाओं का वर्णन -

संमिक्तं सुद्ध धर्मस्य, मूल गुनस्य उच्यते ।
दानं चत्वारि पात्रं च, सार्धं न्यान मयं धुवं ।। १९९ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक्तं सुद्ध धर्मस्य) शुद्ध धर्म का श्रद्धानी **(मूल गुनस्य उच्यते)** जो मूलगुण कहे गये हैं [उनका पालन करता है और] **(दानं चत्वारि पात्रं च)** चार प्रकार के दान पात्रों को देता है **(सार्धं न्यान मयं धुवं)** तथा अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना करता है।

दर्सन न्यान चारित्रं, विसेषितं गुन पर्जयं ।
अनस्तमितं सुद्ध भावस्य, फासू जल जिनागमं ।। २०० ।।

अन्वयार्थ - (दर्सन न्यान चारित्रं) सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की **(विसेषितं गुन पर्जयं)** गुण पर्याय की विशेषता से साधना करता है **(अनस्तमितं सुद्ध भावस्य)** सूर्यास्त होने के दो घड़ी (४८ मिनिट) पूर्व भोजन करना भावों की विशुद्धता में कारण बनता है और वह **(फासू जल जिनागमं)** जिनागम में बताये अनुसार प्रासुक जल ग्रहण करता है।

एतत् क्रिया संजुक्तं, सुद्ध संमिक्त धारना ।
प्रतिमा व्रत तपस्चैव, भावना कृत सार्धयं ।। २०१ ।।

अन्वयार्थ - (एतत् क्रिया संजुक्तं) इस प्रकार अठारह क्रियाओं सहित **(सुद्ध संमिक्त धारना)** शुद्ध सम्यक्त्वधारी **(प्रतिमा व्रत तपस्चैव)** ग्यारह प्रतिमा, बारह व्रत और बारह तप की **(भावना कृत सार्धयं)** साधना करने की भावना करता है।

(स) सम्यक्त्व की महिमा

अठारह क्रियाओं में प्रथम सम्यक्त्व का स्वरूप -

अन्या संमिक्त संमिक्तं, भाव वेदक उपसमं ।
क्षायिकं सुद्ध भावस्य, संमिक्तं सुद्धं ध्रुवं ।। २०२ ।।

अन्वयार्थ - (अन्या संमिक्त संमिक्तं) सम्यक्त्व कोई सा भी हो, आज्ञा सम्यक्त्व **(भाव वेदक उपसमं)** उपशम सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व तथा **(क्षायिकं सुद्ध भावस्य)** क्षायिक सम्यक्त्व या शुद्ध स्वभाव की अनुभूति रूप **(संमिक्तं सुद्धं ध्रुवं)** शुद्ध सम्यक्त्व जो शुद्ध है ध्रुव है।

उपादेय गुण पदवी च, सुद्ध संमिक्त भावना ।
पदवी चत्वारि सार्धं च, जिन उक्तं सुद्ध दिस्टितं ।। २०३ ।।

अन्वयार्थ - (उपादेय गुण पदवी च) जो गुण और पदवी को उपादेय मानता है **(सुद्ध संमिक्त भावना)** शुद्ध सम्यक्त्व की भावना रखता है **(पदवी चत्वारि सार्धं च)** चार पदवी और प्रगट करने की साधना करता है **(जिन उक्तं सुद्ध दिस्टितं)** जिनेन्द्र भगवान कहते हैं वह शुद्ध दृष्टि है।

मति न्यानं च उत्पादंते, कमलासने कंठ स्थितं ।
उवंकारं सार्धं च, तिअर्थं सार्धं ध्रुवं ।। २०४ ।।

अन्वयार्थ - (मति न्यानं च उत्पादंते) जिस जीव को सुमति ज्ञान उत्पन्न हो गया है **(कमलासने कंठ स्थितं)** उसके कंठ कमल आसन में स्थित सरस्वती स्वरूप सुबुद्धि का जागरण हो गया **(उवंकारं सार्धं च)** और जो ऊंकार स्वरूप की साधना में रत है **(तिअर्थं सार्धं ध्रुवं)** वह अपने रत्नत्रयमयी ध्रुव तत्त्व का श्रद्धानी है।

कुन्यानं त्रि विनिर्मुक्तं, छाया मिथ्या तिक्तयं ।
उवं ह्रियं श्रियं सुद्धं, सार्धं न्यान पंचमं ।। २०५ ।।

अन्वयार्थ - (कुन्यानं त्रि विनिर्मुक्तं) जो तीनों प्रकार के कुज्ञान से बिल्कुल मुक्त हो गया है **(छाया मिथ्या तिक्तयं)** जिसकी मिथ्यात्व की छाया भी छूट गई है [अर्थात् मिथ्यात्व की छाया भी दिखाई नहीं देती] **(उवं ह्रियं श्रियं सुद्धं)** वह ॐ ह्रीं श्रीं स्वरूप शुद्ध **(सार्धं न्यान पंचमं)** पंचमज्ञान अर्थात् केवलज्ञान की साधना करता है।

देवं गुरुं धर्म सुद्धस्य, सुद्ध तत्त्व सार्धं ध्रुवं ।
संमिक दिस्टि सुद्धं च, संमिक्तं संमिक दिस्टितं ।। २०६ ।।

अन्वयार्थ - (देवं गुरुं धर्म सुद्धस्य) जो सच्चे देव गुरु धर्म स्वरूप **(सुद्ध तत्त्व सार्धं ध्रुवं)** अपने शुद्धात्म तत्त्व ध्रुव स्वभाव की साधना करता है **(संमिक दिस्टि सुद्धं च)** वह शुद्ध सम्यक्दृष्टि है **(संमिक्तं संमिक दिस्टितं)** और वह सम्यक्दृष्टि यथार्थ दृष्टि से देखता है।

संमिक्तं जस्य सुद्धं च, व्रत तप संजमं सदा ।
अनेय गुन तिस्टंते, संमिक्तं सार्धं बुधै ।। २०७ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक्तं जस्य सुद्धं च) जिसको शुद्ध सम्यक्त्व है वह **(व्रत तप संजमं सदा)**

हमेशा व्रत तप संयम की भावना रखता है **(अनेय गुन तिस्टंते)** इससे उसमें अनेक गुण आ जाते हैं अर्थात् प्रगट हो जाते हैं **(संमिक्तं सार्धं बुधै)** ज्ञानीजन सम्यक्त्व के श्रद्धान सहित साधना करते हैं।

जस्य संमिक्त हीनस्य, उग्रं तव व्रत संजुतं ।
संजम क्रिया अकार्जं च, मूल बिना वृक्षं जथा ।। २०८ ।।

अन्वयार्थ – (जस्य संमिक्त हीनस्य) जो सम्यक्त्व से हीन है अर्थात् सम्यग्दर्शन से रहित है यदि **(उग्रं तव व्रत संजुतं)** वह उग्र अर्थात् घोर तप करता हुआ व्रत सहित है **(संजम क्रिया अकार्जं च)** संयम सदाचार की क्रिया करता है तब भी वह सब अकार्यकारी है [अर्थात् कोई कार्यकारी नहीं है] **(मूल बिना वृक्षं जथा)** जैसे – बिना जड़ के वृक्ष।

संमिक्तं जस्य मूलस्य, साहा व्रत डाल नंतनंताई ।
अवरेवि गुणा होंति, संमिक्तं जस्य हिृदयस्य ।। २०९ ।।

अन्वयार्थ – (संमिक्तं जस्य मूलस्य) जिसके मूल में सम्यक्त्व है **(साहा व्रत डाल नंतनंताई)** उसके धर्म वृक्ष की शाखा डाल में व्रत रूपी अनंत पत्ते उत्पन्न होते हैं **(संमिक्तं जस्य हिृदयस्य)** जिसके हृदय में सम्यक्त्व होता है उसके **(अवरेवि गुणा होंति)** अन्य दूसरे गुण भी प्रगट हो जाते हैं ।

संमिक्त बिना जीवा, जानै अंगाई श्रुत बहुभेयं ।
अनेयं व्रत चरनं, मिथ्या तप वाटिका जीवो ।। २१० ।।

अन्वयार्थ – (संमिक्त बिना जीवा) सम्यक्त्व के बिना जीव **(जानै अंगाई श्रुत बहुभेयं)** ग्यारह अंग नौ पूर्व तक बहुत प्रकार शास्त्रों को जाने **(अनेयं व्रत चरनं)** तथा अनेक व्रतों का आचरण करे **(मिथ्या तप बाटिका जीवो)** यह सब उस जीव का मिथ्या तप का बगीचा लगाना है।

सुद्ध संमिक्त उक्तं च, रत्नत्रयं संजुतं ।
सुद्ध तत्त्वं च सार्धं च, संमिक्ती मुक्ति गामिनो ।। २११ ।।

अन्वयार्थ – (सुद्ध संमिक्त उक्तं च) शुद्ध सम्यक्त्व उसे कहते हैं **(रत्नत्रयं संजुतं)** जो रत्नत्रय संयुक्त है [अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र सहित हो] **(सुद्ध तत्त्वं च सार्धं च)** और शुद्धात्म तत्त्व का श्रद्धानी हो **(संमिक्ती मुक्ति गामिनो)** ऐसा सम्यक्त्वी जीव मोक्षगामी होता है।

संमिक्तं जस्य तिक्तं च, अनेय विभ्रम जे रता ।
मिथ्या मय मूढ़ दिस्टी च, संसारे भ्रमनं सदा ।। २१२ ।।

अन्वयार्थ – (संमिक्तं जस्य तिक्तं च) जिस जीव को सम्यक्त्व नहीं है **(अनेय विभ्रम जे रता)** जो अनेक विभ्रम, संशय, शंका भय आदि में रत है **(मिथ्या मय मूढ़ दिस्टी च)** वह मिथ्यात्वी, मूढ़ दृष्टि बहिरात्मा है **(संसारे भ्रमनं सदा)** वह हमेशा संसार में ही भ्रमण करेगा।

संमिक्तं जेन उत्पादंते, सुद्ध धर्म रतो सदा ।
दोषं तस्य न पस्यंते, रजनी उदय भास्करं ।। २१३ ।।

अन्वयार्थ – (संमिक्तं जेन उत्पादंते) जिनको सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है **(सुद्ध धर्म रतो सदा)** वे हमेशा शुद्ध धर्म [अर्थात् निज शुद्धात्म स्वरूप] में ही रत रहते हैं **(दोषं तस्य न पस्यंते)** उनके कोई

शंकादि दोष दिखाई नहीं देते [सब विला जाते हैं] **(रजनी उदय भास्करं)** जैसे सूर्य के प्रकाश होते ही रात्रि विला जाती है।

संमिक्तं जस्य न पस्यंते, अंध एव मूढं त्रयं ।
कुन्यानं पटलं जस्य, कोसी उदय भास्करं ।। २१४ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक्तं जस्य न पस्यंते) जिसको सम्यक्त्व दिखाई नहीं देता अर्थात् जिसे आत्म स्वरूप का श्रद्धान नहीं है **(अंध एव मूढं त्रयं)** वह तीन मूढ़ताओं से अंधा है **(कुन्यानं पटलं जस्य)** उसके ऊपर कुज्ञान का पटल अर्थात् परदा पड़ा है [उसकी दशा वैसी ही हो रही है जैसे] **(कोसी उदय भास्करं)** कुसयारे कीड़े को सूर्य का प्रकाश दिखाई नहीं देता।

संमिक्तं जस्य सूवंते, श्रुत न्यान विचष्यनं ।
न्यानेन न्यान उत्पादंते, लोकालोकस्य पस्यते ।। २१५ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक्तं जस्य सूवंते) जहाँ सम्यक्त्व परिणमन कर रहा है **(श्रुत न्यान विचष्यनं)** विलक्षण श्रुत ज्ञान चल रहा है **(न्यानेन न्यान उत्पादंते)** वहाँ ज्ञान से ज्ञान बढ़ता है और वहाँ **(लोकालोकस्य पस्यते)** लोकालोक को देखने जानने वाला केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

संमिक्तं जस्य न पस्यंते, असार्धं व्रत संजमं ।
ते नरा मिथ्या भावेन, जीवितोपि मृतं भवेत् ।। २१६ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक्तं जस्य न पस्यंते) जिसे अपने आत्म स्वरूप की अनुभूति नहीं हुई **(असार्धं व्रत संजमं)** और जो व्रत संयम का अश्रद्धानी है **(ते नरा मिथ्या भावेन)** वह मनुष्य मिथ्या भावना में रत **(जीवितोपि मृतं भवेत्)** जीता हुआ भी मृतक के समान है।

उदयं संमिक्त हृदयं जस्य, त्रिलोकं मुदमं सदा ।
कुन्यानं राग तिक्तं च, मिथ्या माया विलीयते ।। २१७ ।।

अन्वयार्थ - (उदयं संमिक्त हृदयं जस्य) जिसके हृदय में सम्यक्त्व का उदय हो गया है [अर्थात् जिसे निज शुद्धात्मानुभूति हो गई है] **(त्रिलोकं मुदमं सदा)** वह तीन लोक में हमेशा प्रसन्न आनंदमय रहता है **(कुन्यानं राग तिक्तं च)** उसका कुज्ञान जनित राग छूट जाता है **(मिथ्या माया विलीयते)** और मिथ्या माया भी विला जाती है।

संमिक्त सहित नरयम्मि, संमिक्त हीनो न चक्रियं ।
संमिक्तं मुक्ति मार्गस्य, हीन संमिक्त निगोदयं ।। २१८ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक्त सहित नरयम्मि) सम्यग्दर्शन सहित नरक में रहना अच्छा है **(संमिक्त हीनो न चक्रियं)** सम्यक्त्व से हीन चक्रवर्ती होना भी लाभकारी नहीं है **(संमिक्तं मुक्ति मार्गस्य)** सम्यग्दर्शन ही मुक्ति का मार्ग है **(हीन संमिक्त निगोदयं)** सम्यक्त्व हीन निगोद का मार्ग है।

संमिक्त संजुत्त पात्रस्य, ते उत्तमं सदा बुधै ।
हीन संमिक्त कुलीनस्य, अकुली अपात्र उच्यते ।। २१९ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक्त संजुत्त पात्रस्य) सम्यक्त्व से युक्त कोई भी पात्र जीव हो **(ते उत्तमं सदा**

बुधै) वे सदा श्रेष्ठ होते हैं **(हीन संमिक्त कुलीनस्य)** यदि कोई बड़े घर का, उच्च कुल का भी हो और सम्यक्त्व से हीन है तो **(अकुली अपात्र उच्यते)** वह कुलहीन अपात्र कहा जाता है।

तिअर्थं संमिक्तं सार्धं, तीर्थंकर नाम सुद्धये ।
कर्मं षिपति त्रिविधं च, मुक्ति पंथ सिद्धं धुवं ।। २२० ।।

अन्वयार्थ - (तिअर्थं संमिक्तं सार्धं) सम्यक्त्व सहित जो रत्नत्रय की साधना करता है **(तीर्थंकर नाम सुद्धये)** वह शुद्ध होता है और तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति को बांधता है **(मुक्ति पंथ सिद्धं धुवं)** मोक्षमार्ग में चलते हुए सिद्ध ध्रुव स्वभाव में लीन होकर **(कर्मं षिपति त्रिविधं च)** तीनों प्रकार के कर्मों को क्षय कर देता है।

संमिक्तं जस्य चिंतंते, बारंबारेन सार्धयं ।
दोषं तस्य विनस्यंति, सिंघ मतंग जूथयं ।। २२१ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक्तं जस्य चिंतंते) जो जीव सम्यक्त्व का अर्थात् अपने शुद्धात्म स्वरूप का चिन्तवन और **(बारंबारेन सार्धयं)** बारम्बार उसी की साधना करते हैं **(दोषं तस्य विनस्यंति)** उनके [सम्यक्त्व संबंधी] सारे दोष विनश जाते हैं **(सिंघ मतंग जूथयं)** जैसे-सिंह को देखकर हाथियों के झुण्ड तितर-बितर होकर भाग जाते हैं।

संमिक्तं सुद्ध धुवं सार्धं, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।
तिअर्थं सुद्ध संपूर्नं, संमिक्तं सास्वतं पदं ।। २२२ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक्त सुद्ध धुवं सार्धं) सम्यक्त्व से शुद्ध होकर जो अपने ध्रुव स्वभाव की साधना करता है **(सुद्ध तत्त्व प्रकासकं)** शुद्ध तत्त्व का प्रकाश करता है [वह] **(तिअर्थं सुद्ध संपूर्नं)** रत्नत्रय से संपूर्ण शुद्ध होकर **(संमिक्तं सास्वतं पदं)** वह सम्यक्त्वी जीव अविनाशी शाश्वत पद को प्राप्त करता है।

जस्य हृदयं संमिक्तस्य, उदयं सास्वतं स्थिरं ।
तस्य गुनस्य नाथस्य, असक्य गुण अनंतयं ।। २२३ ।।

अन्वयार्थ - (जस्य हृदयं) जिसके हृदय में **(शाश्वत स्थिरं)** शाश्वत स्थिर **(संमिक्तस्य)** सम्यक्त्व का **(उदयं)** उदय हो जाता है अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है **(तस्य गुनस्य नाथस्य)** वह गुणों का नाथ हो जाता है **(असक्य गुण अनंतयं)** फिर उसके अनन्त गुण प्रगट हो जाते हैं।

संमिक्तं दिस्टते जेन, उदयं त्रि भुवनत्रयं ।
लोकालोक त्रिलोकं च, आलबाले मुषं जथा ।। २२४ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक्तं दिस्टते जेन) जिसको सम्यक्त्व अर्थात् निज शुद्धात्मा का अनुभव होता है उसे **(उदयं त्रि भुवनत्रयं)** तीनों लोकों को जानने वाले ज्ञान का उदय हो जाता है **(लोकालोक त्रिलोकं च)** उसमें लोकालोक और त्रिलोक ऐसे दिखाई देने लगते हैं जैसे **(आलबाले मुषं जथा)** निर्मल जल में मुख दिखाई देता है।

(द) अष्ट मूलगुण एवं रत्नत्रय की साधना

अष्टमूलगुणों का स्वरूप -

मूलगुनं च उत्पादंते, फलं पंच न दिस्टते ।
बड़ पीपल पिलषुनी च, पाकर उदंबरस्तथा ।। २२५ ।।

अन्वयार्थ - **(मूलगुनं च उत्पादंते)** जो मूलगुण का पालन करता है **(फलं पंच)** वह पाँच प्रकार के फलों **(बड़ पीपल पिलषुनी)** बड़ , पीपल, ऊमर, कठूमर **(च)** और **(पाकर उदंबरस्तथा)** पाकर अर्थात् अंजीर यह उदम्बर फल हैं इन्हें **(न दिस्टते)** नहीं देखता अर्थात् सेवन नहीं करता है।

फलानि पंच तिक्तंति, त्रसस्य रष्यनार्थयं ।
अतीचार उत्पादंते, तस्य दोष निरोधनं ।। २२६ ।।

अन्वयार्थ - [सम्यक्दृिष्ट जीव] **(त्रसस्य रष्यनार्थयं)** त्रस जीवों की रक्षा के लिये **(फलानि पंच तिक्तंति)** इन पाँच प्रकार के फलों को त्याग देता है, इनका सेवन नहीं करता तथा **(अतीचार उत्पादंते)** जिन फलों के खाने अतिचार पैदा होते हैं, दोष लगता है तो **(तस्य दोष निरोधनं)** उन दोषों का भी निरोध करता है।

अन्नं जथा फलं पुहपं, बीजं संमूर्छनं जथा ।
तथाहि दोष तिक्तंते, अनेय उत्पाद्यते जथा ।। २२७ ।।

अन्वयार्थ - **(अनेय उत्पाद्यते जथा)** जहाँ अनेक प्रकार के त्रस जीवों की उत्पत्ति हो **(अन्नं जथा फलं पुहपं)** ऐसा घुना हुआ अन्न आदि फल फूल एवं **(बीजं संमूर्छनं जथा)** जिनमें संमूर्च्छन जीव रहते हैं ऐसे बीज, साग, पत्ती आदि **(तथाहि दोष तिक्तंते)** उनमें भी वैसाही दोष देखकर सम्यक्त्वी त्याग देते हैं।

मद्यं च मान संबंधं, ममतं राग पूरितं ।
असुद्धं आलापं वाक्यं, मद्य दोष संगीयते ।। २२८ ।।

अन्वयार्थ - **(मद्यं च मान संबंधं)** शराब और मान का सम्बंध **(ममतं राग पूरितं)** ममता के राग से पूरित कर देता है **(असुद्धं आलापं वाक्यं)** अशुद्ध वचनालाप करना (**मद्य दोष संगीयते**)यह सब मदिरा शराब के दोष कहे जाते हैं।

संधानं संमूर्छनं जेन, तिक्तंति जे विचष्यनं ।
अनंत भाव दोषेन, न करोति सुद्ध दिस्टितं ।। २२९।।

अन्वयार्थ - **(संधानं संमूर्छनं जेन)** संधान-रसदार, रसभरी वस्तु जैसे-मुरब्बा, अचार, शीरा आदि जिसमें संमूर्छन जीवों की उत्पत्ति विशेषता से हो जाती है **(तिक्तंति जे विचष्यनं)** जो ज्ञानवान विचक्षण पुरुष हैं, वह इसे भी छोड़ देते हैं **(अनंत भाव दोषेन)** दोष युक्त भाव जो अनंत प्रकार के होते हैं **(न करोति सुद्ध दिस्टितं)** शुद्ध दृष्टि ऐसे भाव नहीं करता है।

मासं भष्यते जेन, लोनी मुहूर्त गतस्तथा ।
न भुक्तं न उक्तं च, व्यापारं न च क्रीयते ।। २३० ।।

अन्वयार्थ - **(मासं भष्यते जेन)** जो मांस का भक्षण करते हैं, वह तो हिंसक पापी ही हैं परन्तु जो

मांस भक्षण के त्यागी हैं उन्हें **(लोनी मुहूर्त गतस्तथा)** एक मुहूर्त के बाद का मक्खन भी सेवन नहीं करना चाहिये क्योंकि उसमें सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति हो जाती है इसलिये **(न भुक्तं न उक्तं च)** न स्वयं सेवन करना चाहिये और न ही किसी से सेवन करने के लिये कहना चाहिये **(व्यापारं न च क्रीयते)** और न इसका व्यापार ही करना चाहिये।

दो दारिया मही दुग्धं, जे नर भुक्त भोजनं ।
स्वादं विचलिते जेन, भुक्तं मांस दोषनं ।। २३१ ।।

अन्वयार्थ - (दो दारिया मही दुग्धं) दो दाल वाली वस्तु मही में या दूध में डालकर भी नहीं खाना चाहिये तथा **(स्वादं विचलिते जेन)** जिन चीजों का स्वाद बिगड़ गया हो उनको भी नहीं खाना चाहिये **(जे नरा भुक्त भोजनं)** जो मनुष्य इन वस्तुओं को ग्रहण करते हैं [उन्हें] **(भुक्तं मांस दोषनं)** इसके सेवन करने से मांस का दोष लगता है।

मधुरं मधुरस्चैव, व्यापारं न च क्रीयते ।
मधुरं मिस्रिते जेन, द्वि मुहूर्तं संमूर्छनं ।। २३२ ।।

अन्वयार्थ - (मधुरं मधुरस्चैव) शहद और शहद जैसी मीठी वस्तुओं का **(व्यापारं न च क्रीयते)** व्यापार भी नहीं करना चाहिये **(मधुरं मिस्रिते जेन)** जिन वस्तुओं में शहद या शहद जैसा अन्य पदार्थ मिला हो **(द्वि मुहूर्तं संमूर्छनं)** उसमें दो मुहूर्त [अर्थात् डेढ़ घंटा में] असंख्यात संमूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति हो जाती है।

संमूर्छनं जथा जानंते, साकं पुहपादि पत्रयं ।
तिक्तंते न च भुक्तं च, दोषं मांस उच्यते ।। २३३ ।।

अन्वयार्थ - (साकं पुहपादि पत्रयं) साग पत्ते वाली सब्जी [पालक, मेथी, बथुआ, धनियां, फूलगोभी, पत्ता गोभी आदि] इनमें **(संमूर्छनं जथा जानंते)** संमूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति के स्थान जानकर सम्यक्दृष्टि जीव इनको **(तिक्तंते न च भुक्तं च)** त्याग देते हैं, सेवन नहीं करते क्योंकि इनके सेवन में **(दोषं मांस उच्यते)** मांस का दोष कहा गया है।

कंदं बीजं जथा नेयं, संमूर्छनं विदलस्तथा ।
व्यापारे न च भुक्तं च, मूलगुनं प्रतिपालये ।। २३४ ।।

अन्वयार्थ - (कंदं बीजं जथा नेयं) कंदमूल, बीज, अनाज और इसी प्रकार की अनेक वस्तुएं जिनमें **(संमूर्छनं विदलस्तथा)** संमूर्च्छन और द्विदल जैसी वस्तुएँ आती हैं **(व्यापारे न च भुक्तं च)** इनको न सेवन करना चाहिये और न इनका व्यापार करना चाहिये **(मूलगुनं प्रतिपालये)** तभी मूलगुणों का पालन होता है।

रत्नत्रय की साधना -

दर्सनं न्यान चारित्रं, सार्धं सुद्धात्मा गुनं ।
तत्त्व नित्य प्रकासेन, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ।। २३५ ।।

अन्वयार्थ - (दर्सनं न्यान चारित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की साधना **(सार्धं**

सुद्धात्मा गुनं) शुद्धात्मा के गुणों की साधना या श्रद्धान है **(तत्त्व नित्य प्रकासेन)** इससे अपने निज तत्त्व का हमेशा प्रकाश होता है **(सार्धं न्यान मयं धुवं)** यही साधना ज्ञानमयी ध्रुव तत्त्व को प्रगट कराती है।

पच्चीस दोषों से रहित सम्यग्दर्शन का स्वरूप -

दर्सनं तत्त्व सार्धं च, तिअर्थं सुद्ध दिस्टितं ।
मय मूर्ति संपूर्नं च, स्वात्म दर्सन चिंतनं ।। २३६ ।।

अन्वयार्थ - (तिअर्थ शुद्ध दिस्टतं) रत्नत्रयमयी शुद्ध स्वभाव को देखना **(मयमूर्ति संपूर्नं च)** ज्ञानमयी अनंत गुणों से परिपूर्ण चैतन्य मूर्ति **(स्वात्म दर्सन चिंतनं)** निज आत्मा का दर्शन और चिन्तवन, अनुभव करना इस प्रकार **(दर्सनं तत्त्व सार्धं च)** तत्त्व का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

दर्सनं सप्त तत्त्वानं, दर्व काय पदार्थकं ।
जीव द्रव्यं च सुद्धं च, सार्धं सुद्धं दरसनं ।। २३७ ।।

अन्वयार्थ - (दर्सनं सप्त तत्त्वानं) सम्यग्दर्शन सात तत्त्वों का **(दर्व काय पदार्थकं)** छह द्रव्यों का, पाँच अस्तिकाय और नौ पदार्थ का यथार्थ निर्णय करना और इनमें **(जीव द्रव्यं च सुद्धं च)** एक मात्र जीव द्रव्य जो अपने स्वभाव से शुद्ध है **(सार्धं सुद्धं दरसनं)** इसका श्रद्धान करना ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

दर्सनं आर्ध ऊर्ध च, मध्य लोकेन दिस्टते ।
षट् कमलं ति अर्थं च , जोयं संमिक दर्सनं ।। २३८ ।।

अन्वयार्थ - (दर्सनं आर्ध ऊर्ध च) सम्यग्दर्शन होने पर अधोलोक, ऊर्ध्वलोक और **(मध्य लोकेन दिस्टते)** मध्यलोक का स्वरूप देखने जानने में आने लगता है **(षट् कमलं ति अर्थं च)** षट्कमल के योगाभ्यास द्वारा अपने रत्नत्रयमयी स्वरूप का अनुभव करते हुए **(जोयं संमिक दर्सनं)** सम्यग्दर्शन को प्राप्त करो।

दर्सनं जत्र उत्पादंते, तत्र मिथ्या न दिस्टते ।
कुन्यानं मलस्चैव, तिक्तं जोगी समाचरेत् ।। २३९ ।।

अन्वयार्थ - (दर्सनं जत्र उत्पादंते) जहाँ सम्यग्दर्शन पैदा हो जाता है **(तत्र मिथ्या न दिस्टते)** वहाँ फिर मिथ्यात्व दिखाई नहीं देता **(कुन्यानं मलस्चैव)** कुज्ञान आदि मलों को **(तिक्तं जोगी समाचरेत्)** छोड़कर योगी अपने स्वरूप की साधना करता है।

मलं विमुक्त मूढ़ादि, पंच विंसति न दिस्टते ।
आसा स्नेह लोभं च, गारव त्रि विमुक्तयं ।। २४० ।।

अन्वयार्थ - (मलं विमुक्त) मिथ्यात्व दोष छूट जाने पर **(मूढ़ादि पंच विंसति न दिस्टते)** फिर मूढ़ता आदि पच्चीस दोष दिखाई नहीं देते **(आसा स्नेह लोभं च)** आशा स्नेह लोभ और **(गारव त्रि विमुक्तयं)** तीन प्रकार का गारव [जनरंजन, मनरंजन, कलरंजन] भी छूट जाता है।

दर्सनं सुद्ध दर्वार्थं, लोक मूढ़ं न दिस्टते ।
जस्य लोकं च सार्धं च, तिक्तते सुद्ध दिस्टितं ।। २४१ ।।

अन्वयार्थ - (दर्सनं सुद्ध दर्वार्थं) जिसे अपने शुद्ध द्रव्य स्वभाव का श्रद्धान हो गया **(लोक मूढ़**

न दिस्टते) फिर वह लोक मूढ़ता की तरफ नहीं देखता **(जस्य लोकं च सार्धं च)** जिन बातों को जिन क्रियाओं को लौकिकजन पालते हैं और श्रद्धान करते हैं **(तिक्तते सुद्ध दिस्टितं)** शुद्ध दृष्टि उन सबको छोड़ देता है।

देव मूढ़ं च प्रोक्तं च, क्रीयते जेन मूढ़यं ।
दुर्बुद्धि उत्पादते जीवा, तावत् दिस्टि न सुद्धये ।। २४२ ।।

अन्वयार्थ - (देव मूढ़ं च प्रोक्तं च) देव मूढ़ता का स्वरूप कहते हैं **(क्रीयते जेन मूढ़यं)** जो मूढ़ लोग किया करते हैं **(दुर्बुद्धि उत्पादते जीवा)** जब तक जीव को देवमूढ़ता की दुर्बुद्धि पैदा होती है **(तावत् दिस्टि न सुद्धये)** तब तक दृष्टि शुद्ध नहीं होती [अर्थात् वह सम्यक्दृष्टि नहीं होता।]

अदेवं देव उक्तं च, मूढ़ दिस्टि प्रकीर्तितं ।
अदेवं असास्वतं येन, तिक्तते सुद्ध दिस्टितं ।। २४३ ।।

अन्वयार्थ - (अदेवं देव उक्तं च) जो अदेवों को देव कहते हैं और **(मूढ़ दिस्टि प्रकीर्तितं)** जो मूढ़ दृष्टि जीव उनकी भक्ति वंदना पूजा प्रार्थना और प्रसिद्धि करते हैं **(अदेवं असास्वतं येन)** इस प्रकार के अदेव जो नाशवान जड़ हैं **(तिक्तते सुद्ध दिस्टितं)** शुद्ध दृष्टि इनको त्याग देते हैं, इनकी श्रद्धा भक्ति नहीं करते।

पाषंडी मूढ़ जानंते, पाषंड विभ्रम रतो सदा ।
परपंचं पुद्‌गलार्थं च, पाषंडी मूढ़ न संसयः ।। २४४ ।।

अन्वयार्थ - (पाषंडी मूढ़ जानंते) जो मूढ़ पाखंडी आत्मज्ञान रहित साधु जाने जाते हैं **(पाषंड विभ्रम रतो सदा)** जो मिथ्यात्व भ्रम जाल में सदा आसक्त रहते हैं **(परपंच पुद्‌गलार्थं च)** और पुद्‌गल शरीरादि के लिये ही सर्व प्रपंच जाल फैलाते रहते हैं उनको गुरु मानना **(पाषंडी मूढ़ न संसयः)** पाषंड मूढ़ता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

अनृतं अचेत उत्पादंते, मिथ्या माया लोकरंजनं ।
पाषंडी मूढ़ विस्वासं, नरयं पतंति ते नरा ।। २४५ ।।

अन्वयार्थ - (अनृतं अचेत उत्पादंते) जो अचेतन असत्य बातों को पैदा करते रहते हैं **(मिथ्या माया लोक रंजनं)** झूठ मायाचार बातों में लोगों को फंसाते रंजायमान करते रहते हैं **(पाषंडी मूढ़ विस्वासं)** ऐसे पाषंडी मूढ़ लोगों का विश्वास करने वाले **(नरयं पतंति ते नरा)** मनुष्यों को नरक में जाना पड़ता है।

पाषंडी वचन विस्वासं, समय मिथ्या प्रकासये ।
जिन द्रोही दुर्बुद्धि जेन, आराध्यं नरयं पतं ।। २४६ ।।

अन्वयार्थ - (पाषंडी वचन विस्वासं) ऐसे पाखंडी साधुओं के वचनों पर विश्वास करना **(समय मिथ्या प्रकासये)** जो झूठे आगम या मत का प्रकाश करते हैं वे **(जिन द्रोही दुर्बुद्धि)** दुर्बुद्धि जिनेन्द्र परमात्मा के अनेकांत मत के शत्रु हैं व दुष्ट बुद्धि रखने वाले हैं **(आराध्यं नरयं पतं)** इनकी आराधना वन्दना भक्ति करने से नरक में पतन होता है।

पाषंडी कुमति अन्यानी, कुलिंगी जिन उक्त लोपनं ।
जिनलिंगी मिश्रेन य, जिन द्रोही वचन लोपनं ।। २४७ ।।

अन्वयार्थ - **(पाषंडी कुमति अन्यानी)** पाषंडी साधु कुमति और अज्ञान का धारी **(कुलिंगी जिन उक्त लोपनं)** कुलिंगी [मिथ्या भेषधारी] जिन वचनों का लोप करने वाला है **(जिनलिंगी मिश्रेन य)** जो जिनलिंग को धारण करके उसमें मिलावट करता है **(जिन द्रोही वचन लोपनं)** वह जिनेन्द्र के वचनों का लोप करने वाला जिन द्रोही है।

पाषंडी उक्त मिथ्यातं, वचनं विस्वास न क्रीयते ।
उक्तं च सुद्ध दिस्टी च, दरसनं मल विमुक्तयं ।। २४८ ।।

अन्वयार्थ - **(पाषंडी उक्त मिथ्यातं)** जो पाषंडी साधुओं के द्वारा कहे हुए मिथ्यात्व पोषक **(वचनं विस्वास न क्रीयते)** वचनों का विश्वास नहीं करता तथा **(दरसनं मल विमुक्तयं)** सम्यग्दर्शन के समस्त दोषों से रहित होता है **(उक्तं च सुद्ध दिस्टी च)** उसे शुद्ध दृष्टि कहा है।

मद अस्टं मान संबंधं, कषायं दोष विमुक्तयं ।
दर्सनं मलं न दिस्टंते, सुद्ध दिस्टि समाचरेत् ।। २४९ ।।

अन्वयार्थ - **(मद अस्टं मान संबंधं)** मान कषाय सम्बंधी आठ प्रकार का मद **(कषायं दोष विमुक्तयं)** व अनन्तानुबंधी कषाय आदि दोषों से रहित **(सुद्ध दृष्टि समाचरेत्)** शुद्ध दृष्टि में आचरण करता है **(दर्सनं मलं न दिस्टंते)** उसमें सम्यग्दर्शन के कोई दोष दिखाई नहीं देते।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप -

न्यानं तत्त्वानि वेदंते, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।
सुद्धात्मा तिअर्थं सुद्धं, न्यानं न्यान प्रयोजनं ।। २५० ।।

अन्वयार्थ - **(न्यानं तत्त्वानि वेदंते)** ज्ञान वही है जो जीवादि सात तत्त्वों का अनुभव करावे **(सुद्ध तत्त्व प्रकासकं)** शुद्ध तत्त्व का प्रकाशक हो **(सुद्धात्मा तिअर्थं सुद्धं)** शुद्धात्मा रत्नत्रय से शुद्ध है **(न्यानं न्यान प्रयोजनं)** ऐसा ज्ञान कराने वाला ज्ञान ही प्रयोजनीय है।

न्यानेन न्यानमालंबं, पंच दीप्ति प्रस्थितं ।
उत्पन्नं केवलं न्यानं, सुद्धं सुद्ध दिस्टितं ।। २५१ ।।

अन्वयार्थ - **(सुद्ध दिस्टितं)** जो शुद्ध दृष्टि ज्ञानी **(सुद्धं)** शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से **(न्यानेन न्यानमालंबं)** सम्यग्ज्ञान या श्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञान स्वभाव का आलंबन लेते हुए **(पंच दीप्ति प्रस्थितं)** पंचम दीप्ति अर्थात् केवलज्ञान स्वभाव में स्थित होते हैं उन्हें [पर्याय में भी] **(उत्पन्नं केवलं न्यानं)** केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

न्यानं लोचन भव्यस्य, जिन उक्तं सार्धं धुवं ।
सुयं एतानि विन्यानं, सुद्ध दिस्टि समाचरेत् ।। २५२ ।।

अन्वयार्थ - **(न्यानं लोचन भव्यस्य)** जिस भव्य के ज्ञान नेत्र खुल गये **(जिन उक्तं सार्धं धुवं)** वह जिनेन्द्र के कहे अनुसार अपने ध्रुव तत्त्व की साधना करता है **(सुयं एतानि विन्यानं)** भेद विज्ञान और

श्रुतज्ञान सहित **(सुद्ध दिस्टि समाचरेत्)** शुद्ध दृष्टि सम्यक् आचरण करता है।

आचरनं स्थिरी भूतं, सुद्ध तत्त्व तिअर्थकं ।
उवंकारं च वेदंते, तिस्टते सास्वतं धुवं ।। २५३ ।।

अन्वयार्थ - (सुद्ध तत्व तिअर्थकं) शुद्धात्म तत्त्व जो रत्नत्रय से परिपूर्ण **(उवंकारं च वेदंते)** ॐकारमयी परमात्म स्वरूप अनुभव में आया है **(तिस्टते सास्वतं धुवं)** वह अविनाशी शाश्वत पद में विराजमान है, ऐसे स्वभाव में **(आचरनं स्थिरी भूतं)** स्थित होना ही सम्यक् आचरण है।

आचरनं द्विविधं प्रोक्तं, संमिक्तं संयमं धुवं ।
प्रथमं संमिक्त चरनस्य, स्थिरी भूतस्य संजमं ।। २५४ ।।

अन्वयार्थ - (आचरनं द्विविधं प्रोक्तं) आचरण दो प्रकार का कहा गया है **(संमिक्तं संयमं धुवं)** एक सम्यक्त्व आचरण, दूसरा निश्चल संयमाचरण है **(प्रथमं संमिक्त चरनस्य)** पहला सम्यक्त्वाचरण है जो मात्र श्रद्धान में स्थिर होना है **(स्थिरी भूतस्य संजमं)** और दूसरा संयमाचरण अपने स्वरूप में स्थित होना है, [जिसमें अपने स्वरूप के श्रद्धान ज्ञान सहित निर्विकल्प अतीन्द्रिय आनंद की अनुभूति होती है।]

चारित्रं संजमं चरनं, सुद्ध तत्त्व निरीष्यनं ।
आचरनं अवधिं दिस्टा, सार्धं सुद्ध दिस्टितं ।। २५५ ।।

अन्वयार्थ - (चारित्रं संजमं चरनं) संयमाचरण चारित्र में **(सुद्ध तत्त्व निरीष्यनं)** अपने शुद्धात्म स्वरूप का निरीक्षण होता है **(आचरनं अवधिं दिस्टा)** इस प्रकार कुछ-कुछ समय के लिये देखना अनुभव करना ही सम्यक्चारित्र की **(सार्धं सुद्ध दिस्टितं)** साधना है जो सम्यक्दृष्टि करता है।

(इ) तीन पात्र एवं चार दान का कथन

तीन प्रकार के पात्रों को चार प्रकार का दान देना -

पात्रं त्रिविधि जानंते, दानं तस्य सुभावना ।
जिन रूवी उत्कृष्टं च, अव्रतं जघन्यं भवेत् ।। २५६ ।।

अन्वयार्थ - (पात्रं त्रिविधि जानंते) पात्र तीन प्रकार के जानना चाहिये **(जिन रूवी)** जो निर्ग्रंथ वीतरागी दिगम्बर साधु हैं वे उत्कृष्ट पात्र हैं **(उत्कृष्टं च)** और उत्कृष्ट श्रावक मध्यम पात्र हैं **(अव्रतं जघन्यं भवेत्)** तथा जो व्रत रहित सम्यक्दृष्टि हैं वे जघन्य पात्र हैं **(दानं तस्य सुभावना)** शुभ भावों से उनको दान देना चाहिये।

उत्तम पात्र का स्वरूप -

उत्तमं जिन रूवी च, जिन उक्तं समाचरेत् ।
तिअर्थं जोयते जेन, ऊर्ध आर्धं च मध्यमं ।। २५७ ।।

अन्वयार्थ - (उत्तमं जिन रूवी च) उत्तम पात्र जिन रूपी निर्ग्रंथ साधु हैं जो **(जिन उक्तं समाचरेत्)** जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा प्रमाण चारित्र पालते हैं **(तिअर्थं जोयते जेन)** जिनने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का यथार्थ पालन किया है तथा जो **(ऊर्ध आर्धं च मध्यमं)** ऊर्ध्व लोक, अधो लोक, मध्यलोक का स्वरूप जानते हैं।

षट् कमलं त्रि उवंकारं, झानं झायंति सदा बुधै ।
पंच दीप्तं च वेदंते, स्वात्म दरसन दरसनं ।। २५८ ।।

अन्वयार्थ - (षट् कमलं त्रि उवंकारं) षट् कमल और तीन उवंकार-ॐ, ह्रीं, श्रीं के माध्यम से **(झानं झायंति सदा बुधै)** ज्ञानीजन, ज्ञान-ध्यान की साधना में सदा तत्पर रहते हैं [वे] **(पंच दीप्तं च वेदंते)** अपने पंच ज्ञानमयी स्वरूप का वेदन करते हैं [और] **(स्वात्म दरसन दरसनं)** निजात्म स्वरूप का दर्शन, अनुभवन करते हैं।

अवधं जेन संपूर्नं, ऋजु विपुलं च दिस्टते ।
मनपर्जय केवलं च, जिन रूवी उत्तमं बुधै ।। २५९ ।।

अन्वयार्थ - (अवधं जेन संपूर्नं) जो अवधिज्ञान से परिपूर्ण **(ऋजु विपुलं च दिस्टते)** ऋजु और विपुलमति को देखते हैं **(मनपर्जय केवलं च)** मन:पर्यय और केवलज्ञान की साधना करते हैं **(जिन रूवी उत्तमं बुधै)** वे जिन रूवी निर्ग्रंथ वीतरागी ज्ञानी साधु उत्तम पात्र हैं।

मध्यम पात्र का स्वरूप -

उत्कृष्टं श्रावकं जेन, मध्य पात्रं च उच्यते ।
मति स्रुत न्यान संपूर्नं, अवधं भावना कृतं ।। २६० ।।

अन्वयार्थ - (उत्कृष्टं श्रावकं जेन) जो उत्कृष्ट श्रावक हैं **(मध्य पात्रं च उच्यते)** वे मध्यम पात्र कहे जाते हैं **(मति स्रुत न्यान संपूर्नं)** जो मति, श्रुतज्ञान से परिपूर्ण होते हैं **(अवधं भावना कृतं)** और अवधिज्ञान की भावना करते हैं।

अन्या वेदक संमिक्तं, उपसमं सार्धं धुवं ।
पदवी द्वितिय आचार्यं च, मध्य पात्र सदा बुधै ।। २६१ ।।

अन्वयार्थ - (अन्या वेदक संमिक्तं) आज्ञा, वेदक सम्यक्त्व के धारी **(उपसमं सार्धं धुवं)** या उपशम सम्यक्दृष्टि अपने ध्रुव स्वरूप की साधना करते हैं **(पदवी द्वितिय आचार्यं च)** और दूसरी आचार्य पदवी के धारी होते हैं **(मध्य पात्र सदा बुधै)** ऐसे ज्ञानी ही सदा मध्यम पात्र कहलाते हैं।

उवंकारं च वेदन्ते, ह्रींकारं स्रुत उच्यते ।
अचष्यु दर्सन जोयंते, मध्य पात्र सदा बुधै ।। २६२ ।।

अन्वयार्थ - (उवंकारं च वेदन्ते) जो अपने ऊँकारमयी परमात्म स्वरूप का अनुभव करते हैं **(ह्रींकारं स्रुत उच्यते)** जो तीर्थंकरों द्वारा स्वरूप कहा गया है **(अचष्यु दर्सन जोयंते)** अचक्षु दर्शन में अपने उस स्वरूप को देखते हैं **(मध्य पात्र सदा बुधै)** वे ज्ञानी सदा मध्यम पात्र कहे जाते हैं।

प्रतिमा एकादसं जेन, व्रत पंच अनुव्रतं ।
सार्धं सुद्ध तत्त्वार्थं, धर्म ध्यानं च ध्यायते ।। २६३ ।।

अन्वयार्थ - (प्रतिमा एकादसं जेन, व्रत पंच अनुव्रतं) जो ग्यारह प्रतिमा सप्त शील सहित बारह व्रत और पाँच अणुव्रतों का पालन करते हैं **(सार्धं सुद्ध तत्त्वार्थं)** प्रयोजनीय शुद्धात्म स्वरूप की साधना करते हुए **(धर्म ध्यानं च ध्यायते)** धर्म ध्यान में सतत् संलग्न रहते हैं, वे मध्यम पात्र हैं।

जघन्य पात्र का स्वरूप -

अव्रतं त्रितिय पात्रं च, देव सास्त्र गुरु मानते ।
सद्दहंति सुद्ध संमिक्तं, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ।। २६४ ।।

अन्वयार्थ - (अव्रतं त्रितिय पात्रं च) तीसरे जघन्य पात्र अव्रत सम्यक्दृष्टि हैं जो **(देव सास्त्र गुरु मानते)** सच्चे देव गुरु शास्त्र को मानते हैं **(सद्दहंति सुद्ध संमिक्तं)** शुद्धात्म स्वरूप का सच्चा श्रद्धान करते हैं **(सार्धं न्यान मयं धुवं)** अपने ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना करते हैं।

सुद्ध दिस्टि च संपूर्नं, मल मुक्तं सुद्ध भावना ।
मति कमलासने कंठे, कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं ।। २६५ ।।

अन्वयार्थ - (सुद्ध दिस्टि च संपूर्नं) यह अविरत सम्यक्दृष्टि पूर्ण शुद्ध आत्मा का अनुभूति युत श्रद्धानी होता है और **(मल मुक्तं सुद्ध भावना)** पच्चीस मलों से मुक्त शुद्ध भावना करता है **(मति कमलासने कंठे)** सुबुद्धि रूपी सरस्वती का जागरण होने से **(कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं)** तीनों प्रकार के कुज्ञान से मुक्त होता है।

मिथ्या त्रिविधि न दिस्टंते, सल्यं त्रयं निरोधनं ।
सुद्धं च सुद्ध दर्वार्थं, अविरत संमिक दिस्टितं ।। २६६ ।।

अन्वयार्थ - (मिथ्या त्रिविधि न दिस्टंते) अविरत सम्यक्दृष्टि में तीन प्रकार का मिथ्या भाव दिखाई नहीं देता **(सल्यं त्रयं निरोधनं)** तीनों शल्य भी दूर हो जाती हैं **(सुद्धं च सुद्ध दर्वार्थं)** शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से अपने शुद्ध स्वभाव को जानता है **(अविरत संमिक दिस्टितं)** ऐसा अविरत सम्यक्दृष्टि होता है।

सम्यक्त्व की महिमा और पात्र दान का फल -

त्रिविध पात्रं च दानं च, भावना चिंतते बुधै ।
सुद्ध दिस्टि रतो जीवा, अट्ठावन लष्य तिक्तयं ।। २६७ ।।

अन्वयार्थ - (त्रिविध पात्रं दानं च) तीन प्रकार के पात्रों को दान देने की **(भावना चिंतते बुधै)** भावना बुद्धिमान जन करते रहते हैं **(सुद्ध दिस्टि रतो जीवा)** ऐसा दानी, जो शुद्धात्मा का श्रद्धानी सम्यक्दृष्टि है **(अट्ठावन लष्य तिक्तयं)** उसके चौरासी लाख योनियों में से ५८ लाख योनियों का भव भ्रमण छूट जाता है।

नीच इतर अप तेजं च, वायु पृथ्वी वनस्पती ।
विकलत्रयस्य जोनी च, अट्ठावन लष्य तिक्तयं ।। २६८ ।।

अन्वयार्थ - (नीच इतर अप तेजं च) नित्यनिगोद ७ लाख, इतर निगोद ७ लाख, जलकाय ७ लाख, अग्निकाय ७ लाख **(वायु पृथ्वी वनस्पती)** वायुकाय ७ लाख, पृथ्वीकाय ७ लाख, वनस्पतिकाय १० लाख, **(विकलत्रयस्य जोनी च)** दो इन्द्रिय २ लाख, तीन इन्द्रिय २ लाख, चार इन्द्रिय २ लाख इस प्रकार **(अट्ठावन लष्य तिक्तयं)** कुल ५८ लाख योनियों में सम्यक्दृष्टि जन्म नहीं लेता है अर्थात् यह ५८ लाख योनियाँ छूट जाती हैं।

सुद्ध संमिक्त संजुक्तं, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं ।
ते नरा दुष हीनस्य, पात्र दान रतो सदा ।। २६९ ।।

अन्वयार्थ - **(सुद्ध संमिक्त सजुक्तं)** जो शुद्ध सम्यक्त्व के धारी हैं **(सुद्ध तत्त्व प्रकासकं)** शुद्धात्म तत्त्व का अनुभव करते हैं **(पात्र दान रतो सदा)** सदैव पात्र दान में रत रहते हैं **(ते नरा दुष हीनस्य)** वे मानव दु:खों से छूट जाते हैं।

पात्र दानं च चत्वारि, न्यानं आहार भेषजं ।
अभयं च भयं नास्ति, दानं पात्र सदा बुधै ।। २७० ।।

अन्वयार्थ - **(पात्र दानं च चत्वारि)** पात्र दान चार प्रकार का होता है-**(न्यानं आहार भेषजं)** ज्ञानदान, आहारदान, औषधिदान **(अभयं च भयं नास्ति)** अभयदान, जिससे भय का विनाश हो जाए **(दानं पात्र सदा बुधै)** बुद्धिमान सदैव पात्रों को चार प्रकार का दान दिया करते हैं।

न्यान दानं च न्यानं च, आहार दान आहारयं ।
अवधं भेषजस्चैव, अभयं अभय दानयं ।। २७१ ।।

अन्वयार्थ - **(न्यान दानं च न्यानं च)** ज्ञानदान करने से ज्ञान की वृद्धि होती है और **(आहार दान आहारयं)** आहार दान से आहार की कमी नहीं रहती है **(अवधं भेषजस्चैव)** औषधिदान से शरीर में व्याधि नहीं होती **(अभयं अभय दानयं)** अभय दान से अभय हो जाते हैं फिर कोई भय नहीं रहता।

पात्र दानं च सुद्धं च, कर्म षिपति सदा बुधै ।
जे नरा दान चिंतंते, अविरतं संमिक दिस्टितं ।। २७२ ।।

अन्वयार्थ - **(पात्र दानं च सुद्धं च)** शुद्ध और सत्पात्रों को दिया हुआ दान **(कर्मं षिपति सदा बुधै)** बुद्धिमानों को सदैव कर्मों का क्षय करने वाला होता है **(जे नरा दान चिंतंते)** जो मनुष्य, दान देते हैं, [दान देने वाले की अनुमोदना करते हैं और दान देने की भावना रखते हैं] **(अविरतं संमिक दिस्टितं)** वे अविरत सम्यक्दृष्टि सामान्य गृहस्थ श्रावक है।

पात्र दानं वट बीजं, धरनी व्रिद्धंति जेतवा ।
न्यान व्रिद्धंति दानं च, दानं चिंता सदा बुधै ।। २७३ ।।

अन्वयार्थ - **(पात्र दानं वट बीजं)** पात्रों को दिया हुआ दान बीज की तरह **(धरनी व्रिधंति जेतवा)** पृथ्वी में डालने पर अनन्त गुना फलता है **(न्यान व्रिधंति दानं च)** इसी प्रकार ज्ञानी को दिया हुआ दान बहुत फलता है **(दानं चिंता सदा बुधै)** इसलिये बुद्धिमानों को दान करने में हमेशा उत्साह रखना चाहिये।

पात्र कुपात्र दान का फल -

पात्र दान मोष्य मार्गस्य, कुपात्रं दुर्गति कारनं ।
विचारनं भव्य जीवानं, पात्र दान रतो सदा ।। २७४ ।।

अन्वयार्थ - **(पात्र दान मोष्य मार्गस्य)** पात्र दान मोक्षमार्ग की सिद्धि का उपाय है **(कुपात्रं दुर्गति कारनं)** कुपात्र दान दुर्गति का कारण है [इसलिये] **(विचारनं भव्य जीवानं)** भव्य जीव भले प्रकार

विचार कर **(पात्र दान रतो सदा)** हमेशा पात्रदान में रत रहते हैं।

कुगुरु कुदेव उक्तं च, कुधर्मं प्रोक्तं सदा ।
कुलिंगी जिन द्रोही च, मिथ्या दुर्गति भाजनं ।। २७५ ।।

अन्वयार्थ - (कुगुरु कुदेव उक्तं च) जो कुगुरु हैं वे कुदेवों की भक्ति मान्यता का उपदेश देते हैं और **(कुधर्मं प्रोक्तं सदा)** हमेशा कुधर्म हिंसादि पापारम्भ करने की बात कहते हैं **(कुलिंगी जिन द्रोही च)** वे कुलिंगी जिनद्रोही और **(मिथ्या दुर्गति भाजनं)** मिथ्यात्व सहित दुर्गति के पात्र हैं।

तस्य दानं च विनयं च, कुन्यानी मूढ़ दिस्टितं ।
तस्य दान चिंतनं येन, संसारे दुष दारुनं ।। २७६ ।।

अन्वयार्थ - (तस्य दानं च विनयं च) ऐसे कुपात्र को जो दान देते हैं और उनकी विनय करते हैं वे **(कुन्यानी मूढ़ दिस्टितं)** कुज्ञानी और मूढ़दृष्टि हैं **(तस्य दान चिंतनं येन)** ऐसे जो जीव कुगुरुओं को दान देने का चिंतन करते हैं **(संसारे दुष दारुनं)** वे संसार में दारुण दु:ख भोगते हैं।

पात्र अपात्र विसेषत्वं, पन्नग गवं च उच्यते ।
तृण भुक्तं च दुग्धं च, दुग्ध भुक्तं विषं पुनः ।। २७७ ।।

अन्वयार्थ - (पात्र अपात्र विसेषत्वं) पात्र और अपात्र की विशेषता को **(पन्नग गवं च उच्यते)** गाय और सर्पिणी के समान कहा गया है **(तृण भुक्तं च दुग्धं च)** गाय घास खाती है और दूध देती है **(दुग्ध भुक्तं विषं पुनः)** सर्पिणी दूध पीती है और विष उगलती है।

पात्र दानं च भावेन, मिथ्या दिस्टी च सुद्धये ।
भावना सुद्ध संपूर्नं, दानं फलं स्वर्ग गामिनो ।। २७८ ।।

अन्वयार्थ - (पात्र दानं च भावेन) पात्र दान देने और उसकी भावना करने से **(मिथ्या दिस्टी च सुद्धये)** मिथ्या दृष्टि भी शुद्ध हो सकता है **(भावना सुद्ध संपूर्नं)** पूर्ण शुद्ध भावना से **(दानं फलं स्वर्ग गामिनो)** सत्पात्र को दान देने के फलस्वरूप वह देवगति जाता है।

पात्र दान रतो जीवा, संसार दुष्य निपातये ।
कुपात्र दान रतो जीवा, नरयं पतितं ते नरा ।। २७९ ।।

अन्वयार्थ - (पात्र दान रतो जीवा) जो जीव पात्रों को दान देने में रत रहते हैं **(संसार दुष्य निपातये)** वह संसार के दु:खों से छूटने का प्रयास करते हैं **(कुपात्र दान रतो जीवा)** जो जीव कुपात्रों को दान देने में रत रहते हैं **(नरयं पतितं ते नरा)** वे मनुष्य नरक में जाते हैं।

पात्र दानं च प्रतिपूर्नं, प्राप्तं च परमं पदं ।
सुद्ध तत्त्वं च सार्धं च, न्यान मयं सार्धं ध्रुवं ।। २८० ।।

अन्वयार्थ - (पात्र दानं च प्रतिपूर्नं) जो जीव पात्र दान की भावना से परिपूर्ण होते हैं **(सुद्ध तत्वं च सार्धं च)** अपने शुद्धात्म तत्त्व की साधना करते हैं **(न्यान मयं सार्धं ध्रुवं)** ज्ञानमयी ध्रुव तत्त्व को साधते हैं उन्हें **(प्राप्तं च परमं पदं)** परम पद [मोक्ष की] प्राप्ति होती है।

पात्रं प्रमोदनं कृत्वा, त्रिलोकं मुद उच्यते ।
जत्र जत्र उत्पाद्यंते, प्रमोदं तत्र उच्यते ।। २८१ ।।

अन्वयार्थ - (पात्रं प्रमोदनं कृत्वा) पात्रों को देखकर जिनका मन प्रमुदित हो उठता है **(त्रिलोकं मुद उच्यते)** उन्हें त्रिलोक में प्रसन्नता प्राप्त होती है ऐसा कहा गया है **(जत्र जत्र उत्पाद्यंते)** जहाँ-जहाँ वह दातार जीव पैदा होता है **(प्रमोदं तत्र उच्यते)** वहाँ उसको प्रमोद भाव प्राप्त होता है।

पात्रस्य अभ्यागतं कृत्वा, त्रिलोकं अभ्यागतं भवे ।
जत्र जत्र उत्पाद्यंते, तत्र अभ्यागतं भवेत् ।। २८२ ।।

अन्वयार्थ - (पात्रस्य अभ्यागतं कृत्वा) जो पात्रों का सम्मान, बहुमान करता है **(त्रिलोकं अभ्यागतं भवे)** उसका त्रिलोक में सम्मान होता है **(जत्र तत्र उत्पाद्यंते)** वह जहाँ-जहाँ जाता है, पैदा होता है **(तत्र अभ्यागतं भवेत्)** वहाँ उसका सम्मान होता है।

पात्रस्य चिंतनं कृत्वा, तस्य चिंता स चिंतये ।
चेतयंति प्राप्तं वृद्धिं, पात्र चिंता सदा बुधै ।। २८३ ।।

अन्वयार्थ - (पात्रस्य चिंतनं कृत्वा) जो गृहस्थ श्रावक निरंतर पात्रों के गुणों का चिंतन किया करते हैं **(तस्य चिंता स चिंतये)** उनकी गुण ग्रहण की शुभ भावना होती है [और उनकी लौकिक चिंता आत्म चिंतवन में परिवर्तित हो जाती है] **(चेतयंति प्राप्तं वृद्धिं)** इस शुभ भावना से उनके आत्म गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं **(पात्र चिंता सदा बुधै)** इसलिये बुद्धिमानों को सदैव पात्र दान की भावना करना चाहिये।

कुपात्रं अभ्यागतं कृत्वा, दुर्गति अभ्यागतं भवेत् ।
सुगति तत्र न दिस्टंते, दुर्गतिं च भवे भवे ।। २८४ ।।

अन्वयार्थ - (कुपात्रं अभ्यागतं कृत्वा) जो कोई कुपात्रों का आदर करते हैं **(दुर्गति अभ्यागतं भवेत्)** वे अपने लिये दुर्गति का मार्ग बनाते हैं **(सुगति तत्र न दिस्टंते)** फिर उनको सुगति दिखाई नहीं देती **(दुर्गतिं च भवे-भवे)** उनको भव-भव में दुर्गति की ही प्राप्ति होती है।

कुपात्रं प्रमोदनं कृत्वा, इन्द्री इत्यादि थावरं ।
तिरियं नरय प्रमोदं च, कुपात्र दान फलं सदा ।। २८५ ।।

अन्वयार्थ - (कुपात्रं प्रमोदनं कृत्वा) जो कुपात्रों को देखकर आनंद मनाते हैं, उनके सत्संग में संलग्न रहते हैं **(इन्द्री इत्यादि थावरं)** वे एकेन्द्रिय स्थावरों में जन्मते हैं **(तिरियं नरय प्रमोदं च)** उनको नरक व तिर्यंच गति की प्राप्ति होती है **(कुपात्र दान फलं सदा)** कुपात्र दान का फल हमेशा ऐसा ही होता है।

पात्र दान की शुद्धता -

पात्र दानं च सुद्धं च, दात्रं सुद्ध सदा भवेत् ।
तत्र दानं च मुक्तस्य, सुद्ध दिस्टी सदा मयं ।। २८६ ।।

अन्वयार्थ - (पात्र दानं च सुद्धं च) पात्र दान में पात्र शुद्ध हो और **(दात्रं सुद्ध सदा भवेत्)** दातार भी हमेशा शुद्ध हो [ऐसा शुभ योग मिले तो] **(सुद्ध दिस्टी सदा मयं)** जहाँ दाता और पात्र दोनों ही

शुद्ध दृष्टि हों **(तत्र दानं च मुक्तस्य)** ऐसा दान मुक्ति का कारण बनता है।

पात्र सिष्यां च दात्रस्य, दात्र दानं च पात्रयं ।
दात्र पात्रं च सुद्धं च , दानं निर्मलतं सदा ।। २८७ ।।

अन्वयार्थ - **(पात्र सिष्यां च दात्रस्य)** उत्तम पात्र, दातार को शिक्षा [ज्ञानदान] देते हैं और **(दात्र दानं च पात्रयं)** दातार, पात्रों को आहार आदि दान देते हैं **(दात्र पात्रं सुद्धं)** जहाँ दाता **(च)** और पात्र दोनों शुद्ध हों **(दानं निर्मलतं सदा)** ऐसा दान हमेशा निर्मल शुभ **(च)** और अतिशयकारी होता है।

दात्रं सुद्ध संमिक्तं, पात्रं तत्र प्रमोदनं ।
दात्र पात्रं च सुद्धं च, दानं निर्मलतं सदा ।। २८८ ।।

अन्वयार्थ - **(दात्रं सुद्धं संमिक्तं)** जहाँ दाता शुद्ध सम्यक्दृष्टि हो **(पात्रं तत्र प्रमोदनं)** वहाँ पात्र को बड़ी खुशी होती है और वह उसके प्रति अनुमोदना और वात्सल्य भाव रखता है **(दात्र पात्रं सुद्धं)** जहाँ दाता **(च)** और पात्र दोनों उत्तम शुद्ध होते हैं **(दानं निर्मलतं सदा)** ऐसा दान हमेशा ही प्रशंसनीय **(च)** और निर्मल होता है।

पात्रं जत्र सुद्धं च, दात्रं प्रमोद कारनं ।
पात्र दात्र सुद्धं च, उक्तं दान जिनागमं ।। २८९ ।।

अन्वयार्थ - **(पात्रं जत्र सुद्धं च)** जहाँ पात्र उत्तम अर्थात् सुद्ध सम्यक्दृष्टि होता है [वह] **(दात्रं प्रमोद कारनं)** दाता के लिये प्रसन्नता का कारण होता है **(पात्र दात्र सुद्धं च)** जहाँ दात्र और पात्र दोनों ही शुद्ध होते हैं **(उक्तं दान जिनागमं)** वहाँ सच्चा दान होता है, ऐसा जिनागम में कहा है।

मिथ्या दिस्टी च दानं च, पात्रं न गृहिते पुनः ।
जदि पात्रं गृहिते दानं, पात्रं अपात्र उच्यते ।। २९० ।।

अन्वयार्थ - **(मिथ्या दिस्टी च दानं च)** मिथ्यादृष्टि के द्वारा दिये हुए दान को **(पात्रं न गृहिते पुनः)** पात्र ग्रहण नहीं करते हैं **(जदि पात्रं गृहिते दानं)** यदि पात्र उस ज्ञान दान को ग्रहण कर ले तो **(पात्रं अपात्र उच्यते)** वह पात्र, अपात्र कहा जाता है।

मिथ्या दान विषं प्रोक्तं, घृत दुग्धं विनासये ।
नीच संगेन दुग्धं च, गुणं नासन्ति जत्पुनः ।। २९१ ।।

अन्वयार्थ - **(मिथ्या दान विषं प्रोक्तं)** मिथ्या दान विष रूप कहा गया है **(घृत दुग्धं विनासये)** जैसे विष के संयोग से घी दूध भी वैसा ही हो जाता है [अर्थात् विनाश को प्राप्त हो जाता है] **(नीच संगेन दुग्धं च)** इसी प्रकार नीच की संगति से पात्र के दूधवत् **(गुणं नासन्ति जत्पुनः)** सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

मिथ्या दिस्टी संगेन, गुणं च निर्गुनं भवेत् ।
मिथ्या दिस्टी जीवस्य, संगं तिजंति सदा बुधैः ।। २९२ ।।

अन्वयार्थ - **(मिथ्या दिस्टी संगेन)** मिथ्यादृष्टि की संगति से **(गुणं च निर्गुनं भवेत्)** पात्र के गुण, अवगुण हो जाते हैं **(मिथ्या दिस्टी जीवस्य)** इसलिये मिथ्यादृष्टि जीवों का **(संगं तिजंति सदा बुधैः)** संग बुद्धिमानों को हमेशा के लिये छोड़ देना चाहिये।

मिथ्याती संगते जेन, दुर्गति भवति ते नरा ।
मिथ्या संग विनिर्मुक्तं, सुद्ध धर्म रतो सदा ।। २९३ ।।

अन्वयार्थ - (मिथ्याती संगते जेन) इसी प्रकार मिथ्यात्वी संसारासक्त की संगति से **(दुर्गति भवति ते नरा)** जीवों को दुर्गति में जाना पड़ता है अतः **(मिथ्या संग विनिर्मुक्तं)** मिथ्या संग छोड़कर **(सुद्ध धर्म रतो सदा)** शुद्ध धर्म में सदा रत रहना चाहिये।

मिथ्या संग न कर्तव्यं, मिथ्या वास न वासितं ।
दूरेहि त्यजंति मिथ्यात्वं, देसो त्यागं च तिक्तयं ।। २९४ ।।

अन्वयार्थ - (मिथ्या संग न कर्तव्यं) जो मिथ्यात्वी कुगुरु हैं उनके साथ नहीं रहना, उनका संग नहीं करना **(मिथ्या वास न वासितं)** मिथ्यात्वी जहाँ रहते हों, वहाँ रहना भी नहीं चाहिये **(दूरेहि त्यजंति मिथ्यात्वं)** मिथ्यात्वी और मिथ्यात्व को दूर से ही छोड़ देना चाहिये **(देसो त्यागं च तिक्तयं)** अगर देश भी छोड़ना पड़े तो छोड़ देना चाहिये।

मिथ्या दूरेहि वाचंते, मिथ्या संग न दिस्टते ।
मिथ्या माया कुटुम्बस्य, तिक्ते विरचे सदा बुधै ।। २९५ ।।

अन्वयार्थ - (मिथ्या दूरेहि वाचंते) ऐसे मिथ्यात्वी कुगुरुओं से दूर से ही बचकर रहना चाहिये **(मिथ्या संग न दिस्टते)** उनका संग भी नहीं करना चाहिये [साथ ही] **(मिथ्या माया कुटुम्बस्य)** ऐसे मायाचारी करने वाले परिजनों से भी **(तिक्ते विरचे सदा बुधै)** बुद्धिमानों को हटते बचते सदा दूर ही रहना चाहिये।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की महिमा -

मिथ्यातं परम दुष्यानी, संमिक्तं परमं सुषं ।
तत्र मिथ्या माया त्यक्तंति, सुद्धं संमिक्त सार्धयं ।। २९६ ।।

अन्वयार्थ - (मिथ्यातं परम दुष्यानी) क्योंकि मिथ्यात्व तीव्र दुःख की खानि है **(संमिक्तं परमं सुषं)** सम्यक्त्व परम सुख रूप है **(तत्र मिथ्या माया त्यक्तंति)** इसलिये मिथ्यात्व और मायाचार को छोड़कर **(सुद्ध संमिक्त सार्धयं)** शुद्ध सम्यक्त्व की साधना करना चाहिये।

(फ) रात्रि भोजन त्याग एवं जलगालन क्रिया

रात्रि भोजन त्याग का स्वरूप -

अनस्तमितं बे घड़ियं च, सुद्ध धर्म प्रकासये ।
सार्धं सुद्ध तत्त्वं च, अनस्तमितं रतो नरा ।। २९७ ।।

अन्वयार्थ - (अनस्तमितं बे घड़ियं च) अन्थऊ अर्थात् रात्रि भोजन त्याग करने वाले को सूर्य अस्त होने के दो घड़ी पहले भोजन कर लेना चाहिये **(सुद्ध धर्म प्रकासये)** ऐसा अहिंसा धर्म प्रकाशित करता है **(सार्धं सुद्ध तत्त्वं च)** जो शुद्धात्म स्वरूप के साधक हैं [वे] **(अनस्तमितं रतो नरा)** अन्थऊ करने वाले मनुष्य अर्थात् रात्रि भोजन के त्यागी हैं।

अनस्तमितं कृतं जेन, मन वच कायं कृतं ।
सुद्ध भावं च भावं च, अनस्तमितं प्रतिपालये ।। २९८ ।।

अन्वयार्थ - (अनस्तमितं कृतं जेन) जो अनस्तमितं अर्थात् अन्थऊ करते हैं **(मन वच कायं कृतं)** मन वचन काय से रात्रि भोजन त्याग करते हैं **(सुद्ध भावं च भावं च)** और शुद्ध भाव की भावना करते हैं **(अनस्तमितं प्रतिपालये)** वे रात्रि भोजन त्याग व्रत का पालन करते हैं।

अनस्तमितं जेन पालंते, वासी भोजन तिक्तये ।
रात्रि भोजन कृतं जेन, भुक्तं तस्य न सुद्धये ।। २९९ ।।

अन्वयार्थ - (अनस्तमितं जेन पालंते) जो रात्रि भोजन त्याग व्रत पालते हैं **(वासी भोजन तिक्तये)** उन्हें वासी भोजन अर्थात् एक दिन पहले एवं रात्रि का बनाया हुआ भोजन नहीं करना चाहिये **(रात्रि भोजन कृतं जेन)** जो रात्रि का बनाया भोजन करते हैं **(भुक्तं तस्य न सुद्धये)** उनकी भोजन शुद्धि नहीं है अर्थात् उनका रात्रि भोजन त्याग नहीं है।

षादं स्वादं पीवं च, लेपं आहार क्रीयते ।
वासी स्वाद विचलंते, तिक्तं अनस्तमितं कृतं ।। ३०० ।।

अन्वयार्थ - (षादं स्वादं पीवं च) खाद्य, स्वाद्य और पीने वाला पेय **(लेपं आहार क्रीयते)** लेह्य पदार्थ का आहार करना **(वासी स्वाद विचलंते)** बासा भोजन या जिसका स्वाद बिगड़ गया हो [ऐसे पदार्थ को] **(तिक्तं अनस्तमितं कृतं)** रात्रि भोजन का त्याग व्रत पालन करने वाले श्रावक छोड़ देते हैं।

अनस्तमितं पालते जेन, रागादि दोष वंचितं ।
सुद्ध तत्त्वं च भावं च, संमिक दिस्टी च पस्यते ।। ३०१ ।।

अन्वयार्थ - (जेन) जो भव्य जीव **(रागादि दोष वंचितं)** रागादि दोषों से बचकर रहते हैं **(च)** और **(संमिक दिस्टी च पस्यते)** समीचीन अर्थात् यथार्थ दृष्टि से देखते हैं **(सुद्ध तत्त्वं च)** शुद्ध तत्त्व के आश्रय पूर्वक [अपने] **(भावं)** भावों की सम्हाल रखते हैं [वे ज्ञानी] **(अनस्तमितं पालते)** रात्रि भोजन त्याग व्रत का पालन करते हैं।

सुद्ध तत्वं न जानंते, न संमिक्तं सुद्ध भावना ।
श्रावगं तत्र न जानंते, अनस्तमितं न सुद्धये ।। ३०२ ।।

अन्वयार्थ - (सुद्ध तत्त्वं न उत्पादंते) जो शुद्ध तत्त्व शुद्धात्म स्वरूप को नहीं जानते **(न संमिक्तं सुद्ध भावना)** और न जिनके शुद्ध सम्यक्त्व की भावना है **(श्रावगं तत्र न उत्पादंते)** उनमें अभी श्रावकत्व पैदा ही नहीं हुआ **(अनस्तमितं न सुद्धये)** उनका अभी रात्रि भोजन त्याग भी शुद्ध नहीं है।

जे नरा सुद्ध दिस्टी च, मिथ्या माया न दिस्टते ।
देवं गुरं स्रुतं सुद्धं, संमत्तं अनस्तमितं व्रतं ।। ३०३ ।।

अन्वयार्थ - (जे नरा सुद्ध दिस्टी च) जो मनुष्य शुद्ध सम्यक्दृष्टि हैं **(मिथ्या मया न दिस्टते)** जिनमें मिथ्यात्व मायाचार दिखाई नहीं देता **(देवं गुरं स्रुतं सुद्धं)** जो शुद्ध वीतरागी देव, वीतरागी साधु-गुरु, वीतराग विज्ञानमयी शास्त्र, जिनवाणी को मानते हैं **(संमत्तं अनस्तमितं व्रतं)** वे सम्यक्त्वी ही रात्रि भोजन

त्याग व्रत के पालनकर्ता हैं।

पानी छानकर पीना -

पानी गलितं जेनापि, अहिंसा चित्त संकये ।
विलछितं सुद्ध भावेन, फासू जल निरोधनं ।। ३०४ ।।

अन्वयार्थ - (पानी गलितं जेनापि) जो कोई पानी छानकर पीता है **(अहिंसा चित्त संकये)** उसके चित्त में अहिंसा पालन का संकल्प होता है **(विलछितं सुद्ध भावेन)** वह शुद्ध भाव से बिलछानी अर्थात् पानी छानने के बाद कपड़े को उलटकर शेष पानी को यथास्थान पहुँचा देता है **(फासू जल निरोधनं)** और प्रासुक जल को ढककर बंद करके रखता है।

जीव रष्या षट् कायस्य, संकये सुद्ध भावनं ।
स्रावगं सुद्ध दिस्टी च, जलं फासू प्रवर्तते ।। ३०५ ।।

अन्वयार्थ - (जीव रष्या षट् कायस्य) जिसे छह काय के जीवों की रक्षा का **(संकये सुद्ध भावनं)** शुद्ध भावना से संकल्प है **(स्रावगं सुद्ध दिस्टी च)** वह शुद्ध दृष्टि श्रावक है और **(जलं फासू प्रवर्तते)** प्रासुक जल छानकर गर्म कर सेवन करने का यथाविधि पालन करता है।

जलं सुद्धं मनः सुद्धं च, अहिंसा दया निरूपनं ।
सुद्ध दिस्टी प्रमाणं च, अव्रत स्रावग उच्यते ।। ३०६ ।।

अन्वयार्थ - (जलं सुद्धं मनः सुद्धं च) जहाँ जल शुद्ध है और मन शुद्ध है **(अहिंसा दया निरूपनं)** वहाँ अहिंसा और दया का यथाविधि पालन होता है **(सुद्ध दिस्टी प्रमाणं च)** वही सच्चा शुद्ध दृष्टि है और **(अव्रत स्रावग उच्यते)** उसे ही अव्रती श्रावक कहते हैं।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न ०१ - अनन्तानुबंधी कषाय वाला जीव किसे कहा गया है ?

उत्तर - जो जीव अपने सत्स्वरूप को भूलकर शरीरादि पुद्गल कर्मों में एकत्व मानकर राग द्वेष से युक्त है जिसके पाँच इन्द्रियों के विषय, हिंसादि पाप, आर्त-रौद्र ध्यान रूप तीव्र परिणाम होते हैं जो सदैव आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप चार संज्ञाओं में फंसा रहता है उसे अनंतानुबंधी कषाय वाला कहा जाता है। यह जीव सदैव स्वंय की प्रशंसा करता है और बहुत काल तक वैर बांधे रहता है।

प्रश्न ०२ - कौन सी प्रकृतियाँ जीव को संसार में बाँधकर रखती हैं।

उत्तर - तीन मिथ्यात्व - मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व तथा क्रोधादि चार अनंतानुबंधी कषाय ये सात प्रकृतियाँ जीव को संसार में बाँधकर रखती हैं।

प्रश्न ०३ - अनंतानुबंधी लोभ किसे कहते हैं तथा लोभी जीव कैसा होता है ?

उत्तर - आशा, तृष्णा, इच्छा, चाह और मूर्च्छा की तीव्र प्रबलता होना अनंतानुबंधी लोभ कषाय है ऐसा जीव सदैव अपने बढ़ने और दूसरों को गिराने की योजनायें बनाता रहता है तथा निरंतर रौद्र ध्यान

करता है। धन, वैभव का होना पुण्य के उदय का परिणाम है परन्तु यह जीव उसे अपना पुरुषार्थ मानता है यह भूल है।

प्रश्न ०४ - अनंतानुबंधी मान किसे कहते हैं तथा मानी जीव कैसा होता है ?

उत्तर - शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, वैभव, भोग, विलास आदि में तीव्र अनुराग करना और इन्हीं के अहंकार में फूले रहना अनंतानुबंधी मान कहलाता है। मानी जीव सदैव अपनी प्रशंसा एवं दूसरों की निंदा करता है। मिथ्या, माया, निदान, शल्यों में लगा रहता है, स्वयं की मान प्रतिष्ठा का उसे इतना अधिक राग होता है कि वह हेय, ज्ञेय, उपादेय का विचार नहीं करता और सदैव आर्त-रौद्र ध्यान करता रहता है।

प्रश्न ०५ - अनंतानुबंधी माया किसे कहते हैं, मायाचारी जीव कैसा होता है ?

उत्तर - मन, वचन, काय की कुटिलता मायाचारी है, माया कषाय बांस की जड़ के समान टेड़ी-मेढ़ी होती है। संसार के असत् पदार्थ जैसे- शरीर,धन आदि की हमेशा चाह होना अनंतानुबंधी माया है, मायाचारी जीव विश्वासघाती और दुर्बुद्धि होता है।

प्रश्न ०६ - अनंतानुबंधी क्रोध किसे कहते हैं, क्रोध का परिणाम क्या है ?

उत्तर - गुस्सा करने को क्रोध कहते हैं। अनंत संसार का अनुबंध कराने वाले क्रोध के परिणाम को अनंतानुबंधी क्रोध कहते हैं। क्रोध में जीव अकरणीय कार्य कर डालता है, क्रोध के पैदा होते ही जीव का धैर्य, विवेक नष्ट हो जाता है। क्रोध रूपी अग्नि संसार और शरीर का नाश तो करती ही है इससे आत्मा का पतन और धर्म का नाश भी होता है, क्रोध अंधा होता है।

प्रश्न ०७ - शुद्ध धर्म क्या है ?

उत्तर - द्रव्य दृष्टि से सभी जीव शुद्ध स्वभाव रूप चेतन लक्षणमयी समस्त कर्मों से मुक्त त्रिकाल शुद्ध हैं। जब जीव अपने शुद्धात्म स्वरूप का अनुभूति युत श्रद्धान करता है तव वह शुद्ध धर्म को उपलब्ध होता है। शुद्ध धर्म अर्थात् जीव की निर्विकल्प दशा अर्थात् अपने शुद्ध स्वभाव में लीन होना ही धर्म है। उत्तम क्षमादि धर्म के दश लक्षण कहे गये हैं।

प्रश्न ०८ - जीव अपने ममल स्वभाव में क्यों नहीं रहता ?

उत्तर - जीव को पर से एकत्व, अपनत्व, कर्तृत्व, चाह और लगाव है इसलिए वह अपने ममल स्वभाव में नहीं रहता।

प्रश्न ०९ - एकत्व, अपनत्व और कर्तृत्व किसे कहते हैं ?

उत्तर - शरीरादि ही मैं हूँ, ऐसी मान्यता को एकत्व कहते हैं। नाम, पद, परिवारादि मेरे हैं ऐसी मान्यता को अपनत्व कहते हैं। मैं इन सबका कर्ता हूँ ऐसी मान्यता को कर्तृत्व कहते हैं।

प्रश्न १० - चाह, लगाव किसे कहते हैं ?

उत्तर - ऐसा नहीं ऐसा होता ऐसा मानना चाह है। यह अच्छा है वह बुरा है ऐसे विकल्प रहना लगाव है।

प्रश्न ११ - योग की विधि क्या है ?

उत्तर - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह क्रम ही योग की विधि

है।

प्रश्न १२ – ध्यान के बाधक कारण कौन से हैं ?

उत्तर – ध्यान के बाधक कारण इस प्रकार हैं – १. अज्ञान (मिथ्यात्व), २. मूर्च्छा (परिग्रह का महत्व), ३. प्रमाद (इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति) ४. मोह, राग, द्वेष, ५. काम भोग, और ६. शरीरासक्ति यह ध्यान के बाधक कारण कहे गये हैं।

प्रश्न १३ – ध्यान करने वाले ध्याता के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर – १. मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा रखने वाला), २. संसार से विरक्त, ३. क्षोभ रहित, ४. शांत चित्त, ५. वशी (मन को वश में करने वाला), ६.स्थिर (योग की स्थिरता या आसन की दृढ़ता), ७. जितेन्द्रिय, ८. संवृत (नियम संयम से युक्त), ९.धैर्यवान ये ध्यान करने वाले ध्याता के लक्षण हैं।

प्रश्न १४ – सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों के नाम लिखिये ?

उत्तर – शंकादि आठ दोष – शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना।

आठ मद – ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, बलमद, ऋद्धिमद, तपमद, रूपमद।

तीन मूढ़ता – देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता, पाखण्डमूढ़ता।

छह आयतन – कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र, कुदेवोपासक, कुगुरुउपासक और कुशास्त्र उपासक।

प्रश्न १५ – मनुष्य भव में मिले तीन शुभ योगों का कैसे उपयोग करना चाहिए ?

उत्तर – १. बुद्धि से भेदज्ञान, तत्त्व निर्णय कर स्वरूप का चिंतवन करना चाहिए।

२. शरीर से संयम तप का पालन करना चाहिए।

३. पुण्य के उदय में दान परोपकार आदि करना चाहिए।

प्रश्न १६ – मुक्ति मार्ग के पथिक कितने प्रकार के होते हैं नाम लिखिये ?

उत्तर – मुक्ति मार्ग के पथिक लिंग अर्थात् पद के आधार पर तीन प्रकार के होते हैं –

१. उत्तम लिंग – महाव्रती साधु। २. मध्यम लिंग – देशव्रती श्रावक। ३. जघन्य लिंग – अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक।

प्रश्न १७ – अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक की अठारह क्रियायें कौन सी होती हैं ?

उत्तर – १. सम्यक्त्व अर्थात् सच्चे धर्म का श्रद्धान। २. आठ मूलगुण अर्थात् मद्य, माँस, मधु और पाँच उदम्बर फल – बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर एवं पाकर इन पाँच प्रकार के फलों का त्याग ३. आहारादि चार प्रकार का दान देना। ४. रत्नत्रय की साधना। ५. रात्रि भोजन त्याग। ६. पानी छान कर पीना।

प्रश्न १८ – श्रावक की त्रेपन कियायें कौन सी हैं ?

उत्तर – १. आठ मूलगुण, २. बारह व्रत, ३. बारह तप, ४. सम्यक्त्व, ५. ग्यारह प्रतिमा, ६.चार दान, ७. जल गालन, ८. रात्रि भोजन त्याग, ९.रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) की साधना।

प्रश्न १९ - सम्यक्त्व के कितने भेद हैं नाम बताइये ?

उत्तर - सम्यक्त्व के पाँच भेद हैं - १. मूल सम्यक्त्व, २. आज्ञा सम्यक्त्व, ३. वेदक सम्यक्त्व, ४. उपशम सम्यक्त्व, ५. क्षायिक सम्यक्त्व, ६. शुद्ध सम्यक्त्व। (निज शुद्ध स्वभाव की अनुभूति रूप शुद्ध सम्यक्त्व)।

प्रश्न २० - आत्मानुभूति की अपेक्षा सम्यक्त्व के कितने भेद हैं ?

उत्तर - जैसे-मिश्री के एक कण का स्वाद लें और फिर मिश्री की एक डली का स्वाद लें दोनों के ही स्वाद में कोई अंतर नहीं होता केवल मिठास की मात्रा में अंतर होता है। उसी प्रकार एक समय की निज शुद्धात्मानुभूति और सिद्ध परमात्मा को हो रही अनुभूति में कोई अन्तर नहीं होता केवल उसकी स्थिति में भेद होता है इसलिए आत्मानुभूति की अपेक्षा सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन में कोई भेद नहीं है।

प्रश्न २१ - गृहस्थ के जीवन में नियम, संयम के भाव नहीं होने के कौन से संभावित कारण हैं ?

उत्तर - गृहस्थ के जीवन में व्रत, नियम, संयम के भाव नहीं होने के निम्नलिखित संभावित कारण हो सकते हैं - १. गृहस्थ का शरीरादि विषयों की पूर्ति में रत रहना। २. अशुभ पाप कर्म का उदय हो। ३. असाता वेदनीय कर्म के उदय से रोगी हो। ४. नरक, तिर्यंच गति का बंध हो गया हो।

प्रश्न २२ - सम्यक्त्व के बिना ग्यारह अंग नौ पूर्व का पाठ तथा व्याकरण आदि का ज्ञान कार्यकारी है या नहीं ?

उत्तर - जिस प्रकार अंक सहित शून्य हो तो प्रामाणिक है किन्तु अंक बिना शून्य का कोई महत्व नहीं है उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र व्यर्थ ही हैं।

प्रश्न २३ - मिथ्या भाव में रत जीव किसके समान कहा है ?

उत्तर - यदि किसी जीव को सम्यग्दर्शन नहीं है और उसे व्रत संयम के प्रति अश्रद्धान है ऐसा जीव मिथ्या भाव पाप, परिग्रह, विषय-कषाय में रत होने के कारण मृतक के समान कहा गया है।

प्रश्न २४ - अविरत सम्यग्दृष्टि जीव विषय कषाय में रत रहता है फिर उसे सम्यग्दृष्टि क्यों कहा है ?

उत्तर - जीव को सम्यक्त्व या निज शुद्धात्मानुभूति हो जाने पर स्व-पर का भेदज्ञान हो जाता है और उस जीव को श्रद्धा की अपेक्षा कर्ता भोक्तापने का अभाव हो जाता है, उसकी चिंतन की धारा बदल जाती है इसलिए क्रिया नहीं छूटने पर भी उस जीव को सम्यग्दृष्टि कहा है।

प्रश्न २५ - क्या सभी जीवों को तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का बंध होता है ?

उत्तर - केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में सम्यक्त्व सहित जो जीव रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र की साधना करता है और सोलहकारण भावना भाता है ऐसे विरले जीव को ही तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का बंध होता है।

प्रश्न २६ - अव्रत सम्यग्दृष्टि किन बातों का ध्यान रखकर साधना करता है ?

उत्तर - अव्रत सम्यग्दृष्टि अष्टमूलगुण का पालन करता है, पाँच उदम्बर फल, तीन मकार इनका सेवन

नहीं करता, घुने हुए अन्न तथा जिन फलों एवं साग में त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है उनका एवं रस चलित पदार्थों का सेवन नहीं करता तथा त्रस जीवों की रक्षा करता है।

प्रश्न २७ - अचार, मुरब्बा, आदि पदार्थों का सेवन क्यों नहीं करना चाहिए ?

उत्तर - अचार, मुरब्बा, शीरा आदि में संमूर्च्छन एवं त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है, फफूंद आदि पड़ जाती है इनका सेवन करने से बहुत जीवों की हिंसा होती है इसलिए अचारादि का सेवन नहीं करना चाहिए ।

प्रश्न २८ - मांस के त्यागी जीवों को क्या नहीं खाना चाहिए ?

उत्तर - मांस के त्यागी जीवों को निम्नलिखित वस्तुयें नहीं खाना चाहिए - १. एक मुहूर्त (४८ मिनिट) बाद का मक्खन। २. दो दाल वाली वस्तुयें दही या मही के साथ खाने से लार का संयोग होने पर जीवों की उत्पत्ति होती है (इसको द्विदल कहते हैं)। ३. रस चलित वस्तुयें (जिनका स्वाद बिगड़ गया हो)। ४. अचार, मुरब्बा, शीरा। ५. शहद एवं उससे बनी वस्तुयें। ६. कंद, मूल, फूल, बीज, साग, पत्ती आदि तथा वे समस्त वस्तुएँ जिनमें संमूर्च्छन जीव की उत्पत्ति होती है उनका सेवन नहीं करना चाहिए।

प्रश्न २९ - व्यवहार सम्यग्दर्शन एवं निश्चय सम्यग्दर्शन में क्या अन्तर है ?

उत्तर - सात तत्त्व, छह द्रव्य, नौ पदार्थ और पाँच अस्तिकाय, इन सत्ताईस तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। तथा इनमें प्रयोजन भूत जीव तत्त्व मैं स्वयं हूँ, ऐसे भेदज्ञान पूर्वक अपने स्वरूप का श्रद्धान अनुभूति करना निश्चय सम्यग्दर्शन है।

प्रश्न ३० - देव मूढ़ता का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - सांसारिक प्रयोजनवश अर्थात् इससे हमारा भला होगा, धन, वैभव, पुत्र, परिवार बढ़ेगा, रोग, शोक, दूर होंगे ऐसी मान्यता पूर्वक किसी भी कुदेव, अदेव आदि की वन्दना, पूजा भक्ति करना, श्रद्धा रखना, अनुमोदना करना देव मूढ़ता है।

प्रश्न ३१ - कुदेव, अदेव की पूजा करने से लाभ होता दिखाई देता है तो फिर इनकी पूजा क्यों नहीं करें ?

उत्तर - जैन दर्शन वस्तु स्वातंत्र का संदेश देता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। संसार में सब जीवों का परिणमन स्वयं के उपार्जित पाप-पुण्य कर्मों के उदय अनुसार चल रहा है, यदि जीव के पुण्य का उदय होगा तो कोई उसका अहित नहीं कर सकता और यदि पाप का उदय होगा तो कोई भला नहीं कर सकता, सबको अपने-अपने कर्मोदय का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है। कुदेव, अदेव की पूजा करने से कर्म का फल टलता नहीं है और अनंतकाल तक संसार परिभ्रमण का कारण बनता है।

प्रश्न ३२ - पाखण्ड मूढ़ता का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - जो शारीरिक क्रिया को ही धर्म मानते हैं, साधु का भेष बनाकर तथा झूठा शास्त्र लिखकर क्रियाकांड करवाते हैं, धर्म के नाम पर जीवों को ठगते हैं, धर्म के नाम पर व्यापार करते हैं,

राग-द्वेष रूप क्रियाओं को बढ़ावा देते हैं, मिथ्या, माया में फँसाते हैं ऐसे कुगुरु को गुरु मानना पाखण्ड मूढ़ता है।

प्रश्न ३३ - दाता के दान देते समय कैसे भाव होना चाहिए ?

उत्तर - दाता को शुभ भाव पूर्वक दान देना चाहिए, उसमें निम्नलिखित सात गुण होना चाहिए ? १. सांसारिक लाभ की इच्छा न होना । २. दान देते समय क्रोध रहित शांत परिणाम होना । ३. दान देते समय प्रसन्नता होना। ४. मायाचार छल, कपट से रहित होना। ५. ईर्ष्या रहित होना। ६. विवाद, खेद रहित होना। ७. अभिमान रहित होना।

प्रश्न ३४ - उत्तम पात्र या सम्यक्चारित्रवान मुनि का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - उत्तम पात्र जिनरूपी निग्रन्थ साधु हैं, जो जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा प्रमाण चारित्र का पालन करते हैं, जिनने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का यथार्थ पालन किया है, जो ज्ञान ध्यान साधना में सदैव तत्पर रहते हैं वे वीतरागी साधु उत्तम पात्र होते हैं।

प्रश्न ३५ - मध्यम पात्र किसे कहते हैं ?

उत्तर - आज्ञा और वेदक सम्यग्दृष्टि अपने ध्रुव स्वरूप की साधना करते हैं तथा दूसरी आचार्य पदवी के धारी होते हैं वे मध्यम पात्र कहलाते हैं।

प्रश्न ३६ - जघन्य पात्र कौन होते है ?

उत्तर - सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के यथार्थ श्रद्धानी, आत्म अनुभवी, पच्चीस मलदोषों से रहित अपने चैतन्यमयी आत्म स्वभाव की साधना करने वाले अविरत समयग्दृष्टि जघन्य पात्र कहलाते हैं।

प्रश्न ३७ - सम्यग्दृष्टि का चौरासी लाख योनियों में से कितनी योनियों का भव भ्रमण छूट जाता है ?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि का चौरासी लाख योनियों में से ५८ लाख योनियों का भव भ्रमण छूट जाता है।

प्रश्न ३८ - सम्यग्दर्शन होने पर छूटने वाली ५८ लाख योनियों के नाम बताइये ?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि का जिन ५८ लाख योनियों में जन्म नहीं होता उनके नाम इस प्रकार हैं- नित्य निगोद ७ लाख, इतर निगोद ७ लाख, जल काय ७ लाख, अग्नि काय ७ लाख, वायुकाय ७ लाख, पृथ्वीकाय ७ लाख, वनस्पति काय १० लाख, दो इन्द्रिय २ लाख, तीन इन्द्रिय २ लाख, चार इन्द्रिय २ लाख, इस प्रकार ५८ लाख योनियाँ है।

प्रश्न ३९ - सम्यग्दृष्टि जीव फिर कौन सी योनियों में जाता है ?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि जीव जिन योनियों में जाता है वे इस प्रकार हैं - ४ लाख पंचेन्द्रिय तिर्यंच, ४ लाख नारकी, ४ लाख देव, ४ लाख मनुष्य।

प्रश्न ४० - दान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर - दान चार प्रकार का होता है - ज्ञान दान, आहार दान, औषधि दान, अभय दान।

प्रश्न ४१ - ज्ञान दान किसे कहते हैं ?

उत्तर - पाठशाला पढ़ाना, शास्त्र प्रकाशन कराना, विद्यालय की स्थापना करना, गरीब बच्चों की पढ़ने

में मदद करना, सच्चे ज्ञान में निमित्त बनना आदि ज्ञान दान कहलाता है।

प्रश्न ४२ - आहार दान किसे कहते हैं ?

उत्तर - तीन प्रकार के पात्रों को यथायोग्य भक्ति पूर्वक आहार कराना आहारदान है। यह धर्म की वृद्धि और शरीर की स्थिरता का कारण है।

प्रश्न ४३ - औषधि दान किसे कहते हैं ?

उत्तर - पात्रों को रोग ग्रस्त जानकर औषधि देना, औषधालय खुलवाना, रोगियों की सेवा करना, आदि औषधि दान है।

प्रश्न ४४ - अभयदान किसे कहते हैं।

उत्तर - पात्रों को आश्रय देना, निर्भय करना एवं उनके संकटों का निवारण करना वैयावृत्ति आदि अभय दान है।

प्रश्न ४५ - दान देने से क्या लाभ है ?

उत्तर - जो ज्ञानी वीतराग भाव से दान करते हैं, पात्रों के आत्मीक गुणों में प्रीति रखते हैं, पात्रों में रत्नत्रय की भावना दृढ़ रहे ऐसी भावना मन में रखकर दान करते हैं तथा दान देने वालों की अनुमोदना, प्रभावना, प्रशंसा करते हैं। संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य की भावना भाते हैं, उनके परिणामों में बहुत निर्मलता हो जाती है, जिससे उन जीवों के बहुत से पाप कर्म क्षय हो जाते हैं तथा जितना शुभ राग रूप भाव होता है, उससे अतिशयकारी पुण्य बंध होता है।

प्रश्न ४६ - पात्र और अपात्र दान की क्या महिमा है ?

उत्तर - पात्र अपात्र विशेषत्वं, पन्नग गवं च उच्यते।
तृण भुक्तं च दुग्धं च, दुग्ध भुक्तं विषं पुनः।। श्रा. गा. २७७।।

आचार्य तारण स्वामी जी ने पात्र और अपात्र को गौ और सर्प की तरह कहा है। जैसे - गाय को घास खिलाने पर वह दूध देती है और सर्प को दूध पिलाने पर भी वह जहर उगलता है। इसी प्रकार पात्र जीवों को थोड़ा और सहज दान देने पर वह विशेष फलदायी होता है जबकि अपात्र को विशेष दान देने पर भी वह दुर्गति का कारण होता है।

प्रश्न ४७ - जिनागम में महिमामय दान किसको कहा गया है ?

उत्तर - दाता सम्यग्दृष्टि हो और पात्र भी सम्यग्दृष्टि हो तो यह दान जिनागम में अत्यंत महिमामय कहा गया है।

प्रश्न ४८ - व्यवहार और निश्चय दान का क्या फल है ?

उत्तर - श्रावक व्यवहार से तीन प्रकार के पात्रों को चार प्रकार का दान देता है वह व्यवहार दान स्वर्गादि सद्गति का कारण है तथा अपने उपयोग को अपने स्वभाव में लगाता है यह निश्चय दान मुक्ति का कारण है।

प्रश्न ४९ - पात्रदान से क्या लाभ है ?

उत्तर - पात्रदान को वट बीज की तरह कहा गया है। जैसे - वट का बीज बहुत छोटा होता है किन्तु वृक्ष

बनने पर वह अत्यंत विशाल हो जाता है, उसी प्रकार जैसे पात्रों को दिया गया दान बहुत छोटा होता है किन्तु पात्रदान से ज्ञान की वृद्धि होती है और जीव संसार से पार हो जाता है, इसलिये बुद्धिमानजन हमेशा दान देने की भावना भाते हैं।

प्रश्न ५० - पात्र दान की प्रेरणा का क्या कारण है ?

उत्तर - पात्र दान मोक्ष मार्ग का कारण है और कुपात्र दान दुर्गति का कारण है इसलिये भव्य जीव विचार करके पात्र दान में रत रहते हैं।

प्रश्न ५१ - निर्मल दान कब होता है ?

उत्तर - पात्र दातार को शिक्षा देता है, दाता पात्र को दान देता है। जहाँ पात्र और दाता दोनों शुद्ध होते हैं वहीं शुद्ध अथवा निर्मल दान होता है।

प्रश्न ५२ - श्रुतज्ञानी सम्यक्त्वी की क्या महिमा होती है ?

उत्तर - श्रुतज्ञानी सम्यक्त्वी जीव लोकालोक को अप्रत्यक्ष जानने लगता है।

प्रश्न ५३ - मिथ्यादृष्टि जीव किसमें रत रहता है ?

उत्तर - जिस जीव को सम्यक्त्व नहीं है वह अनेक विभ्रम, संशय, शल्य, शंका, भय आदि संकल्प-विकल्पों में रत रहता है।

प्रश्न ५४ - पानी छानने की क्या विधि है ?

उत्तर - सूत का दोहरा साफ कपड़ा लें जो बर्तन के मुँह से तीन गुना बड़ा हो तथा इतना मोटा हो कि उसमें से सूर्य की किरणें दिखाई न दें ऐसे कपड़े से पानी छानना चाहिए तथा कपड़े को उल्टा कर दूसरे बर्तन में बिलछानी अलग कर लेना चाहिए ताकि कपड़े पर रुके जीव बिलछानी में आ जायें और बिलछानी को जहाँ से पानी लाया गया है वहाँ वापस डालना चाहिए।

प्रश्न ५५ - छने पानी की मर्यादा कितने समय की होती है ?

उत्तर - छने पानी की मर्यादा सामान्यतया ४८ मिनिट की होती है। लोंग काली मिर्च डालने पर ६ घंटे की होती है। सामान्य गर्म करने पर १२ घंटे की होती है। उबालने पर २४ घंटे की होती है।

प्रश्न ५६ - पानी छानकर पीने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - पानी छानने के पीछे अदृश्य, सूक्ष्म जीवों (जो हमारी ही तरह अनंतशक्तियों के स्वामी हैं)के प्रति रक्षा का अभिप्राय है और जिस प्रकार हम पानी छानकर पीते हैं, उसी प्रकार चित्त में चलने वाले रागादि भावों से भिन्न अपने शुद्धात्म स्वरूप को ग्रहण करें निश्चय से यही पानी छानकर पीने का अभिप्राय है।

प्रश्न ५७ - भोजन कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर - भोजन चार प्रकार का होता है -

खाद्य - अन्न आदि से बनाया हुआ भोजन खाद्य कहलाता है।

स्वाद्य - मुंह साफ करने के लिये सौंफ, लोंग, इलायची आदि।

लेह्य - मलाई, रबड़ी आदि चाट कर खाने वाली वस्तुएँ।

पेय - पीने वाले पदार्थ दूध, शर्बत, पानी आदि।

प्रश्न ५८ - रात्रि भोजन त्याग का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - रात्रि भोजन त्याग में सूक्ष्म जीवों के प्रति रक्षा, स्वयं के प्रति दया तथा गृद्धता और प्रमाद से बचने का आशय है, वस्तुत: प्रमाद ही हिंसा और कषाय की जड़ है। श्रावक रात्रि में भोजन नहीं करता इसका अभिप्राय है कि अज्ञान के अंधकार में कोई भी कार्य नहीं करना, जो व्रतादि का पालन या अन्य धार्मिक क्रियाओं का पालन किया जाये वह सब विवेक पूर्वक किया जाये यही रात्रि भोजन त्याग का अभिप्राय है।

प्रश्न ५९ - वस्तुत: रात्रि भोजन त्याग किनका होता है ?

उत्तर - जो जीव मन, वचन, काय से रात्रि भोजन का त्याग करते हैं और शुद्धात्मा की निरंतर भावना भाते हैं, व्यवहारिक जीवन में चार प्रकार के आहार का रात्रि में सेवन नहीं करते और सूर्यास्त से दो घड़ी पहले भोजन करते हैं उनका ही वस्तुत: रात्रि भोजन का त्याग होता है।

निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न ६० - श्री तारण तरण श्रावकाचार जी ग्रन्थ (गाथा १६८ से ३०६) के आधार पर धर्म का स्वरूप बताइये ?

उत्तर - धर्म का प्राारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है। सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्चा श्रद्धान। सम्यग्दर्शन पूर्वक ही सम्यग्ज्ञान होता है और गुणस्थानानुसार क्रमश: चारित्र भी शुद्ध होता है, इसी को रत्नत्रय कहते हैं। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:' (आचार्य उमास्वामी), यही रत्नत्रय धर्म का आरंभ भी है और मोक्षमार्ग भी है।

अत: सम्यक्त्व की प्राप्ति ही इस मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इसके लिये सर्वप्रथम क्या करें ? 'सदाचार की भूमिका में ही सम्यक्त्व का बीज बोया जाता है।' जैन श्रावक श्रद्धावान, विवेकवान, क्रियावान होता है। अष्ट मूलगुणों का पालन करना उसका प्रथम कर्तव्य है। ये अष्ट मूलगुण निम्न हैं -

- पाँच उदम्बर फल एवं तीन मकार का त्याग करना। अर्थात् - (बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर, मद्य, मांस, मदिरा) का त्याग करना।
- रात्रि भोजन का त्याग, अभक्ष्य का त्याग अर्थात् (बासी भोजन, सड़े-गले फल, कंदमूल, चलित रस, द्विदल, अचार, मुरब्बा, घुना हुआ अनाज आदि अभक्ष्य का त्याग करना।)
- छने जल का सेवन (उपयोग) करना।
- अन्याय व अनीति का बुद्धि पूर्वक त्याग करना।
- पाँच पाप (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह) एवं सप्त व्यसन (जुआं खेलना, मांस, मदिरा का सेवन, चोरी, वेश्या गमन, शिकार, परस्त्री रमण) का त्याग करना।

सदाचारी ग्रहस्थ श्रावक जब सम्यक्त्व की भावना भाता है तब सर्वप्रथम वह ग्रहीत मिथ्यात्व को छोड़ता है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र का श्रद्धान नहीं करता, अदेव को देव नहीं मानता। वह सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का ही श्रद्धान करता है। प्रयोजनभूत सात तत्वों (जीव,

अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष) का चिंतवन करता है, सम्यक् श्रद्धान करता है। छह द्रव्यों के सम्यक् स्वरूप का चिंतवन उसे दृढ़ करता है। अग्रहीत मिथ्यात्व अर्थात् शरीर व आत्मा में एकत्व बुद्धि, स्त्री, पुत्रादि में ममत्व बुद्धि का भी त्याग करता है। स्व-पर का भेदविज्ञान करता है। इस प्रकार व्यवहार सम्यक्त्व का यथाविधि पालन करता है।

सम्यक्त्व ग्रहण होने पर सम्यक्दृष्टि को सम्यक्त्व के आठ अंग, आठ गुण प्रगट हो जाते हैं, मिथ्या देव, गुरु, धर्म की मान्यताएँ छूट जाती हैं, तीन मूढ़ताएँ छूट जाती हैं। छह अनायतन से भी वह दूर हो जाता है। उसके आठ मद नहीं होते, सात भय भी नहीं होते। अर्थात् वह -

- सम्यक्त्व के आठ अंग - निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना।
- सम्यक्त्व के आठ गुण - संवेग, निर्वेद, निंदा, गर्हा, उपशमम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये प्रगट हो जाते हैं।
- सम्यक्त्व के आठ दोष - शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना।
- आठ मद - ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, बलमद, ऋद्धिमद, तपमद, ऐश्वर्यमद।
- सात भय - इह लोक भय, परलोक भय, मरण, वेदना, अनरक्षा, अगुप्ति, अकस्मात भय।
- तीन मूढ़ता - लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, पाखंडमूढ़ता।
- छह अनायतन - कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरु को मानने वाले, कुदेव को मानने वाले और कुधर्म को मानने वाले इनकी संगति से दूर ही रहता है।

एक बार सम्यक्त्व होने पर ५८ लाख क्षुद्र योनियों का अभाव हो जाता है। वे ५८ लाख योनियाँ हैं - (१) नित्यनिगोद ७ लाख, (२) इतरनिगोद ७ लाख, (३) जलकाय ७ लाख, (४)अग्निकाय ७ लाख, (५) वायुकाय ७ लाख, (६) पृथ्वीकाय ७ लाख, (७) वनस्पतिकाय १० लाख, (८) दो इन्द्रिय २ लाख, (९) तीन इन्द्रिय २ लाख, (१०) चार इन्द्रिय २ लाख।

विशेष - अनादि मिथ्यादृष्टि जब सर्वप्रथम पाँच लब्धि (क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण) पूर्वक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है तब उसे उपशम सम्यक्त्व ही होता है। दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व) का तथा अनंतानुबंधी चारों (क्रोध, मान, माया, लोभ) कषायों का उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय करता है। उपशम करता है तो उपशम सम्यक्त्व होता है और क्षय होने पर क्षायिक सम्यक्त्व होता है। क्षयोपशम व क्षायिक सम्यक्त्व उपशम पूर्वक ही होता है। इस समय उसे चौथा अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में स्वरूपाचरण या सम्यक्त्वाचरण चारित्र प्रगट होता है।

मिथ्यात्व के साथ अनंतानुबंधी कषायों का सुमेल है, ये कषायें अनंत संसार का अनुबंध कराने वाली हैं अतः इनके उपशम हुए बिना सम्यग्दर्शन प्रगट ही नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान होता है एवं क्रमशः चारित्र दशा प्रगट होती है। पांचवाँ देशचारित्र गुणस्थान अप्रत्याख्यानावरणी कषायों के उपशम से होता है। इसमें अणुव्रतों के पालन, ग्यारह प्रतिमाओं के पालन, क्षुल्लक ऐलक दशा प्राप्त करने के भाव होते हैं। चौथे गुणस्थान में मिथ्या शल्य तो चली ही जाती है, माया व निदान शल्य भी अतिक्षीण हो जाती है। इस चौथे गुणस्थान में जो शुद्धात्मा की अनुभूति होती है उसमें और सिद्ध भगवान की आत्मानुभूति में कोई अंतर नहीं है।

सम्यक्त्व प्रगट होते ही जीव मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं का स्वामी हो जाता है। उसमें जीवों के प्रति करुणा वात्सल्य का भाव जाग्रत हो जाता है और यही भाव जीव मात्र के प्रति सतत् दया, अहिंसा का संदेश देता है। केवली या श्रुतकेवली का सानिध्य मिलने पर, उत्कृष्ट विशुद्धि के बल पर चौथे ही गुणस्थान से तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारम्भ हो सकता है। अहिंसा प्रधान जैन धर्म में जितनी क्रियाएँ होती हैं वे सब अहिंसा पर आधारित होती हैं। वस्तुतः विवेकवान श्रावक षट्कर्मों का नित्यप्रति पालन करता है -

देवपूजा गुरूपास्ति, स्वाध्याय संयमस्तपः ।
दानं चेति ग्रहस्थानां, षट् कर्माणि दिने दिने ।।

सिद्धों की आराधना, शुद्धात्मा की आराधना, गुरु की उपासना, नियमित सत्शास्त्रों का स्वाध्याय, यथाशक्ति संयम और तप-व्रत आदि क्रियाओं में रत रहकर चार प्रकार के दान में अपनी चित्त वृत्ति को लगाता है। दान चार प्रकार का कहा गया है - औषधि, शास्त्र, अभय, आहार।

- आहार दान से आहार की कमी नहीं रहती। ज्ञान दान से ज्ञान की वृद्धि होती है। औषधि से दान से शरीर में व्याधि नहीं रहती और अभय दान से भय का क्षय हो जाता है।

दान हमेशा पात्र जीवों को ही देना चाहिये। सत् पात्र को दिया गया दान उत्तमगति को प्राप्त कराता है।

चौथे गुणस्थान से ही धर्म ध्यान का आरंभ हो जाता है और सातवें गुणस्थान तक धर्म ध्यान रहता है। धर्म ध्यान चार प्रकार का होता है - आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। संस्थानविचय के भी चार भेद होते हैं - पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान। पिंडस्थ ध्यान के अंतर्गत पाँच धारणाएँ होती हैं - पार्थिवी, आग्नेयी, वायु, जल और तत्वरूपवती।

स्वर और व्यंजनों के द्वारा जो ध्यान किया जाता है वह पदस्थ ध्यान है। ज्ञानपिंड आत्मा में स्थित होना पिंडस्थ ध्यान है। योगी पाँच धारणाओं के आधार से अपने आत्मगुणों का चिंतन करते हैं। चित्स्वरूप का ध्यान करना, स्वरूप में स्थित होना रूपस्थ ध्यान है। समस्त रूपों से अतीत अपने स्वरूप प्रगट, सर्व कर्म मलों से रहित ज्ञानमयी शुद्ध ध्रुव स्वभाव में स्थित होना रूपातीत ध्यान है। इस ध्यान रूपी अग्नि से ही कर्मों का क्षय होता है। धर्म धुरी को धारण करने के लिये उपर्युक्त विधि से सम्यक्त्व पूर्वक ध्यान की आराधना ही मोक्षमार्ग है।

अध्याय २

[अ]

श्री द्रव्यसंग्रह - श्री नेमिचंद्राचार्य जी

श्री आचार्य नेमिचंद्र जी परिचय एवं ग्रन्थ प्रस्तावना

अ - मंगलाचरण, सात तत्त्व विवेचन एवं पुण्य-पाप कथन

ब - मोक्षमार्ग का स्वरूप

स - ध्यान सम्बंधी विवेचन

[ब] आचार्य परिचय

द्रव्य संग्रह

नेमिचन्द्र मुनि –

अभी तक यह धारणा चली आ रही थी कि द्रव्यसंग्रह या बृहद् द्रव्यसंग्रह के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती हैं। परन्तु अब नये प्रमाणों के आलोक में यह मान्यता परिवर्तित हो गई है। अब समीक्षक विद्वानों का अभिमत है कि द्रव्यसंग्रह के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती से भिन्न अन्य कोई नेमिचन्द्र हैं, जिन्हें नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव या नेमिचन्द्र मुनि कहा गया है। बृहद् द्रव्यसंग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेव ने ग्रन्थ का परिचय देते हुए लिखा है –

''अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपति राजाभोजदेवाभिधान कलिकालचक्रवर्तिसम्बंधिन: श्रीपालमंडलेश्वरस्य सम्बंधिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थंकर चैत्यालये शुद्धात्मद्रव्य संवित्तिसमुत्पन्नसुखामृत रसास्वादविपरीत नारकादिदु:खभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्न सुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रय भावनाप्रियस्य भव्यवर पुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारि सोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्र सिद्धांतिदेवै: पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकार शुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्ति: प्रारभ्यते।''

मालवदेश में धारानगरी के स्वामी कलिकाल सर्वज्ञ राजा भोजदेव थे। उनके सम्बंध में मंडलेश्वर श्रीपाल के आश्रम नामक नगर में श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के चैत्यालय में शुद्धात्म द्रव्य के स्वसंवेदन से उत्पन्न सुखामृतरस का स्वाद तथा इससे विपरीत नारकादि दु:खों से भयभीत परमात्म स्वरूप की भावना से उत्पन्न सुखामृत रस के पिपासु को भेदाभेद रत्नत्रय की भावना जिसे प्रिय है ऐसे भव्य श्रेष्ठ भाण्डागार आदि अनेक नियोगों के अधिकारी सोम नामक राज श्रेष्ठि के लिये श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव ने पहले २६ गाथाओं के द्वारा लघु द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की। पश्चात् विशेष तत्त्वों के ज्ञान के लिये बृहद् द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की, उसकी व्याख्या को मैं प्रारम्भ करता हूँ।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बृहद् द्रव्यसंग्रह और लघु द्रव्यसंग्रह के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव हैं।

श्री डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया ने द्रव्यसंग्रह की प्रस्तावना में नेमिचन्द्र नाम के विद्वानों का उल्लेख किया है। इनके मतानुसार प्रथम नेमिचन्द्र गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार और क्षपणासार जैसे सिद्धांत ग्रन्थों के रचयिता हैं। इनकी उपाधि सिद्धांत चक्रवर्ती थी और गंगवंशी राजा राचमल्ल के प्रधान सेनापति चामुण्डराय के गुरु भी थे। इनका अस्तित्वकाल वि. सं. १०३५ या ई. सन् ९७८ के पश्चात् है।

द्वितीय नेमिचन्द्र वे हैं, जिनका उल्लेख वसुनन्दि सिद्धांतिदेव ने अपने उपासकाध्ययन में किया है और जिन्हें जिनागम रूप की वेलातरंगों से धुले हृदय वाला तथा सम्पूर्ण जगत में विख्यात लिखा है –

सिस्सो तस्य जिणागम जलणिहि वेलातरंग धोयमणो ।
संजाओ सकल जए विक्खाओ णेमिचंदु त्ति ।।
तस्स पसाएण मए आइरिय परंपरागयं सत्थं ।
वच्छल्लयाए रइयं भवियाणमुवासयज्झयणं ।।

इन नेमिचन्द्र के नयनंदि गुरु थे और वसुनंदि सिद्धांतिदेव शिष्य थे।

तृतीय नेमिचन्द्र वे हैं जिन्होंने सिद्धांत चक्रवर्ती नेमिचन्द्र के गोम्मटसार पर जीवतत्त्वप्रदीपिका नाम की संस्कृत टीका लिखी थी। यह टीका अभयचन्द्र की मंदप्रबोधिका और केशव वर्णी की संस्कृत मिश्रित कन्नड़ टीका के आधार पर रची गई है।

चतुर्थ नेमिचन्द्र (संभवतः) द्रव्यसंग्रह के रचयिता हैं अतएव प्रथम और तृतीय नेमिचन्द्र को तो एक नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे दोनों दो व्यक्ति हैं। सिद्धांत चक्रवर्ती मूल ग्रन्थकार हैं और तृतीय नेमिचन्द्र टीकाकार हैं। प्रथम नेमिचन्द्र का समय विक्रम की ११ वीं (ई. सन् ११) शताब्दी है और तृतीय का ईस्वी सन् की १६वीं शताब्दी है। अतः इन दोनों नेमिचन्द्रों के पौर्वापर्यय में ५०० वर्षों का अंतराल है। इसी प्रकार प्रथम और द्वितीय नेमिचन्द्र भी एक नहीं हैं। प्रथम नेमिचन्द्र विक्रम की ११वीं शताब्दी में हुए हैं तो द्वितीय उनसे १०० वर्ष बाद विक्रम की १२ वीं शताब्दी में, क्योंकि द्वितीय नेमिचन्द्र वसुनंदि सिद्धांतिदेव के गुरु थे और वसुनंदि का समय वि. स. ११५० के लगभग है। इन दोनों नेमिचन्द्रों की उपाधियाँ भी भिन्न हैं। प्रथम की उपाधि सिद्धांत चक्रवर्ती है तो द्वितीय की सिद्धांतिदेव है।

प्रथम और चतुर्थ नेमिचन्द्र भी भिन्न हैं। प्रथम अपने को सिद्धांत चक्रवर्ती कहते हैं तो चतुर्थ अपने को तनुसूत्रधर कहते हैं। बृहद् द्रव्यसंग्रह के संस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेव ने द्रव्यसंग्रहकार को सिद्धांतिदेव लिखा है, सिद्धांत चक्रवर्ती नहीं। अतएव हमारी दृष्टि में द्रव्यसंग्रह के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव हैं।

(अ) द्रव्य संग्रह - श्री नेमिचंद्राचार्य जी

(अ) मंगलाचरण, सात तत्त्व विवेचन एवं पुण्य-पाप कथन

जीवमजीवं दव्वं जिणवर वसहेण जेण णिद्दिट्ठं ।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ।। १ ।।

अन्वयार्थ - **(जेण)** जिन **(जिणवरवसहेण)** जिनवर वृषभ अर्थात् तीर्थंकर देव या चौबीस तीर्थंकर भगवंतों के द्वारा **(जीवमजीवं)** जीव और अजीव **(दव्वं)** द्रव्य **(णिद्दिट्ठं)** का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। **(देविंदविंदवंदं)** इन्द्रों के समूह से नमस्कार करने योग्य **(तं)** उन तीर्थंकर भगवान को [अहम् = मैं नेमिचन्द्र] **(सिरसा)** शिर नवा कर **(सव्वदा)** हमेशा **(वंदे)** नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ - जीव अजीव द्रव्य के स्वरूप का जिन तीर्थंकर अर्थात् जिनवर वृषभों ने निर्देश किया है जो विंद पद के अभिलाषी देवेन्द्रों द्वारा वंदनीय हैं उन्हें मैं (नेमिचंद्र) सिर से (उत्तम अंग से) नमस्कार करता हूँ।

प्रश्न ००१ - द्रव्य के कितने भेद हैं ?

उत्तर - द्रव्य के दो भेद हैं - जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। सहज चैतन्य लक्षण वाला जीव द्रव्य और पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि पाँच भेद वाला अजीव द्रव्य है।

प्रश्न ००२ - मंगलाचरण क्यों किया जाता है ?

उत्तर - नास्तिकता का त्याग, शिष्टाचार का पालन, पुण्य की प्राप्ति एवं ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये मंगलाचरण किया जाता है।

प्रश्न ००३ - इस ग्रन्थ का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर - व्यवहार से छह द्रव्यादि का परिज्ञान और निश्चय से निज निरंजन शुद्धात्म संवित्ति से उत्पन्न निर्विकार परमानंद स्वरूप स्वसंवेदन ज्ञान तथा परम शुद्ध निश्चय नय से स्वसंवेदन ज्ञान के फलस्वरूप अनंत सुख की प्राप्ति इस ग्रन्थ का प्रयोजन है।

जीव द्रव्य के अधिकार

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ।। २ ।।

अन्वयार्थ - **(सो)** वह जीव **(जीवो)** जीने वाला **(उवओगमओ)** उपयोगमय **(अमुत्ति)** अमूर्तिक **(कत्ता)** कर्मों का कर्त्ता **(सदेहपरिमाणो)** छोटे - बड़े निज शरीर के बराबर रहने वाला, **(भोत्ता)** कर्मों के फल को भोगने वाला, **(संसारत्थो)** संसारी, **(सिद्धो)** सिद्ध और **(विस्ससा)** स्वभाव से **(उड्ढगई)** ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

भावार्थ - प्रत्येक जीव जीने वाला, उपयोगमय, अमूर्तिक, कर्मों का कर्ता, नामकर्म के उदय से प्राप्त अपने छोटे-बड़े शरीर के बराबर रहने वाला, शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगने वाला, संसारी, सिद्ध और ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

प्रश्न ००४ - जीव द्रव्य का वर्णन कितने अधिकारों में किया गया है ?

उत्तर - जीव द्रव्य का वर्णन नौ अधिकारों में किया गया है -
१. जीवत्व अधिकार, २. उपयोग अधिकार, ३. अमूर्तिक अधिकार, ४. कर्तृत्व अधिकार, ५.स्वदेह परिमाण अधिकार, ६. भोक्तृत्व अधिकार, ७. संसारित्व अधिकार, ८. सिद्धत्व अधिकार, ९. ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार।

जीवत्व अधिकार

तिक्काले चदुपाणा इंदिय बलमाउ आणपाणो य ।
ववहारा सो जीवो णिच्छय णयदो दु चेदणा जस्स ।। ३ ।।

अन्वयार्थ - **(जस्स)** जिसके **(ववहारा)** व्यवहार नय से **(तिक्काले)** तीनों कालों में **(इंदिय)** इंद्रिय **(बलं)** बल **(आउ)** आयु **(च)** और **(आणपाणो)** श्वासोच्छ्वास ये **(चदुपाणा)** चार प्राण होते हैं **(दु)** और **(णिच्छयणयदो)** निश्चय नय से **(जस्स)** जिसके **(चेदणा)** चेतना [होदि = होती है] **(सो)** वह **(जीवो)** जीव है।

भावार्थ - जिसके यथायोग्य इन्द्रियाँ, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास प्राण होते हैं, वह व्यवहार नय से जीव है। जिसके चेतना प्राण होता है वह निश्चय से जीव है।

प्रश्न ००५ - अध्यात्म भाषा से नयों का लक्षण बताइये या नयचक्र के मूलभूत छह नय संक्षेप में समझाइये ?

उत्तर - अध्यात्म भाषा से नयों का लक्षण कहते हैं कि सर्व जीव शुद्ध-बुद्ध, एक स्वभाव वाले हैं, यह शुद्ध निश्चय नय का लक्षण है। 'रागादि ही जीव है' यह अशुद्ध निश्चय नय का लक्षण है। गुण और गुणी अभेद होने पर भी भेद का उपचार करना यह सद्भूत व्यवहार का लक्षण है, और भेद होने पर भी अभेद का उपचार करना यह असद्भूत व्यवहार का लक्षण है। वह इस प्रकार - 'जीव के केवलज्ञानादि गुण हैं' यह अनुपचरित शुद्ध सद्भूत व्यवहार का लक्षण है। 'जीव के मतिज्ञानादि विभाव गुण हैं' यह उपचरित अशुद्ध सद्भूत व्यवहार का लक्षण है। संश्लेष सम्बंध वाले पदार्थ 'शरीरादि मेरे हैं' यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार का लक्षण है। जहाँ संश्लेष सम्बंध नहीं है वहाँ 'पुत्रादि मेरे हैं' वह उपचरित असद्भूत व्यवहार का लक्षण है। इस प्रकार नयचक्र के मूलभूत छह नय संक्षेप में जानना चाहिये।

प्रश्न ००६ - मूल में प्राण कितने होते हैं तथा उनके उत्तर भेद कितने होते हैं ?

उत्तर - मूल में प्राण चार होते हैं। इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इनके उत्तर भेद दस होते हैं : पाँच इन्द्रियाँ - स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण। तीन बल - मन बल, वचन बल, काय बल। आयु और श्वासोच्छ्वास।

प्रश्न ००७ - व्यवहार नय से जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिसको तीनों कालों में चार प्राण पाये जाते हैं, उसे व्यवहार नय से जीव कहते हैं।

प्रश्न ००८ - इन्द्रिय प्राण किसे कहते हैं ?

उत्तर - द्रव्येन्द्रिय के निमित्त से उत्पन्न हुए क्षायोपशमिक भाव को इन्द्रिय प्राण कहते हैं।

प्रश्न ००९ - बल प्राण किसे कहते हैं ?

उत्तर - अनंत वीर्य लक्षण बल प्राण से अनंतवें भाग प्रमाण मन, वचन और काय के निमित्त से उत्पन्न हुए बल को बल प्राण कहते हैं।

प्रश्न ०१० - आयु प्राण किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिसके उदय से भव सम्बंधी जीवन रहता है और क्षय से मरण होता है उसे आयु प्राण कहते हैं।

प्रश्न ०११ - श्वासोच्छ्वास प्राण किसे कहते हैं ?

उत्तर - शरीर में किसी भी प्रकार से वायु के आने-जाने को श्वासोच्छ्वास प्राण कहते हैं। मुख से श्वास उच्छ्वास निकलना, रोम छिद्रों से वायु का आना-जाना, नाड़ी द्वार संचरण होना इत्यादि।

प्रश्न ०१२ - निश्चय नय किसे कहते हैं ?

उत्तर - वस्तु के शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करने वाले ज्ञान को निश्चय नय कहते हैं। जैसे - मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा कहना।

प्रश्न ०१३ - निश्चय नय से जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर - शुद्ध निश्चय नय से उपादेयभूत शुद्ध चेतना जिसके है उसे जीव कहते हैं।

प्रश्न ०१४ - एकेन्द्रिय जीव के कितने प्राण होते हैं ?

उत्तर - एकेन्द्रिय जीव के चार प्राण होते हैं - स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

प्रश्न ०१५ - दो इन्द्रिय जीव के कितने प्राण होते हैं ?

उत्तर - दो इन्द्रिय जीव के छह प्राण होते हैं - स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, वचन बल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

प्रश्न ०१६ - तीन इन्द्रिय जीव के कितने प्राण होते हैं ?

उत्तर - तीन इन्द्रिय जीव के सात प्राण होते हैं - स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, वचन बल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

प्रश्न ०१७ - चार इन्द्रिय जीव के कितने प्राण होते हैं ?

उत्तर - चार इन्द्रिय जीव के आठ प्राण होते हैं - स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, वचन बल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

प्रश्न ०१८ - असैनी पंचेन्द्रिय जीव के कितने प्राण होते हैं ?

उत्तर - असैनी पंचेन्द्रिय जीव के नौ प्राण होते हैं - स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, कर्ण इन्द्रिय, वचन बल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

प्रश्न ०१९ - सैनी पंचेन्द्रिय जीव के कितने प्राण होते हैं ?

उत्तर - सैनी पंचेन्द्रिय जीव के दस प्राण होते हैं - स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, कर्ण इन्द्रिय, मन बल, वचन बल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

उपयोगाधिकार का वर्णन

उवओगो दुवियप्पो दंसण णाणं च दंसणं चदुधा ।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ।। ४ ।।

अन्वयार्थ – **(उवओगो)** उपयोग **(दुवियप्पो)** दो प्रकार का है **(दंसण)** दर्शनोपयोग **(च)** और **(णाणं)** ज्ञानोपयोग [उनमें] **(दंसणं)** दर्शनोपयोग **(चक्खु)** चक्षुदर्शन, **(अचक्खु)** अचक्षुदर्शन **(ओही)** अवधिदर्शन **(अध)** और **(केवलं)** केवलदर्शन [इस प्रकार] **(दंसणं)** दर्शनोपयोग **(चदुधा)** चार प्रकार का **(णेयं)** जानना चाहिये।

भावार्थ – उपयोग दो प्रकार का है – दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। दर्शनोपयोग चार प्रकार का है – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

प्रश्न ०२० – उपयोग का स्वरूप और भेदों को समझाइये ?

उत्तर – आत्मा के चैतन्यानुविधायी (चैतन्य का अनुगमन करने वाले) परिणाम को उपयोग कहते हैं। उपयोग के दो भेद हैं – दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। जो वस्तु के सामान्य अंश को ग्रहण करता है उसे दर्शनोपयोग कहते हैं। जो वस्तु के विशेष अंश को ग्रहण करता है उसे ज्ञानोपयोग कहते हैं। दर्शन निर्विकल्प है और ज्ञान सविकल्प है।

प्रश्न ०२१ – दर्शनोपयोग के चार भेदों का स्वरूप बताइये ?

उत्तर – १. चक्षुइन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के पहले जो वस्तु का सामान्य प्रतिभास होता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं।

२. चक्षुइन्द्रिय को छोड़कर शेष स्पर्शन, रसना, घ्राण, कर्ण और मन से होने वाले ज्ञान के पहले जो वस्तु का सामान्य प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

३. अवधिज्ञान के पहले जो वस्तु का सामान्य प्रतिभास होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं।

४. केवलज्ञान के साथ होने वाले वस्तु के सामान्य प्रतिभास को केवलदर्शन कहते हैं।

ज्ञानोपयोग के भेद

णाणं अट्ठ वियप्पं मदि सुदिओही अणाण णाणाणि ।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्ख परोक्ख भेयं च ।। ५ ।।

अन्वयार्थ – **(अणाणणाणाणि)** अज्ञान और ज्ञान रूप **(मदिसुदिओही)** मति, श्रुत, अवधि **(मणपज्जय)** मन:पर्यय **(अवि)** और **(केवलं)** केवलज्ञान [इस प्रकार] **(णाणं)** ज्ञानोपयोग **(अट्ठवियप्पं)** आठ प्रकार का होता है **(च)** और वह ज्ञानोपयोग **(पच्चक्खपरोक्खभेयं)** प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद रूप है।

भावार्थ – कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान या विभङ्गावधि, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान इस प्रकार ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है, उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं।

प्रश्न ०२२ – प्रत्यक्ष ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर – इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न ०२३ - परोक्षज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर - इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न ०२४ - श्रुतज्ञान के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर - श्रुतज्ञान के दो भेद होते हैं – १. अङ्गबाह्य २. अङ्गप्रविष्ट।

प्रश्न ०२५ - अङ्गबाह्य के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर - अङ्गबाह्य के चौदह भेद होते हैं – १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वंदना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृतिकर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १०. कल्प्याकल्प्य, ११. महाकल्प्य, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक, १४. निषिद्धिका।

प्रश्न ०२६ - अंगप्रविष्ट के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर - अंगप्रविष्ट के बारह भेद होते हैं – १. आचाराङ्ग, २. सूत्रकृताङ्ग, ३. स्थानाङ्ग, ४. समवायाङ्ग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग ६. ज्ञातृकथाङ्ग, ७. उपासकाध्ययनाङ्ग, ८. अन्तः कृद्दशाङ्ग, ९. अनुत्तरोपपादिकदशाङ्ग, १०. विपाकसूत्राङ्ग, ११. प्रश्नव्याकरणाङ्ग, १२. दृष्टिवादाङ्ग। इन बारह अंगों में से सबसे अधिक विस्तृत दृष्टिवाद अंग है, इसके भी भेद-प्रभेद अनेक हैं।

प्रश्न ०२७ - दृष्टिवाद अंग के कितने भेद हैं ?

उत्तर - दृष्टिवाद अंग के पाँच भेद होते हैं – १. प्रथमानुयोग, २. परिकर्म, ३. सूत्र, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका।

प्रश्न ०२८ - परिकर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर - परिकर्म के पाँच भेद होते हैं – १. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २. सूर्य प्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ४. द्वीप सागर प्रज्ञप्ति और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति।

प्रश्न ०२९ - चूलिका के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर - चूलिका के पाँच भेद होते हैं – १. जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता, ४. आकाशगता और ५. रूपगता।

प्रश्न ०३० - पूर्व के कितने भेद हैं ?

उत्तर - पूर्व के चौदह भेद होते हैं – १. उत्पादपूर्व, २. अग्रायणीपूर्व, ३. वीर्यानुवाद, ४. अस्तिनास्ति प्रवादपूर्व, ५. ज्ञानप्रवादपूर्व, ६. सत्यप्रवादपूर्व, ७. आत्मप्रवादपूर्व, ८. कर्मप्रवादपूर्व, ९. प्रत्याख्यानवादपूर्व, १०. विद्यानुवादपूर्व, ११. कल्याणवादपूर्व, १२. प्राणवादपूर्व, १३. क्रियाविशालपूर्व और १४. लोकबिन्दुसारपूर्व।

प्रश्न ०३१ - परमावधि और सर्वावधिज्ञान किनके होते हैं ?

उत्तर - परमावधि और सर्वावधिज्ञान उसी भव से मोक्ष जाने वाले मुनिराजों को होते हैं।

प्रश्न ०३२ - मन:पर्यय ज्ञान के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर - मन:पर्यय ज्ञान के दो भेद होते हैं – १. ऋजुमतिमन:पर्यय और २.विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान।

प्रश्न ०३३ - ऋजुमतिमन:पर्यय ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो मन:पर्यय ज्ञान पर के मन में स्थित सरल सीधी बात को जानता है उसे ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।

प्रश्न ०३४ - विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो मन:पर्यय ज्ञान पर के कुटिलमन में स्थित, अर्द्ध-चिन्तित, भविष्य में विचारी जाने वाली, भूतकाल में विचारी गई आदि बातों को जानता है, उसे विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान कहते हैं।

जीव का लक्षण

अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं ।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ।। ६ ।।

अन्वयार्थ - (**ववहारा**) व्यवहार नय से (**अट्ठ चदुणाणदंसण**) आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन (**सामण्णं**) सामान्य (**जीवलक्खणं**) जीव का लक्षण (**भणियं**) कहा गया है (**पुण**) और (**सुद्धणया**) शुद्ध निश्चयनय से (**सुद्धं**) शुद्ध (**दंसणं**) दर्शन और (**णाणं**) ज्ञान (**जीवलक्खणं**) जीव का लक्षण है।

भावार्थ - व्यवहार नय से यथायोग्य आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन सामान्य जीव का लक्षण है किन्तु शुद्ध निश्चयनय से शुद्धदर्शन और शुद्धज्ञान ही जीव का लक्षण कहा गया है।

प्रश्न ०३५ - शुद्ध नय किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो अभिप्राय अखण्ड निरपेक्ष त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को जाने उसे शुद्ध नय कहते हैं।

अमूर्तित्वाधिकार का वर्णन

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ।। ७ ।।

अन्वयार्थ - (**जीवे**) जीव में (**णिच्चया**) निश्चयनय से (**पंच**) पाँच (**वण्ण**) वर्ण (**पंच**) पाँच (**रस**) रस (**दो**) दो (**गंधा**) गंध (**अट्ठ**) आठ (**फासा**) स्पर्श (**णो**) नहीं (**संति**) होते हैं (**तदो**) इस कारण से (**अमुत्ति**) अमूर्तिक है और (**ववहारा**) व्यवहार नय से (**बंधादो**) कर्मबंधसहित होने से (**मुत्ति**) मूर्तिक है।

भावार्थ - जिसमें यथायोग्य पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श होते हैं वह मूर्तिक कहलाता है। जीव में यह वर्णादि नहीं होते इस कारण जीव निश्चय नय से अमूर्तिक है किन्तु कर्मों तथा पुद्गल में ये वर्णादि बीस गुण यथायोग्य होते हैं इसलिये वे मूर्तिक हैं। अनादिकाल से कर्म बंध है अत: जीव को व्यवहार नय से मूर्तिक माना गया है।

प्रश्न ०३६ - मूर्तिक अमूर्तिक का स्वरूप स्पष्ट कर जीव किस अपेक्षा से मूर्तिक और अमूर्तिक है, स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर - मूर्तिक - जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पाया जाता है उसे मूर्तिक कहते हैं।
अमूर्तिक - जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण नहीं पाये जाते उसे अमूर्तिक कहते हैं।

१. निश्चय नय से जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाला अमूर्तिक है उसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण नहीं पाये जाते हैं।

२. संसारी जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से मूर्तिक है क्योंकि अनादिकाल से कर्मों से बंधा हुआ है। कर्म पुद्गल हैं और पुद्गल मूर्तिक है। मूर्तिक के संयोग में रहने से अमूर्तिक आत्मा को भी व्यवहार नय से मूर्तिक कहा जाता है।

कर्तृत्वाधिकार का वर्णन

पुग्गल कम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ।। ८ ।।

अन्वयार्थ - **(आदा)** आत्मा [जीव] **(ववहारा)** व्यवहारनय से **(पुग्गल कम्मादीणं)** ज्ञानावरणादिक पुद्गलकर्म आदि का **(णिच्चयदो)** अशुद्ध निश्चयनय से **(चेदणकम्माण)** रागादिक भावकर्मों का **(दु)** और **(सुद्धणया)** शुद्ध निश्चयनय से **(सुद्धभावाणं)** शुद्ध दर्शन और शुद्धज्ञान आदि चैतन्य भावों का **(कत्ता)** कर्त्ता है।

भावार्थ – जीव व्यवहारनय से ज्ञानावरणादिक पुद्गल कर्मों एवं शरीरादिक नोकर्मों का तथा अशुद्ध निश्चयनय से रागादिक भावकर्मों का और शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध दर्शन (केवलदर्शन) शुद्धज्ञान (केवलज्ञान) आदि चैतन्यभावों का कर्ता है।

प्रश्न ०३७ - व्यवहार नय से जीव पुद्गल कर्मादि का कर्ता कैसे है ?

उत्तर - व्यवहार नय से पुद्गल कर्मादि का कर्ता है। जैसे कि – मन, वचन, काय व्यापार क्रिया रहित निज शुद्धात्म की भावना से शून्य होकर, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का तथा आदि शब्द से औदारिक, वैक्रियिक और आहारक – इन तीन शरीरों का, आहार आदि छह पर्याप्ति योग्य पुद्गल पिंड रूप नोकर्मों का और उपचरित असद्भूत व्यवहार से घट पटादि बहिर्विषयों का भी कर्ता (यह जीव) होता है।

प्रश्न ०३८ - अशुद्ध निश्चय से चेतन कर्मों का कर्ता किस प्रकार है ?

उत्तर - निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा चेतन कर्मों का कर्ता है। वह इस प्रकार है – रागादि विकल्परूप उपाधिरहित, निष्क्रिय, परमचेतन की भावना से रहित होने से जीव ने रागादि को उत्पन्न करने वाला जो कर्म उपार्जित किया है, उसका उदय होने पर, निष्क्रिय, निर्मल स्वसंवित्ति को नहीं प्राप्त करता हुआ जीव, 'भावकर्म' शब्द से वाच्य रागादि विकल्परूप चेतन कर्मों का अशुद्ध निश्चय से कर्ता होता है।

प्रश्न ०३९ - अशुद्ध निश्चय का अर्थ क्या है ?

उत्तर - अशुद्ध निश्चय का अर्थ इस प्रकार है – कर्मोपाधि से उत्पन्न हुआ होने से अशुद्ध कहलाता है और उस समय तपे हुए लोहखंड के गोले के समान तन्मय होने से निश्चय कहलाता है। इस प्रकार अशुद्ध और निश्चय इन दोनों का मिलाप करके अशुद्ध निश्चय कहा जाता है।

प्रश्न ०४० - शुद्ध निश्चय से जीव शुद्ध भावों का कर्ता किस प्रकार है ?

उत्तर - जब जीव, शुभ-अशुभरूप तीन योग (मन, वचन, काया) के व्यापार से रहित, शुद्ध बुद्ध ऐसे एक स्वभाव रूप से परिणमन करता है, तब अनंत ज्ञान-सुखादि शुद्ध भावों का छद्मस्थ अवस्था में भावना रूप से विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चय नय से कर्ता है और मुक्त अवस्था में शुद्ध नय से अनंत ज्ञान-सुखादि शुद्ध भावों का कर्ता है।

भोक्तृत्वाधिकार का वर्णन

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गल कम्मप्फलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ।। ९ ।।

अन्वयार्थ - **(आदा)** आत्मा **(ववहारा)** व्यवहारनय से **(पुग्गल कम्मप्फलं)** पुद्गलमय कर्मों के फल **(सुहदुक्खं)** सुख और दु:ख का **(पभुंजेदि)** भोक्ता है, और **(णिच्चयणयदो)** निश्चयनय से **(आदस्स)** आत्मा के **(चेदणभावं)** शुद्धदर्शन और शुद्धज्ञान रूप भावों का **(खु)** ही **(पभुंजेदि)** भोक्ता है।

भावार्थ - जीव व्यवहारनय से ज्ञानावरणादिक कर्मों के फलस्वरूप सुख-दु:ख का भोक्ता है और निश्चय नय से आत्मा के शुद्ध दर्शन (केवलदर्शन) तथा शुद्ध ज्ञान (केवलज्ञान) रूप भावों का ही भोक्ता है।

स्वदेहपरिमाणत्व अधिकार का वर्णन

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा णिच्चयणयदो असंखदेसो वा ।। १० ।।

अन्वयार्थ - **(चेदा)** जीव **(ववहारा)** व्यवहारनय से **(उवसंहारप्पसप्पदो)** संकोच विस्तार नामक शक्ति के कारण **(असमुहदो)** समुद्घात अवस्था के अतिरिक्त शेष सब अवस्थाओं में **(अणुगुरुदेह पमाणो)** नाम कर्म के द्वारा प्राप्त छोटे या बड़े निजशरीर के बराबर **(वा)** और **(णिच्चयणयदो)** निश्चय नय से **(असंखदेसो)** लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है।

भावार्थ - आत्मा व्यवहार नय से समुद्घात अवस्थाओं के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में शरीर नामकर्म के उदय से होने वाले संकोच-विस्तार नामक शक्ति के कारण घट (घड़ा) आदि में स्थित दीपक की तरह अपने छोटे-बड़े शरीर के बराबर है और निश्चय नय से लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है।

प्रश्न ०४१ - जीव छोटे-बड़े शरीर के बराबर किस प्रकार से है ?

उत्तर - जीव में संकोच-विस्तार गुण स्वभाव से पाया जाता है, इसलिये वह अपने द्वारा पूर्व संचित कर्मोदय से प्राप्त शरीर के आकार को धारण करता है। जैसे - दीपक को यदि छोटे कमरे में रखा जाये तो वह उसे प्रकाशित करेगा और यदि वही दीपक किसी बड़े कमरे में रख दिया जाये तो वह उसे भी प्रकाशित करेगा। इसी प्रकार आत्मा भी शरीर अनुसार आकार धारण करता है।

प्रश्न ०४२ - समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर - मूल सरीरमछंडिय उत्तर देहस्स जीव पिंडस्स ।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ।। गो.जी. ६६८।।

अपना मूल शरीर छोड़े बिना (तैजस और कार्माण रूप) उत्तर देह के साथ-साथ जीव प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं।

प्रश्न ०४३ - समुद्घात कितने प्रकार के होते हैं, उनका स्वरूप स्पष्ट कीजिये।

उत्तर - समुद्घात सात प्रकार के होते हैं -
वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो ।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ, केवलीणं तु ।। गो.जी. ६६७।।

१. वेदना समुद्घात, २. कषाय समुद्घात, ३. विक्रिया समुद्घात, ४. मारणांतिक समुद्घात, ५. तैजस समुद्घात, ६. आहारक समुद्घात, ७. केवली समुद्घात। समुद्घात का स्वरूप इस प्रकार है -

वेदना समुद्घात - तीव्र पीड़ा का अनुभव होने से, मूल शरीर छोड़े बिना आत्म प्रदेशों का बाहर निकलना उसे वेदना समुद्घात कहते हैं।

कषाय समुद्घात - तीव्र कषाय के उदय से, मूल शरीर को छोड़े बिना, अन्य का घात करने के लिये आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना उसे कषाय समुद्घात कहत हैं।

विक्रिया समुद्घात - मूल शरीर छोड़े बिना, किसी भी प्रकार की विक्रिया करने के लिये आत्म प्रदेशों का बाहर निकलना उसे विक्रिया समुद्घात कहते हैं।

मारणांतिक समुद्घात - मृत्यु के समय, मूल शरीर को छोड़े बिना, जब इस आत्मा ने कहीं का आगामी आयुष्य बांधा हो उस प्रदेश को स्पर्श करने के लिये आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना उसे मारणांतिक समुद्घात कहते हैं।

तैजस समुद्घात - अपने मन को अनिष्ट उत्पन्न करने वाला कोई अन्य कारण देखकर जिसको क्रोध उत्पन्न हुआ है ऐसे संयम के निदान रूप महामुनि के, मूल शरीर को छोड़े बिना, सिंदूर के पिंड समान प्रकाश युक्त, बारह योजन लम्बा, सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग जितना मूल विस्तार वाला और नव योजन के अग्र-विस्तार वाला, काहल (बिलाव) के आकार वाला यह पुतला, बायें कन्धे में से निकलकर बायीं प्रदक्षिणा देकर हृदय में रही हुई विरुद्ध वस्तु को भस्मीभूतत करके, उसी संयमी (मुनि) के साथ स्वयं भी भस्मीभूत हो जाता है, द्वीपायन मुनि के समान, यह **अशुभ तैजस समुद्घात** है।

लोक को व्याधि, दुष्काल आदि से पीड़ित देखकर जिसको दया उत्पन्न हुई है ऐसे परम संयम के निधान महर्षि के मूल शरीर को छोड़े बिना पूर्व कथित देह प्रमाण वाला, शुभ आकृति वाला पुतला दायें कन्धे से निकल कर, दायीं ओर प्रदक्षिणा करके, व्याधि, दुष्काल आदि मिटाकर पुनः अपने मूल स्थान में प्रवेश करता है यह **शुभ तैजस समुद्घात** है।

आहारक समुद्घात – पद और पदार्थ में जिसको कोई संशय उत्पन्न हुआ है, ऐसे परम ऋद्धि वाले महर्षि के मूल शरीर को छोड़े बिना, शुद्ध स्फटिक जैसी आकृति वाला, एक हाथ का पुरुषाकार पुतला मस्तक के मध्य में से निकलकर अंतर्मुहूर्त में जहाँ कहीं केवलज्ञानी को देखता है वहाँ उनके दर्शन से, अपने आश्रयभूत मुनि को पद और पदार्थ का निश्चय उत्पन्न करके फिर अपने स्थान में प्रवेश करता है उसे आहारक समुद्घात कहते हैं।

केवली समुद्घात – केवलियों के आत्म प्रदेश दंड, कपाट, प्रतर, लोकपूरणरूप होते हैं वह सातवाँ केवली समुद्घात है।

प्रश्न ०४४ – दण्ड समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर – सयोग केवली यदि आसीन हों अथवा बैठे हों तो आसन प्रमाण यानि देह के त्रिगुण विस्तार प्रमाण और यदि खड्गासन से स्थित हों तो देह विस्तार प्रमाण चौड़े आत्म प्रदेश निकलते हैं और ऊपर से नीचे तक वातवलयों के प्रमाण से कम चौदह राजू लम्बे फैल जाते हैं।

प्रश्न ०४५ – कपाट समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर – दण्ड समुद्घात के अनंतर अगल–बगल चौड़े हो जाते हैं। यदि सयोगकेवली पूर्वाभिमुख हों तो ऊपर, मध्य में, नीचे सर्वत्र वातवलय प्रमाण से कम सात–सात राजू प्रमाण आत्म प्रदेश फैल जाते हैं और यदि सयोगकेवली उत्तराभिमुख हों तो वातवलय प्रमाण से हीन ऊपर तो एक राजू, बाह्य क्षेत्र में पाँच राजू, मध्य में एक राजू व नीचे सात राजू प्रमाण चौड़े हो जाते हैं।

प्रश्न ०४६ – प्रतर समुद्घात किस तरह होता है ?

उत्तर – इस समुद्घात में सामने व पीछे जितना लोक क्षेत्र बचा है, उसमें वातवलय प्रमाण से ही सर्व लोक में फैल जाते हैं।

प्रश्न ०४७ – लोकपूरण समुद्घात में क्या होता है ?

उत्तर – इसमें आत्म प्रदेश वातवलय के क्षेत्र में भी फैलकर पूरे लोकप्रमाण प्रदेश हो जाते हैं।

प्रश्न ०४८ – लोकपूरण समुद्घात के बाद प्रवेश विधि किस प्रकार से है ?

उत्तर – लोकपूरण समुद्घात के बाद लौटकर प्रतर समुद्घात होता है फिर कपाट समुद्घात, फिर दण्ड समुद्घात, इसके बाद मूल शरीर में प्रवेश हो जाता है।

प्रश्न ०४९ – समुद्घातों में कितना समय लगता है ?

उत्तर – केवली समुद्घात में आठ समय लगते हैं और शेष छह समुद्घातों में अंतर्मुहूर्त समय लगता है।

संसारित्व अधिकार का वर्णन

पुढवि जल तेउ वाऊ वणप्फदी विविह थावरे इंदी ।
विगतिगचदुपंचक्खा तस जीवा होंति संखादी ।। ११ ।।

अन्वयार्थ – जो **(पुढवि)** पृथ्वीकायिक, **(जल)** जलकायिक, **(तेउ)** अग्निकायिक, **(वाऊ)**

वायुकायिक और **(वणप्फदी)** वनस्पतिकायिक **(विविहथावरेइंदी)** अनेक प्रकार के एकेन्द्रिय स्थावर **(होंति)** हैं और **(संखादी)** शंख आदिक **(विगतिगचदुपंचक्खा)** दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय **(त्रसजीवा)** त्रसजीव **(होंति)** हैं [ते = वे] [सव्वे = सब] **(संसारी)** संसारी **(विण्णेया)** जानना चाहिये।

भावार्थ – संसारी जीव के मुख्य दो भेद हैं – त्रस और स्थावर। उनमें पृथ्वीकायिक आदि पाँच एकेन्द्रिय स्थावर जीव हैं और शंखादि दो इन्द्रिय, चींटी आदि तीन इन्द्रिय, भौंरा आदि चार इन्द्रिय तथा मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय ये चार त्रस जीव हैं यह सब संसारी कहलाते हैं।

चौदह जीवसमास जीवों के संक्षिप्त भेद

समणा अमणा णेया, पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे ।
बादरसुहुमेइंदी, सव्वे पज्जत्त इदरा य ।। १२ ।।

अन्वयार्थ – **(पंचेंदिय)** पंचेन्द्रिय जीव **(समणा)** संज्ञी **(अमणा)** असंज्ञी **(परे सव्वे)** अन्य सब एकेन्द्रिय आदिक चारों **(णिम्मणा)** असंज्ञी **(णेया)** जानना चाहिये **(एइंदी)** एकेन्द्रिय जीव **(बादर सुहुमे)** बादर और सूक्ष्म दो प्रकार हैं तथा **(सव्वे)** ये सब **(पज्जत्त)** पर्याप्तक **(य)** और **(इदरा)** अपर्याप्तक होते हैं **(सव्वे)** वे सब [संसारी = संसारी] **(विण्णेया)** जानना चाहिये।

भावार्थ – पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी दो प्रकार के होते हैं। शेष चारों असंज्ञी ही होते हैं। एकेन्द्रिय के बादर और सूक्ष्म ये दो भेद हैं। इस प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय यह सभी पर्याप्तक और अपर्याप्तक होते हैं, इनको चौदह जीव समास कहते हैं।

प्रश्न ०५० - बादर जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो स्वयं दूसरों से रुकते हैं और दूसरों को भी रोकते हैं अथवा जो आपस में टकरा सकते हैं, उन्हें बादर जीव कहते हैं।

प्रश्न ०५१ - सूक्ष्म जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो न दूसरों से रुकते हैं और न दूसरों को रोकते हैं अथवा न ही किसी से टकरा सकते हैं उन्हें सूक्ष्म जीव कहते हैं।

प्रश्न ०५२ - पर्याप्तक जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिन जीवों की आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन आदि पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं उन्हें पर्याप्तक जीव कहते हैं।

प्रश्न ०५३ - अपर्याप्तक जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिन जीवों की आहार आदि पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं होती हैं उन्हें अपर्याप्तक जीव कहते हैं।

प्रश्न ०५४ - पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर - गृहीत आहार वर्गणा को खल-रस आदि रूप परिणमावने को अथवा जीव की शक्ति के पूर्ण हो जाने को पर्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न ०५५ - पर्याप्तियाँ कितनी होती हैं ?

उत्तर - पर्याप्तियाँ छह होती हैं - १. आहार पर्याप्ति, २. शरीर पर्याप्ति, ३. इन्द्रिय पर्याप्ति, ४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, ५. भाषा पर्याप्ति, ६. मनः पर्याप्ति।

प्रश्न ०५६ - आहार पर्याप्ति किसे कहते है ?

उत्तर - एक शरीर को छोड़कर नवीन शरीर के साधनभूत जिन नोकर्म वर्गणाओं को जीव ग्रहण करता है उनको खल व रस भाग रूप परिणमावने की शक्ति के पूर्ण हो जाने को आहार पर्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न ०५७ - शरीर पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर - गृहीत नोकर्म वर्गणाओं के स्कंध में से खल भाग को हड्डी आदि कठोर अवयव रूप तथा रस भाग को खून आदि द्रव अवयव रूप परिणमावने के शक्ति की पूर्णता को शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न ०५८ - इन्द्रिय पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर - गृहीत नोकर्म वर्गणाओं के स्कंध में से वर्गणाओं को योग्य स्थान पर द्रव्येन्द्रियों के आकार रूप परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न ०५९ - श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर - गृहीत नोकर्म वर्गणाओं के कुछ स्कंधों को श्वासोच्छ्वास रूप परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न ०६० - भाषा पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर - वचन रूप होने योग्य भाषा वर्गणाओं को वचन रूप परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को भाषा पर्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न ०६१ - मन:पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर - द्रव्य मन होने योग्य मनो वर्गणाओं को द्रव्य मन के आकार रूप परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को मन:पर्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न ०६२ - किन जीवों के कितनी पर्याप्तियाँ होती हैं ?

उत्तर - आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणो।
चत्तारि पंच छप्पिय इगि विगला सण्णि सण्णीणं।।

(आहारसरीरिंदिय) आहार, शरीर, इन्द्रिय (आणपाणभासमणो) श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन (पज्जत्ती) पर्याप्तियाँ हैं, उनमें (इगि विगला सण्णि सण्णीणं) एकेन्द्रिय, विकलत्रय, असंज्ञी और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को क्रम से (चत्तारि पंच छप्पिय) चार, पाँच और छह पर्याप्तियाँ होती हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के चार पर्याप्तियाँ होती हैं - १. आहार, २. शरीर, ३. स्पर्शेन्द्रिय और ४. श्वासोच्छ्वास। विकलत्रय जीव व असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को मन:पर्याप्ति को छोड़कर पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

प्रश्न ०६३ - जीव समास किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिनके द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकार की जाति जानी जाय उन धर्मों को अनेक पदार्थों का संग्रह करने वाला होने से जीव समास कहते हैं।

मार्गणा और गुणस्थानों के द्वारा संसारी जीव का वर्णन

मग्गण गुण ठाणेहिय, चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया ।
विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ।। १३ ।।

अन्वयार्थ - **(तह)** तथा **(संसारी)** संसारी जीव **(असुद्धणया)** व्यवहार नय से **(चउदसहिं)** चौदह-चौदह **(मग्गणगुणठाणेहि)** मार्गणाओं और गुणस्थानों की अपेक्षा **(चउदस)** चौदह-चौदह प्रकार **(हवंति)** होते हैं **(य)** और **(सुद्धणया)** निश्चयनय से **(सव्वे)** सब जीव **(सुद्धा)** शुद्ध **(हु)** ही **(विण्णेया)** जानना चाहिये।

भावार्थ - संसारी जीव व्यवहार नय से मार्गणाओं और गुणस्थानों की अपेक्षा से भी चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं, किन्तु निश्चय नय से सब जीव शुद्ध (निर्विकल्प, भेदरहित, एक स्वभाव, एक-एक) ही हैं।

प्रश्न ०६४ - जीव चौदह प्रकार के किस अपेक्षा से होते हैं ?

उत्तर - व्यवहार नय से जीव चौदह मार्गणा और चौदह गुणस्थान वाले होने से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं।

प्रश्न ०६५ - मार्गणा किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिन-जिन धर्म विशेषों से जीवों का अन्वेषण (खोज) किया जाये, उन-उन धर्म विशेषों को मार्गणा कहते हैं।

प्रश्न ०६६ - चौदह मार्गणा कौन-कौन सी होती हैं ?

उत्तर - १. गति मार्गणा, २. इन्द्रिय मार्गणा, ३. काय मार्गणा, ४. योग मार्गणा, ५. वेद मार्गणा, ६. कषाय मार्गणा, ७. ज्ञान मार्गणा, ८. संयम मार्गणा, ९. दर्शन मार्गणा, १०. लेश्या मार्गणा, ११. भव्यत्व मार्गणा, १२. सम्यक्त्व मार्गणा, १३. संज्ञित्व मार्गणा, १४. आहार मार्गणा ये चौदह मार्गणा होती हैं।

सिद्धत्व और ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार का वर्णन

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ।। १४ ।।

अन्वयार्थ - जो **(णिक्कम्मा)** ज्ञानावरणादि आठ कर्म रहित **(अट्ठगुणा)** सम्यक्त्व आदि आठ गुण सहित **(चरमदेहदो)** अन्तिम शरीर से **(किंचूणा)** किंचित् न्यून होते हैं, ऐसे **(सिद्धा)** सिद्ध हैं, और वे सिद्ध **(णिच्चा)** विनाशरहित और **(लोयग्गठिदा)** लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं **(उप्पादवएहिं)** उत्पाद-व्यय से **(संजुत्ता)** संयुक्त हैं।

भावार्थ - ज्ञानावरण आदि आठ कर्म रहित, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों सहित, छोड़े हुए अंतिम चरम शरीर से किंचित् न्यून अर्थात् कुछ कम आकार वाला जीव सिद्ध कहलाता है। यह सिद्ध अपने ऊर्ध्व

गमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग तनुवातवलय में सिद्धशिला पर स्थित हैं। धर्मास्तिकाय के न होने से आगे अलोक में गमन रहित तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित होते हैं, यह ऊर्ध्व गमनत्व अधिकार है।

प्रश्न ०६७ - सिद्ध कैसे हैं ?

उत्तर -

०१. शुद्धात्मा के संवेदन के बल से ज्ञानावरणादि मूल और उत्तर समस्त कर्म प्रकृतियों का विनास करने के कारण सिद्ध भगवान आठ कर्म से रहित हैं।

०२. परम क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु, अव्याबाध, अनंत सुखादि आठ गुण सहित हैं।

०३. गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, नाम, गोत्र, आयु आदि से रहित हैं।

०४. सिद्ध भगवान को अभेद नय से अनंतज्ञान आदि चार गुण या अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन और अनंत सुख तीन गुण अथवा केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो साक्षात अभेदनय से शुद्ध चैतन्य ही एक गुण है।

प्रश्न ०६८ - ऊर्ध्वगमन क्या है ?

उत्तर - कुम्हार के घूमते हुए चाक की भांति, जिसकी मिट्टी का लेप दूर हुआ हो ऐसी तुम्बी की भांति, एरण्ड के बीज की भांति और अग्नि की शिखा की भांति जीव का स्वभाव से ही ऊर्ध्व गमन होता है।

यह ऊर्ध्व गमन लोक के अग्र भाग तक ही होता है क्योंकि उससे आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है।

अजीव द्रव्य व उनके मूर्तिकामूर्तिकपना

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गल धम्मो अधम्म आयासो ।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादि गुणो अमुत्ति सेसा दु ।। १५ ।।

अन्वयार्थ - **(पुण)** और **(पुग्गल)** पुद्गल **(धम्मो)** धर्म **(अधम्मो)** अधर्म **(आयासो)** आकाश **(दु)** और **(कालो)** काल **(अज्जीवो)** अजीवद्रव्य **(णेओ)** जानना चाहिये उनमें **(रूवादिगुणो)** रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण वाला **(पुग्गल)** पुद्गलद्रव्य **(मुत्तो)** मूर्तिक है और **(सेसा)** शेष चार द्रव्य **(अमुत्ति)** अमूर्तिक **(णेया)** जानना चाहिये।

भावार्थ - अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं - पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें पुद्गल द्रव्य मूर्तिक अर्थात् रूपी है क्योंकि उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श पाया जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल यह चार द्रव्य अमूर्तिक हैं क्योंकि उनमें रूप आदि गुण नहीं पाये जाते।

प्रश्न ०६९ - पुद्गल किसे कहते हैं ?

उत्तर - ''गलयति पूरयति इति पुद्गलः'' जिसका पूरन और गलन का स्वभाव हो उसे पुद्गल कहते हैं।

प्रश्न ०७० - परमाणु में रूपादि बीस गुणों में से कितने गुण होते हैं ?

उत्तर - परमाणु में एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श इस प्रकार पाँच गुण पाये जाते हैं।

प्रश्न ०७१ - अमूर्तिक द्रव्य कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं। पुद्‌गल द्रव्य मात्र मूर्तिक है।

प्रश्न ०७२ - पुद्‌गल मूर्त कैसे है ?

उत्तर - रस, गंध, वर्ण, स्पर्श के अतिरिक्त रूप गुण होने से पुद्‌गल मूर्त है।

पुद्‌गल की विभावव्यञ्जन पर्यायें

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तम छाया ।
उज्जोदादव सहिया पुग्गल दव्वस्स पज्जाया ।। १६ ।।

अन्वयार्थ - **(सद्दो)** शब्द **(बंधो)** बन्ध **(सुहुमो)** सूक्ष्मत्व **(थूलो)** स्थूलत्व, **(संठाणभेद तमछाया)** आकार, खण्ड, अंधकार और छाया **(उज्जोदादवसहिया)** उद्योत और आतप सहित ये सब **(पुग्गलदव्वस्स)** पुद्‌गल द्रव्य की **(पज्जाया)** पर्यायें हैं।

भावार्थ - शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, आकार, खण्ड, अंधकार, छाया, उद्योत और आतप ये सब पुद्‌गल द्रव्य की पर्यायें (विभावव्यञ्जनपर्यायें) हैं।

प्रश्न ०७३ - शब्द को स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर - भाषात्मक और अभाषात्मक के भेद से शब्द दो प्रकार के हैं। इनमें अक्षर और अनक्षर रूप भेद से भाषात्मक शब्द के दो भेद हैं। परमात्मा शब्दातीत हैं। मनोज्ञ और अमनोज्ञ पंचेन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीव ने सुस्वर-दुस्वर नामक नाम कर्म उपार्जित किया था, उसके उदय से जीव के संयोग से व्यवहार में जीव का शब्द कहलाता है। निश्चय से तो शब्द पुद्‌गल स्वरूप ही है।

प्रश्न ०७४ - पर्याय किसे कहते हैं, इसके कितने भेद हैं और उनका क्या स्वरूप है ?

उत्तर - गुणों की अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं। पर्याय के दो भेद हैं - अर्थ पर्याय और व्यञ्जनपर्याय।
अर्थ पर्याय - अगुरुलघुत्व के निमित्त से द्रव्य में होने वाली षट्‌गुण हानि-वृद्धि रूप, अन्तः परिणमन को अर्थपर्याय कहते हैं। यह अर्थपर्याय सूक्ष्म है व वचन के अगोचर है।
व्यञ्जनपर्याय - गुणों की व्यक्त अवस्था को व्यञ्जन पर्याय कहते हैं।

प्रश्न ०७५ - षड्‌गुण हानि-वृद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर - अनंतभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि, अनन्तभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभाग हानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यातगुण हानि, अनन्तगुण हानि इन्हें षट् गुण हानि-वृद्धि कहते हैं।

धर्मद्रव्य का लक्षण

गइ परिणयाण धम्मो पुग्गल जीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ।। १७ ।।

अन्वयार्थ - **(जह)** जैसे **(तोयं)** जल **(गइ परिणयाण)** गमन करती हुई **(मच्छाणं)** मछलियों

को **(गमणसहयारी)** चलने में सहायक है **(तह)** उसी प्रकार जो **(गई परिणयाण)** चलते हुए **(पुग्गलजीवाणं)** पुद्‌गल और जीवों को **(गमणसहयारी)** चलने में सहायक होता है, वह **(धम्मो)** धर्मद्रव्य [णेओ = जानना चाहिये] किन्तु **(सो)** वह धर्म द्रव्य **(अच्छंता)** ठहरे हुए जीवों और पुद्‌गलों को **(णेव)** नहीं **(णेई)** चलाता है।

भावार्थ – जैसे – जल, तैरती हुई मछली को तैरने में सहकारी है उसी प्रकार जो द्रव्य चलते हुए जीव और पुद्‌गल को चलने में सहकारी है वह धर्मद्रव्य कहलाता है किन्तु जैसे पानी मछली को तैरने हेतु प्रेरित नहीं करता, उसी प्रकार यह धर्मद्रव्य भी ठहरे हुए जीव और पुद्‌गलों को चलने की प्रेरणा नहीं देता।

प्रश्न ०७६ – धर्म द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर – स्वयं अपनी क्रियावती शक्ति के कारण गमन करते हुए जीव और पुद्‌गलों को जो गमन करने में सहकारी हो उसे धर्म द्रव्य कहते हैं।

प्रश्न ०७७ – धर्मद्रव्य और धर्म में क्या अंतर है ?

उत्तर – धर्मद्रव्य एक स्वतंत्र द्रव्य है जो गति में उदासीन निमित्त कारण है और धर्म आत्मा के स्वभाव को कहते हैं।

अधर्म द्रव्य का लक्षण

ठाण जुदाण अधम्मो पुग्गल जीवाण ठाण सहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ।। १८ ।।

अन्वयार्थ – (जह) जैसे **(छाया)** छाया **(ठाण जुदाण)** ठहरते हुए **(पहियाणं)** पथिकजनों को **(ठाणसहयारी)** ठहरने में सहायक [होदि = होती है, तह = उसी प्रकार, जो = जो] **(ठाणजुदाण)** ठहरते हुए **(पुग्गलजीवाण)** पुद्‌गल और जीवों को **(ठाण सहयारी)** ठहरने में सहायक [होदि = होता है, सो = वह] **(अधम्मो)** अधर्म द्रव्य [णेओ = जानना चाहिये] **(सो)** वह अधर्म द्रव्य **(गच्छंता)** गमन करते हुए जीव और पुद्‌गलों को **(णेव)** नहीं **(धरई)** ठहराता है।

भावार्थ – जैसे यदि मुसाफिर ठहरना चाहे तो वृक्ष की छाया उसके ठहरने में सहायता करती है, किन्तु वह मुसाफिर चलना चाहे तो उसे प्रेरणा कर ठहराती नहीं है, उसी प्रकार जीव या पुद्‌गल ठहर रहे हैं, उन्हें ठहरने में जो सहकारी है वह अधर्म द्रव्य है।

प्रश्न ०७८ – अधर्म द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर – स्वयं अपनी क्रियावती शक्ति के कारण ठहरते हुए जीव और पुद्‌गलों को जो ठहरने में सहकारी हो उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं।

प्रश्न ०७९ – अधर्मद्रव्य और अधर्म में क्या अंतर है ?

उत्तर – अधर्मद्रव्य एक स्वतंत्र द्रव्य है, जो जीव व पुद्‌गल के ठहरने में सहकारी उदासीन निमित्त कारण है और आत्मस्वभाव से अन्य भावों को आत्मा समझने व अनात्मा में उपयोग लगाने को अधर्म कहते हैं।

आकाश द्रव्य का लक्षण

अवगास दाण जोग्गं, जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ।। १९ ।।

अन्वयार्थ - **(जीवादीणं)** जीवादिक छहों द्रव्यों के **(अवगास दाणजोग्गं)** अवकाश देने में समर्थ द्रव्य को **(जेण्हं)** भगवान जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ **(आयासं)** आकाश द्रव्य **(वियाण)** जानना चाहिये [तं = वह आकाश] **(लोगागासं)** लोकाकाश और **(अल्लोगागासं)** अलोकाकाश **(इदि)** इस प्रकार **(दुविहं)** दो प्रकार का है।

भावार्थ - जो समस्त द्रव्यों को ठहरने के लिये स्थान देता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। आकाशद्रव्य के दो भेद हैं – लोकाकाश और अलोकाकाश।

लोकाकाश और अलोकाकाश का वर्णन

धम्माधम्मा कालो पुग्गल जीवा य संति जावदिए ।
आयासे सो लोगो तत्तोपरदो अलोगुत्तो ।। २० ।।

अन्वयार्थ - **(जावदिए)** जितने **(आयासे)** आकाश में **(धम्माधम्मा)** धर्म द्रव्य और अधर्मद्रव्य **(कालो)** कालद्रव्य **(य)** और **(पुग्गलजीवा)** पुद्‌गल द्रव्य और जीव द्रव्य **(संति)** रहते हैं **(सो)** वह **(लोगो)** लोकाकाश है **(तत्तो)** उससे **(परदो)** बाहर **(अलोगुत्तो)** आलोकाकाश कहा गया है।

भावार्थ - जिसमें जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाँच द्रव्य पाये जाते हैं, आकाश के उतने भाग को लोकाकाश (लोक) कहते हैं। उससे परे जहाँ यह पाँच द्रव्य नहीं हैं, केवल अनंत आकाश है उसे अलोकाकाश (अलोक) कहते हैं।

प्रश्न ०८० - आकाश को स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर - केवलज्ञान के अनंतवें भागप्रमाण आकाश द्रव्य है, उसके भी अनंतवें भाग में सर्व मध्यम प्रदेश में लोकाकाश है और वह अनाद्यनिधन है। किसी भी विशिष्ट पुरुष द्वारा न रचा गया है, न नष्ट होता है, न धारण किया जाता है और न रक्षा किया जाता है तथा वह असंख्यात प्रदेशी है। उस असंख्यात प्रदेशी लोक में अनंत जीव, उनसे भी अनंतगुणे पुद्‌गल, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात कालद्रव्य, प्रत्येक लोकाकाश धर्म और अधर्म दो द्रव्य, विशिष्ट अवगाहना शक्ति के कारण अवकाश प्राप्त करते हैं।

काल द्रव्य का लक्षण

दव्व परिवट्ट रूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
परिणामादी लक्खो वट्टण लक्खो य परमट्ठो ।। २१ ।।

अन्वयार्थ - **(जो)** जो **(दव्वपरिवट्टरूवो)** द्रव्यों के परिवर्तनरूप और **(परिणामादीलक्खो)** परिणमन आदि लक्षण वाला होता है **(सो)** वह **(ववहारो)** व्यवहार **(कालो)** काल **(हवेइ)** है **(य)** और **(वट्टणलक्खो)** वर्तनालक्षण वाला **(परमट्ठो)** निश्चय काल है।

भावार्थ - जो द्रव्य परिवर्तन रूप है और परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व से जाना जाता है वह

व्यवहारकाल है तथा वर्तना जिसका लक्षण है उसे निश्चय काल कहते हैं।

काल द्रव्य के प्रदेश

लोयायास पदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का ।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंख दव्वाणि ।। २२ ।।

अन्वयार्थ – **(इक्केक्के)** एक – एक **(लोयायासपदेसे)** लोकाकाश के प्रदेश पर **(जे)** जो **(रयणाणं)** रत्नों की **(रासीमिव)** राशि के समान **(इक्केक्का)** एक – एक **(कालाणु)** काल द्रव्य के अणु **(ठिया)** स्थित हैं **(ते)** वे **(कालाणु)** कालद्रव्य के अणु **(असंखदव्वाणि)** असंख्यात द्रव्य हैं।

भावार्थ – जैसे रत्नों की राशि लगा देने पर भी प्रत्येक रत्न अलग–अलग रहता है। उसी प्रकार लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक–एक कालाणु पृथक्–पृथक् स्थित है। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात होने के कारण कालद्रव्य भी असंख्यात द्रव्य हैं अर्थात् प्रत्येक कालाणु स्वतंत्र द्रव्य हैं इसलिये वह बहुप्रदेशी (अस्तिकाय) नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न ०८१ - वर्तना किसे कहते हैं ?

उत्तर - अपने उपादानरूप से स्वयमेव परिणमित पदार्थ को परिणति में जो सहकारीपना है उसे वर्तना कहते हैं।

प्रश्न ०८२ - कालद्रव्य को कालाणु क्यों कहते हैं ?

उत्तर - कालद्रव्य एकप्रदेशी है अथवा परमाणु मात्र के प्रमाण वाला है इसलिये उसे कालाणु कहते हैं।

प्रश्न ०८३ - उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक कालद्रव्य की सिद्धि कीजिये ?

उत्तर - जिस प्रकार अंगुली की वक्र पर्याय की उत्पत्ति जिस क्षण होती है, उसी क्षण पूर्व की सीधी पर्याय का व्यय होता है और अंगुली रूप से ध्रौव्य रहता है। इसी प्रकार कालाणु को भी भेद गति से परिणमित पुद्गल परमाणु द्वारा प्रगट किये गये और कालाणु रूप उपादान कारण से उत्पन्न हुए वर्तमान समय का उत्पाद है वही भूतकाल के समय की अपेक्षा से विनास है और उन दोनों के आधारभूत कालाणु द्रव्य रूप से ध्रौव्य है–इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक काल द्रव्य की सिद्धि है।

द्रव्य और अस्तिकाय के भेद

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्प भेददो दव्वं ।
उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु ।। २३ ।।

अन्वयार्थ – इस प्रकार **(जीवाजीवप्पभेददो)** जीव और अजीव के भेद से **(इदं)** यह **(दव्वं)** द्रव्य **(छब्भेयं)** छह प्रकार **(उत्तं)** कहा गया है और **(कालविजुत्तं)** काल द्रव्य को छोड़कर **(पंच)** पाँच **(अत्थिकाया)** अस्तिकाय **(णायव्वा)** जानना चाहिये।

भावार्थ – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह छह द्रव्य हैं। इनमें से कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं।

प्रश्न ०८४ - कालद्रव्य को अस्तिकाय क्यों नहीं कहा ?

उत्तर - कालद्रव्य एक प्रदेशी होता है इसलिये उसे अस्तिकाय नहीं कहा।

प्रश्न ०८५ - एक पुद्‌गल परमाणु भी एक प्रदेशी होता है, उसे अस्तिकाय क्यों कहा गया है ?

उत्तर - कालाणु सदा एक प्रदेश वाला ही रहता है किन्तु पुद्‌गल परमाणु में विशेषता है कि वह एक प्रदेश वाला होकर भी स्कंध रूप में परिणत होते ही नाना प्रदेश (संख्यात, असंख्यात और अनंत) वाला हो जाता है। कालाणु में बहुप्रदेशपने की योग्यता ही नहीं है, परमाणु में वह योग्यता है इसलिये परमाणु को अस्तिकाय कहा गया है।

प्रश्न ०८६ - अणु-अणु सब समान होने पर भी कालाणु में बहु प्रदेशपने की योग्यता क्यों नहीं है ?

उत्तर - पुद्‌गल अणु सभी समान होते हैं परन्तु कालाणु पुद्‌गल के अणुओं के समान नहीं हो सकते हैं। क्योंकिपुद्‌गल परमाणु में रूप, रस आदि पाये जाते हैं इसलिये वह मूर्तिक है, स्कंध बन जाता है परन्तु कालाणु अमूर्तिक है, स्पर्श, रस आदि गुणों से रहित है अत: उसमें बहुप्रदेशपने की योग्यता नहीं है।

प्रश्न ०८७ - स्याद्‌वाद किसे कहते हैं ?

उत्तर - अनेकांतात्मक वस्तु के धर्मों को 'स्यात्' अर्थात् अपेक्षा से 'वाद' अर्थात् कहने को स्याद्‌वाद कहते हैं। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि - अनंत धर्मात्मक वस्तु के स्वरूप की अनेकांतात्मक कथन पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं।

प्रश्न ०८८ - अनेकांत किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिसमें अनेक 'अंत' अर्थात् धर्म हों उसे अनेकांत कहते हैं। इसको प्रकट करने की पद्धति स्याद्‌वाद है।

अस्तिकाय का लक्षण तथा अस्तिकायनाम का कारण

संति जदो तेणेदे अत्थीत्ति भणंति जिणवरा जम्हा ।
काया इव बहु देसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ।। २४ ।।

अन्वयार्थ - **(जदो)** क्योंकि **(एदे)** ये जीव आदि द्रव्य **(सन्ति)** हैं **(तेण)** इसलिए उनको **(जिणवरा)** भगवान जिनेन्द्र परमात्मा **(अत्थित्ति)** अस्ति ऐसा **(भणंति)** कहते हैं **(य)** और **(जम्हा)** जिस कारण से **(काया इव)** शरीर के समान **(बहुदेसा)** बहुत प्रदेश वाले [होंति = होते हैं] **(तम्हा)** इस कारण **(काया)** काय **(य)** और मिलकर **(अत्थिकाया)** अस्तिकाय कहे गये हैं।

भावार्थ - यह पाँचों द्रव्य सदा विद्यमान रहते हैं इसलिये इन्हें 'अस्ति' (विद्यमान) कहते हैं और जैसे काय (शरीर) बहुप्रदेशी है, उसी प्रकार यह धर्म आदि द्रव्य भी बहुप्रदेशी हैं इसलिये इन्हें काय कहते हैं। इस प्रकार पाँचों द्रव्यों की अस्तिकाय संज्ञा है। कालद्रव्य 'अस्ति' तो है किन्तु एक प्रदेशी होने से काय नहीं है इसलिये वह अस्तिकाय नहीं है।

प्रश्न ०८९ - अस्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो सदा विद्यमान रहे, जिसका कभी नाश न हो उसे अस्ति कहते हैं।

प्रश्न ०९० - काय किसे कहते हैं ?

उत्तर - बहुप्रदेशों के समूह को काय कहते हैं।

प्रश्न ०९१ - अस्तिकाय किसे कहते हैं, अस्तिकाय कितने द्रव्य हैं ?

उत्तर - जो अस्ति रूप भी हो तथा कायवान भी हो उसे अस्तिकाय कहते हैं। जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म और आकाश यह पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं।

प्रश्न ०९२ - कालद्रव्य अस्तिकाय क्यों नहीं है ?

उत्तर - कालद्रव्य अस्ति रूप तो है किन्तु कायवान नहीं है इसलिये कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है।

द्रव्यों के प्रदेश व काल के अस्तिकायत्व का निषेध

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे ।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ।। २५ ।।

अन्वयार्थ - (**जीवे**) एक जीव में (**धम्माधम्मे**) धर्म और अधर्म द्रव्य में (**असंखा**) असंख्यात (**आयासे**) आकाश द्रव्य में (**अणंत**) अनन्त और (**मुत्ते**) पुद्‌गल द्रव्य में (**तिविह**) संख्यात, असंख्यात और अनन्त (**पदेसा**) प्रदेश (**होंति**) होते हैं (**कालस्य**) काल द्रव्य के (**एगो**) एक [पदेसो = प्रदेश होदि = होता है] (**तेण**) इसलिए (**सो**) वह कालद्रव्य (**काओ**) कायवान (**ण**) नहीं है।

भावार्थ - एक जीव में लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश होते हैं। लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश होते हैं। इसलिये जीव असंख्यात प्रदेशी है। धर्म और अधर्म द्रव्य भी समस्त लोकाकाश में तिल में तेल की तरह व्याप्त हैं, इससे यह भी असंख्यात प्रदेशी हैं। आकाश के अनंत प्रदेश हैं लोकाकाश के बाहर भी आकाश है, उसको अलोकाकाश कहते हैं। पुद्‌गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं इसलिये यह पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी होने से 'अस्तिकाय' हैं किन्तु काल के एक-एक अणु अलग-अलग रहते हैं, वे मिलकर स्कंध रूप नहीं होते इस कारण वह एक प्रदेशी है अत: कायवान अर्थात् 'अस्तिकाय' नहीं है।

पुद्‌गल के परमाणु के अस्तिकायपना

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि ।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ।। २६ ।।

अन्वयार्थ - (**एयपदेसो वि अणू**) एक प्रदेश वाला भी पुद्‌गल का परमाणु (**णाणाखंधप्पदेसदो**) नानास्कन्धों का कारण होने से (**बहुदेसो**) बहुप्रदेशी (**होदि**) होता है (**य**) और (**तेण**) इसलिए (**सव्वण्हु**) सर्वज्ञदेव [तं = उसे] (**उवयारा**) व्यवहारनय से,उपचार से (**काओ**) कायवान् (**भणंति**) कहते हैं।

भावार्थ - पुद्‌गल के परमाणु का दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता, इसलिये वह स्वयं तो बहुप्रदेशी (कायवान या अस्तिकाय) नहीं है, किन्तु अनेक प्रकार के पुद्‌गल स्कंध का कारण है इसलिये बहुप्रदेशी स्कंध का कारण होने से व्यवहार से (कारण में कार्य के उपचार से) उसे कायवान (अस्तिकाय) कहते हैं।

प्रश्न ०९३ - उपचार किसे कहते हैं ?

उत्तर - किसी वस्तु को किसी निमित्त स्वभाव से भिन्न रूप कहने को उपचार कहते हैं। जैसे शुद्ध

पुद्गल परमाणु स्वभाव से एक प्रदेशी है किन्तु अन्य के (पुद्गलों के) संयोग से वह (संख्यात, असंख्यात, अनंत) बहुप्रदेशी कहलाता है।

प्रश्न ०९४ - स्कंध रूप किस गुण के कारण हो जाता है ?

उत्तर - पुद्गल परमाणु में स्निग्ध-रूक्ष गुण पाये जाते हैं। स्निग्ध-स्निग्ध या स्निग्ध-रूक्ष या रूक्ष-रूक्ष या रूक्ष-स्निग्ध गुण के परमाणु मिलने से परमाणु, स्कंध रूप हो जाता है।

प्रदेश का लक्षण और शक्ति

जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणु वट्ठद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाण दाण रिहं ।। २७ ।।

अन्वयार्थ - (जावदियं) जितना **(आयासं)** आकाश **(अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं)** पुद्गल के सबसे छोटे परमाणु से रूकने वाला है **(तं)** उसको **(खु)** निश्चय से **(सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं)** सर्व परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ **(पदेसं)** प्रदेश **(जाणे)** जानना चाहिये।

भावार्थ - आकाश के जितने क्षेत्र में पुद्गल का सबसे छोटा टुकड़ा (परमाणु) रहता है उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। इस प्रदेश में धर्म और अधर्म के एक-एक प्रदेश का अणु और पुद्गल के संख्यात, असंख्यात और अनंत अणु भी लोहे में आग के समान एक क्षेत्रावगाही होकर समा जाते हैं। इसलिये प्रदेश को सभी द्रव्यों के अणुओं को स्थान देने योग्य कहा जाता है।

प्रश्न ०९५ - प्रदेश किसे कहते हैं ?

उत्तर - एक पुद्गल परमाणु आकाश के जितने क्षेत्र को घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं।

सात पदार्थों के कहने की सकारण प्रतिज्ञा

आसव बंधण संवर णिज्जर मोक्खो सपुण्ण पावा जे ।
जीवाजीव विसेसा तेवि समासेण पभणामो ।। २८ ।।

अन्वयार्थ - (जे) जो **(जीवाजीवविसेसा)** जीव और अजीव के विशेष भेद **(सपुण्णपावा)** पुण्य और पाप सहित **(आसवबंधण संवरणिज्जरमोक्खा)** आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हैं **(ते)** उनको **(वि)** भी **(समासेण)** संक्षेप से **(पभणमो)** कहता हूँ।

भावार्थ - पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात पदार्थ भी जीव अजीव के ही विशेष भेद हैं अर्थात् जीव और अजीव द्रव्यों में छहों द्रव्य, सातों तत्त्व और नौ पदार्थ शामिल हैं। इसलिये उनका भी संक्षेप में यहाँ वर्णन किया जाता है।

प्रश्न ०९६ - विशेष क्या है ?

उत्तर - विशेष का अर्थ पर्याय है। चैतन्यरूप अशुद्ध परिणाम जीव की पर्याय है। अचेतनरूप कर्म पुद्गल की पर्यायें अजीव की पर्याय है।

प्रश्न ०९७ - आस्रव किसे कहते हैं ?

उत्तर - निरास्रव स्वसंवेदन से विलक्षण शुभाशुभ परिणाम द्वारा शुभ और अशुभ कर्मों का आना आस्रव है।

प्रश्न ०९८ - बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर - बंध रहित शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धिरूप भावना से भ्रष्ट हुए जीव को कर्म के प्रदेशों के साथ संश्लेष (सम्बंध) होता है उसे बंध कहते हैं।

प्रश्न ०९९ - संवर किसे कहते हैं ?

उत्तर - कर्म के आगमन को रोकने में समर्थ स्वानुभव रूप से परिणमित जीव को शुभाशुभ कर्मों के आगमन का निरोध होना संवर कहलाता है।

प्रश्न १०० - निर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर - शुद्धोपयोग की भावना के सामर्थ्य से नीरस हुए कर्म पुद्‌गलों का एकदेश खिर जाने को निर्जरा कहते हैं।

प्रश्न १०१ - मोक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर - जीव और पुद्‌गल के संश्लेष रूप बंध का नाश करने में समर्थ निज शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप परिणाम को मोक्ष कहते हैं।

प्रश्न १०२ - पुण्य किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो आत्मा को शुभ संयोग प्रदान करता है उसे पुण्य कहते हैं।

प्रश्न १०३ - पाप किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो आत्मा की शुभ से रक्षा करता है अर्थात् जो आत्मा का पतन करता है उसे पाप कहते हैं।

भाव आस्रव और द्रव्यास्रव का लक्षण

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ।। २९ ।।

अन्वयार्थ - **(अप्पणो)** आत्मा के **(जेण)** जिस **(परिणामेण)** परिणाम से **(कम्मं)** कर्म **(आसवदि)** आस्रव होता है **(स)** वह **(जिणुत्तो)** जिनेन्द्र का कहा हुआ **(भावासवो)** भाव आस्रव **(विण्णेओ)** जानना चाहिये **[च=और]** **(कम्मासवणं)** ज्ञानावरणादिक पुद्‌गल कर्मों का आना **(परो)** दूसरा द्रव्यास्रव **(होदि)** होता है।

भावार्थ - आत्मा के जिस रागादि परिणाम से कर्म आते हैं, वह परिणाम भावास्रव कहलाता है और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का आना द्रव्यास्रव कहलाता है। जैसे - तेल से चुपड़े हुये पदार्थों को धूलि का समागम हो जाता है, उसी प्रकार भावास्रव के निमित्त से जीव के द्रव्यास्रव होता है।

प्रश्न १०४ - आस्रव के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर - आस्रव के दो भेद होते हैं - भावास्रव और द्रव्यास्रव।

प्रश्न १०५ - भावास्रव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिन परिणामों से कर्मों का आस्रव होता है उन परिणामों को भावास्रव कहते हैं।

प्रश्न १०६ - द्रव्यास्रव किसे कहते हैं ?

उत्तर - ज्ञानावरणादि पुद्‌गल कर्मों के आने को द्रव्यास्रव कहते हैं।

प्रश्न १०७ - परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर - आत्मा के शुभ-अशुभ भावों को परिणाम कहते हैं।

भावास्त्रव के भेद

मिच्छत्ता विरदि पमादजोग कोहादओऽथ विण्णेया ।
पण पण पणदह तिय चदु, कमसो भेदा दु पुव्वस्स ।। ३० ।।

अन्वयार्थ - **(दु)** और **(स)** वह **(पुव्वस्स)** प्रथम भावास्त्रव के **(कमसो)** क्रम से **(पण पण पणदह तिय चदु)** पाँच, पाँच पन्द्रह, तीन और चार **(मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओऽथ)** मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय **(भेदा)** भेद **(विण्णेया)** जानना चाहिये।

भावार्थ - भावास्रव के पाँच मिथ्यात्व, पाँच अविरति, पन्द्रह प्रमाद, तीन योग और चार कषाय ये कुल मिलाकर बत्तीस भेद हैं तथा अविरति के बारह, योग के पन्द्रह और कषाय के पच्चीस प्रभेद करने पर भावास्रव के बहत्तर भेद होते हैं।

द्रव्यास्त्रव का लक्षण और भेद

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि ।
दव्वासवो स णेओ अणेय भेओ जिणक्खादो ।। ३१ ।।

अन्वयार्थ - **(णाणावरणादीणं)** ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के **(जोग्गं)** होने योग्य **(जं)** जो **(पुग्गलं)** पुद्गल द्रव्य **(समासवदि)** आता है **(स)** वह **(जिणक्खादो)** जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ **(अणेयभेओ)** अनेक भेद वाला **(दव्वासवो)** द्रव्यास्त्रव **(णेयो)** जानना चाहिये।

भावार्थ - तेल से लिप्त शरीर वाले जीव के धूलि के कणों के समागम के समान ज्ञानावरण आदि आठ कर्मरूप होने के योग्य जो कार्मणवर्गणा के पुद्गलस्कंध आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही होने के लिये आते हैं, उन आते हुए कर्मपरमाणुओं को द्रव्यास्रव कहते हैं। उसके अनेक भेद हैं।

प्रश्न १०८ - द्रव्य आस्रव किसे कहते हैं ?

उत्तर - ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल वर्गणाओं का आस्रव होता है, उसे द्रव्यास्रव कहते हैं।

प्रश्न १०९ - ज्ञानावरण आदि कर्मों के आठ भेद कौन-से हैं ?

उत्तर - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्मों के भेद हैं।

प्रश्न ११० - कर्मों के उत्तर भेद कितने होते हैं ?

उत्तर - कर्मों के उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस होते हैं - ज्ञानावरण के पाँच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के तिरानवें, गोत्र के दो और अन्तराय के पाँच भेद हैं। इस प्रकार कर्मों के उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस होते हैं।

भावबन्ध और द्रव्यबन्ध का लक्षण

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदण भावेण भाव बंधो सो ।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्ण पवेसणं इदरो ।। ३२ ।।

अन्वयार्थ - **(जेण)** जिस **(चेदणभावेण)** आत्मा के चेतन भाव से **(कम्मं)** कर्म **(बज्झदि)** बंधता है **(सो)** वह परिणाम **(भावबंधो)** भावबन्ध है, **(दु)** और **(कम्मादपदेसाणं)** कर्म और आत्मा के प्रदेशों का **(अण्णोण्णपवेसणं)** परस्पर एकमेक होकर मिल जाना **(इदरो)** दूसरा द्रव्यबंध है।

भावार्थ - आत्मा के जिन मिथ्यात्वादि परिणाम से कर्मबंध होता है, वह परिणाम भावबंध कहलाता है और भावबंध के निमित्त से कर्म रूप पुद्गल परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों में दूध और पानी के समान परस्पर एकमेक होकर मिल जाना (एक क्षेत्रावगाही हो जाना) द्रव्यबंध कहलाता है।

प्रश्न १११ - बंध के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर - बंध के दो भेद होते हैं - १. भावबंध, २. द्रव्यबंध

प्रश्न ११२ - भावबंध किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिन मिथ्यातवादि आत्म-परिणामों से कर्म बंधते हैं उसे भावबंध कहते हैं।

प्रश्न ११३ - द्रव्यबंध किसे कहते हैं ?

उत्तर - ज्ञानावरणादि कर्मों का आत्मा के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाह संबंध होता है, उसे द्रव्यबंध कहते हैं।

बन्ध के भेद और उनके कारण

पयडिट्ठिदि अणु भागप्पदेस भेदा दु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडि पदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होंति ।। ३३ ।।

अन्वयार्थ - **(बंधो)** बन्ध **(पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेसभेदा)** प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के भेद से **(चदुविधो)** चार प्रकार है, उनमें **(पयडिपदेसा)** प्रकृतिबंध और प्रदेश बंध **(जोगा)** योग से **(दु)** और **(ठिदिअणुभागा)** स्थितिबंध और अनुभागबंध **(कसायदो)** कषाय से **(होंति)** होते हैं।

भावार्थ - १. प्रकृतिबंध, २. प्रदेशबंध ३. स्थितिबंध और ४. अनुभागबंध इस प्रकार बंध चार प्रकार का है। उनमें प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध तो योग से होते हैं तथा स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय से होते हैं।

(विशेष - तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ८, सूत्र ३ देखें।)

प्रश्न ११४ - प्रकृतिबंध किसे कहते हैं ?

उत्तर - कर्मों के स्वभाव को प्रकृतिबंध कहते हैं। जैसे ज्ञानावरणादि।

प्रश्न ११५ - स्थितिबंध किसे कहते है ?

उत्तर - जीव के प्रदेशों में जितने काल तक कर्म सम्बंध रूप से स्थित हैं, उतने काल को स्थितिबंध कहते हैं।

प्रश्न ११६ - अनुभागबंध किसे कहते हैं ?

उत्तर - जीव के प्रदेशों पर स्थित कर्म के स्कंधों में सुख-दुःख देने की शक्ति विशेष को अनुभागबंध

कहते हैं।

प्रश्न ११७ - प्रदेशबंध किसे कहते हैं ?

उत्तर - ज्ञानावरणादि कर्म रूप होने वाले पुद्‌गल स्कंधों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेशबंध कहते हैं।

प्रश्न ११८ - प्रकृति और प्रदेशबंध किस निमित्त से होते हैं ?

उत्तर - प्रकृति और प्रदेशबंध योग के निमित्त से होते हैं।

प्रश्न ११९ - स्थिति और अनुभागबंध किस निमित्त से होते हैं ?

उत्तर - स्थिति और अनुभागबंध कषाय के निमित्त से होते हैं।

भावसंवर और द्रव्यसंवर का लक्षण

चेदण परिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासव रोहणे अण्णो ।। ३४ ।।

अन्वयार्थ - **(जो)** जो **(चेदणपरिणामो)** आत्मा का परिणाम **(कम्मस्स)** कर्म के **(आसवणिरोहणे)** आस्रव को रोकने में **(हेदू)** कारण है **(सो)** वह परिणाम **(खलु)** निश्चय से **(भावसंवरो)** भावसंवर है और **(जो)** जो **(दव्वासवरोहणे)** द्रव्य आस्रव को रोकने में **(हेऊ)** कारण है **(सो)** वह **(अण्णो)** दूसरा द्रव्यसंवर है।

भावार्थ - आत्मा के जिन परिणामों से कर्म का आना बंद होता है उन परिणामों को भावसंवर कहते हैं और जो द्रव्य आस्रव (द्रव्यकर्म का आना) रोकता है उसे द्रव्य संवर कहते हैं।

प्रश्न १२० - संवर के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर - संवर के दो भेद होते हैं - भावसंवर और द्रव्य संवर।

प्रश्न १२१ - भावसंवर किसे कहते हैं ?

उत्तर - आस्रव को रोकने में कारणभूत आत्म-परिणाम को भावसंवर कहते हैं।

प्रश्न १२२ - द्रव्यसंवर किसे कहते हैं ?

उत्तर - कर्मरूप पुद्‌गल द्रव्य का आना रुक जाने को द्रव्यसंवर कहते हैं।

भावसंवर के भेद

वद समिदी गुत्तीओ धम्माणुपिहा परीसह जओ य ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ।। ३५ ।।

अन्वयार्थ - **(वदसमिदीगुत्तीओ)** व्रत, समिति, गुप्ति **(धम्माणुपिहा)** धर्म, अनुप्रेक्षा **(परीषह जओ)** परीषहजय **(य)** और **(बहुभेया)** बहुत प्रकार **(चारित्तं)** चारित्र ये सब **(भावसंवर विसेसा)** भावसंवर के भेद **(णायव्वा)** जानना चाहिये।

भावार्थ - पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा बाईस परीषहजय और पाँच चारित्र, ये भाव संवर के भेद हैं।

प्रश्न १२३ - व्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर - निश्चय से विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावी निजात्म तत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखरूपी सुधा के

आस्वाद के बल से समस्त शुभाशुभ रागादि विकल्पों की निवृत्ति को व्रत कहते हैं। व्यवहार से उस निश्चय व्रत के साधक हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के आजीवन त्याग लक्षणरूप पाँच प्रकार के व्रत हैं।

प्रश्न १२४ - समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर - निश्चय से अनंत ज्ञानादि स्वभाव के धारक निजात्मा में 'सम' अर्थात् सम्यक् प्रकार से समस्त रागादि विभावों के परित्याग द्वारा, निजात्मा में लीनता-चिंतन-तन्मयता से 'अयन'-गमन-परिणमन करने को समिति कहते हैं। व्यवहार से उसके बहिरंग सहकारी कारणभूत आचारादि चरणानुयोग के ग्रन्थों में कथित ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग नामक पाँच समितियाँ हैं।

प्रश्न १२५ - गुप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर - निश्चय से सहज शुद्धात्मा की भावनारूप लक्षणयुक्त गुप्तस्थान में संसार के कारणरूप रागादि भयों से अपने आत्मा को छिपाना, ढंकना, झम्पना, प्रवेश कराना अथवा रक्षा करने को गुप्ति कहते हैं। व्यवहार से बहिरंग साधन के लिये मन, वचन और काया का व्यापार रोकने को गुप्ति कहते हैं।

प्रश्न १२६ - धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर - निश्चय से आत्मा के विशुद्ध ज्ञानदर्शन लक्षणमय स्वभाव को धर्म है। व्यवहार से उसके साधन के लिये देवेन्द्र, नरेन्द्र आदि से वंद्यपद में जो धरता है-पहँचाता है वह उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य दस प्रकार का धर्म है।

प्रश्न १२७ - अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं ?

उत्तर - अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म का चिंतन करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं।

प्रश्न १२८ - परीषह किसे कहते हैं ?

उत्तर - क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नपना, अरति, स्त्री, गमन, आसन, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह जानना। उन क्षुधा आदि वेदनाओं का तीव्र उदय होने पर भी सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निंदा-प्रशंसा आदि में समतारूप परम सामायिक द्वारा - कि जो (परम सामायिक) नये शुभाशुभ कर्मों का संवर करने में और पूर्व शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ है उसके द्वारा-निज परमात्म भावना से उत्पन्न निर्विकार नित्यानंद लक्षण सुखामृत के अनुभव से चलित न होने को परीषह जय कहते हैं।

प्रश्न १२९ - चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर - शुद्धोपयोग लक्षण निश्चय रत्नत्रय परिणतिरूप निज शुद्धात्म स्वरूप में चरन-आचरण करने को चारित्र कहते हैं।

निर्जरा का लक्षण और भेद

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्म पुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ।। ३६ ।।

अन्वयार्थ – **(जहकालेण)** कर्मों की स्थिति पूर्ण होने से **(भुत्तरसं)** जिसका फल भोगा जा चुका है ऐसा **(कम्मपुग्गलं)** पुद्‌गलमयकर्म **(जेण)** जिस **(भावेण)** परिणाम से **(सडदि)** छूटता है वही परिणाम सविपाक भावनिर्जरा है। **(य)** और **(तवेण)** तप के द्वारा **(जेण भावेण कम्मपुग्गलं सडदि)** आत्मा के जिस परिणाम से कर्म छूटता है वही परिणाम अविपाक भावनिर्जरा है, तथा **(जह कालेण)** स्थिति पूर्ण होने से **(य)** अथवा **(तवेण)** तप से **(तस्सडणं)** ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का छूटना [सविपाक और अविपाक द्रव्य निर्जरा है] **(इदि)** इस प्रकार **(णिज्जरा)** निर्जरा **(दुविहा)** दो प्रकार **(णेया)** जानना चाहिये।

भावार्थ – निर्जरा के दो भेद हैं – द्रव्य निर्जरा और भाव निर्जरा। आत्मा के जिन परिणामों से कर्म एकदेश छूटते हैं उन परिणामों को भाव निर्जरा कहते हैं तथा ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्मों का एकदेश छूटना द्रव्य निर्जरा है। ये दोनों प्रकार की द्रव्य और भाव निर्जरा भी सविपाक (अकाम निर्जरा)तथा अविपाक (सकाम निर्जरा) के भेद से दो–दो प्रकार है। कर्मों की स्थिति पूर्ण होने पर जिसका फल भोगा जा चुका है वह सविपाक निर्जरा कहलाती है तथा तपश्चरण से कर्मों का एकदेश छूटना अविपाक निर्जरा कहलाती है।

प्रश्न १३० – निर्जरा के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर – निर्जरा के दो भेद हैं – भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा।

प्रश्न १३१ – निर्जरा कितने प्रकार से होती है ?

उत्तर – निर्जरा दो प्रकार से होती हैं – सविपाकनिर्जरा (अकाम निर्जरा) और अविपाकनिर्जरा (सकामनिर्जरा)।

प्रश्न १३२ – भावनिर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर – निर्विकार परम चैतन्यरूप चित्चमत्कार के अनुभव से उत्पन्न सहजानंदमयी सुखामृत रस का आस्वादन करने को भावनिर्जरा कहते हैं।

प्रश्न १३३ – द्रव्य निर्जरा किसे कहते हैं, सविपाक और अविपाक के अभिप्राय सहित स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर – जीव के जिस परिणाम से कर्मरूपी पुद्‌गल द्रव्य अपना उदयकाल प्राप्त होने पर सांसारिक सुख अथवा दुःख देकर अपने समय पर पकने वाले आम की भांति सविपाक निर्जरा की अपेक्षा से, अंतरंग में निज शुद्धात्मा के अनुभवरूप परिणाम और बहिरंग सहकारी कारणभूत काललब्धि के आने पर यथासमय निर्जरित होता है। मात्र यथासमय पर निर्जरित ही नहीं होता किन्तु पाल में रखकर पकने वाले आम की तरह अविपाक निर्जरा की अपेक्षा से तप से भी निर्जरित होता है – कि जो तप समस्त पर द्रव्यों की इच्छा के निरोधरूप अभ्यंतर होता है और अत:तत्त्व के, संवेदन के साधनभूत अनशन आदि बारह प्रकार का बहिरंग होता है। उससे जो कर्म गलते हैं उसे द्रव्य निर्जरा कहते हैं।

मोक्ष का लक्षण व भेद

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेओ स भाव मोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्म पुधभावो ।। ३७ ।।

अन्वयार्थ - **(जो)** जो **(अप्पणो)** आत्मा का **(परिणामो)** परिणाम **(सव्वस्स)** समस्त **(कम्मणो)** कर्मों के **(खयहेदू)** क्षय होने का कारण है **(स)** वह परिणाम **(हु)** ही **(भावमोक्खो)** भावमोक्ष **(णेओ)** जानना चाहिये **(य)** और **(कम्मपुधभावो)** ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का छूट जाना **(दव्वविमोक्खो)** द्रव्यमोक्ष है।

भावार्थ - मोक्ष के दो भेद हैं - द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष। आत्मा का जो परिणाम कर्मों के सर्वथा क्षय (नाश) होने में कारण होता है उस परिणाम को भावमोक्ष कहते हैं और ज्ञानावरणादि आठ द्रव्य कर्मों का सर्वथा क्षय (अभाव) हो जाना द्रव्यमोक्ष है। यह द्रव्य मोक्ष अयोग केवलीगुणस्थानवर्ती जीव के अंत समय में होता है।

प्रश्न १३४ - मोक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर - समस्त कर्मों का आत्मा से अलग हो जाने को मोक्ष कहते हैं।

प्रश्न १३५ - मोक्षमार्ग के दो भेद क्यों कहे गये हैं ?

उत्तर - मोक्षमार्ग तो वास्तव में एक है, किन्तु उसका साधन जो अन्य भाव है उसे भी बताना आवश्यक है, उसको व्यवहार से मोक्षमार्ग कहते हैं।

प्रश्न १३६ - मोक्षमार्ग किस नय से प्राप्त होता है ?

उत्तर - मोक्ष तो निश्चय मोक्षमार्ग से ही प्राप्त होता है परन्तु निश्चय मोक्षमार्ग व्यवहार मोक्षमार्ग से ही प्राप्त होता है।

पुण्य और पाप का वर्णन

सुह असुह भाव जुत्तो पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा ।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ।। ३८ ।।

अन्वयार्थ - **(सुहअसुहभावजुत्तो)** शुभ और अशुभ परिणामों सहित **(जीवा)** जीव **(खलु)** निश्चय से **(पुण्णं)** पुण्यरूप **(च)** और **(पावं)** पापरूप **(हवंति)** होते हैं और **(सादं)** साता वेदनीय **(सहाउ)** शुभ आयु **(णामं)** शुभनाम **(च)** और **(पराणि)** शेष सब कर्म **(पावं)** पापरूप **(हवंति)** हैं।

भावार्थ - पुण्य और पाप के भी दो-दो भेद हैं - भावपुण्य और द्रव्यपुण्य। भावपाप और द्रव्यपाप। उनमें जीव के शुभ भावों को भावपुण्य और अशुभ भावों को भावपाप कहते हैं तथा कर्म की पुण्य प्रकृतियों को द्रव्य पुण्य और पाप प्रकृतियों को द्रव्य पाप कहते हैं। साता वेदनीय, शुभायु, शुभनाम, उच्चगोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं तथा असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभनाम, नीचगोत्र तथा घातिया कर्म ये सब पाप प्रकृतियाँ हैं।

(ब) मोक्षमार्ग का स्वरूप

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का लक्षण

सम्मद् दंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ।
ववहारा णिच्चयदो तत्तिय मइयो णिओ अप्पा ।। ३९ ।।

अन्वयार्थ - (**ववहारा**) व्यवहारनय से (**सम्मद्दंसणणाणं चरणं**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (**च**) और (**णिच्चयणयदो**) निश्चयनय से (**तत्तियमइयो**) उन तीनों सहित (**णिओ**) अपना (**अप्पा**) आत्मा (**मोक्खस्स**) मोक्ष का (**कारण**) कारण (**जाणे**) जानना चाहिये।

भावार्थ - मोक्षमार्ग के दो भेद हैं - व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग। उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता तो व्यवहार मोक्षमार्ग कहलाता है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित आत्मा निश्चय मोक्षमार्ग कहलाता है।

प्रश्न १३७ - मोक्षमार्ग कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर - मोक्षमार्ग दो प्रकार का होता है -व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चयमोक्षमार्ग।

प्रश्न १३८ - व्यवहार मोक्ष मार्ग किसे कहते हैं ?

उत्तर - वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और व्रतादि के आचरण के विकल्परूप व्यवहार मोक्षमार्ग है अथवा स्वशुद्धात्म भावना का साधक, बाह्य पदार्थाश्रित व्यवहार मोक्षमार्ग है।

प्रश्न १३९ - निश्चय मोक्ष मार्ग किसे कहते हैं ?

उत्तर - निज निरंजन शुद्धात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरण की एकाग्र परिणतिरूप निश्चय मोक्षमार्ग है। मात्र स्वसंवेदन से उत्पन्न रागादि विकल्प की उपाधि से रहित - ऐसे सुख की अनुभूतिरूप निश्चय मोक्षमार्ग है। अथवा धातु-पाषाण में अग्नि समान साधक वह व्यवहार मोक्षमार्ग है और स्वर्ण समान निर्विकार निजात्मा की उपलब्धि रूप साध्य वह निश्चय मोक्षमार्ग है।

प्रश्न १४० - व्यवहार सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर - सच्चे देव, शास्त्र और गुरु का पच्चीस दोषों से रहित तथा आठ अंगों सहित यथार्थ श्रद्धान करने को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं अथवा जीव आदिक सात तत्वों के यथार्थ श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।

प्रश्न १४१ - निश्चय सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर - शुद्धात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सहज आनंद से तृप्त होते हुए स्वयं अपना निर्विकल्प रूप से संवेदन करने को निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न १४२ - व्यवहार सम्यक्चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिससे अशुभ भाव से निवृत्ति व शुभ भाव में प्रवृत्ति हो ऐसे तप, व्रत, समिति, गुप्ति आदि के पालन करने को व्यवहार सम्यक्चारित्र कहते हैं।

प्रश्न १४३ - निश्चय सम्यक्‌चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर - रागादि विकल्पों के परिहार पूर्वक रागद्वेष विभाव से रहित शुद्ध चैतन्यतत्त्व के उपयोग की स्थिरता को निश्चय सम्यक्‌चारित्र कहते हैं।

आत्मा ही को निश्चयमोक्षमार्ग कहने का कारण

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्ण दवियम्हि ।
तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ।। ४० ।।

अन्वयार्थ - **(रयणत्तयं)** रत्नत्रय **(अप्पाणं)** आत्मा को **(मुयत्तु)** छोड़कर **(अण्णदवियम्हि)** अन्य द्रव्य में **(ण वट्टइ)** नहीं पाया जाता **(तम्हा)** इसलिये **(तत्तियमइयो)** उन तीनों सहित **(आदा)** आत्मा **(हु)** ही **(मोक्खस्स)** मोक्ष का **(कारणं)** कारण **(होदि)** होता है।

भावार्थ - रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र आत्मा में ही रहता है, अन्य द्रव्य में नहीं। इसलिये इन तीनों सहित आत्मा ही निश्चय मोक्ष मार्ग है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेस विमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ।। ४१ ।।

अन्वयार्थ - **(जम्हि सदि)** जिसके होने पर **(खु)** ही **(णाणं)** ज्ञान **(दुरभि णिवेस विमुक्कं)** संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित **(सम्मं)** सत्यार्थ **(होदि)** होता है **[ऐसा]** **(जीवादिकसद्दहणं)** जीवादि सातों तत्त्वों का श्रद्धान **(सम्मत्तं)** सम्यग्दर्शन है **(तं)** वह सम्यग्दर्शन **(अप्पणो)** आत्मा का **(रूवं)** स्वरूप है।

भावार्थ - श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुये सातों तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है। आत्मस्वरूप का श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। वह सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वरूप (स्वभाव, गुण या धर्म) है, उस सम्यग्दर्शन के होने पर ही संशय आदि का अभाव हो जाने से ज्ञान सम्यग्ज्ञान (सत्यार्थ ज्ञान) कहलाता है।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

संशय विमोह विब्भम विवज्जियं अप्प पर सरूवस्स ।
गहणं सम्मणणाणं सायारमणेय भेयं तु ।। ४२ ।।

अन्वयार्थ - **(अप्पपरसरूवस्स)** अपने स्वरूप का और पर वस्तुओं के स्वरूप का **(संशयविमोहविब्भम)** संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित **(सायारं)** आकार विकल्प सहित **(गहणं)** जैसा का तैसा जानना **(सम्मणणाणं)** सम्यग्ज्ञान है **(तु)** और वह सम्यग्ज्ञान **(अणेय भेयं)** अनेक भेद वाला है।

भावार्थ - आत्मा और परवस्तुओं के स्वरूप को संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित तथा आकार 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि विकल्प सहित जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) कहलाता है अर्थात् आत्मस्वरूप का यथावत् जानना निश्चयसम्यग्ज्ञान कहलाता है। उस सम्यग्ज्ञान के मतिज्ञान आदि अनेक भेद होते हैं। (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय का स्वरूप तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय १, सूत्र ९ में देखें।)

दर्शनोपयोग का लक्षण

जं सामण्णं गहणं, भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसदूण अट्ठे, दंसणमिदि भण्णए समये ।। ४३ ।।

अन्वयार्थ – **(अट्ठे)** पदार्थों को **(अविसेसदूण)** विशेषता नहीं करके **(आयारं)** आकार को **(णेव कट्टुं)** ग्रहण नहीं करके **(जं)** जो **(भावाणं)** पदार्थों का **(सामण्णं)** सामान्य **(गहणं)** ग्रहण करना है, वह **(समये)** शास्त्र में **(दंसणं)** दर्शनोपयोग **(भण्णए)** कहा गया है।

भावार्थ – पदार्थों का विशेष रूप और आकार रहित सामान्य रूप से सत्तामात्र का ग्रहण दर्शनोपयोग कहलाता है। इसमें यह काला है, यह छोटा है, यह घड़ा है इत्यादि किसी प्रकार का विकल्प पैदा नहीं होता है। 'वस्तु है' इस प्रकार की सत्ता का प्रतिभास होता है अर्थात् यह निर्विकल्प होता है।

दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति का नियम

दंसण पुव्वं णाणं, छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा ।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ।। ४४ ।।

अन्वयार्थ – **(छदुमत्थाणं)** क्षायोपशमिक ज्ञान वालों के **(णाणं)** ज्ञान **(दंसणपुव्वं)** दर्शनपूर्वक ही होता है **(जम्हा)** क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञानियों के **(दुण्णि)** दो **(उवओगा)** उपयोग **(जुगवं)** एक साथ **(ण)** नहीं होते हैं **(तु)** किंतु **(केवलिणाहे)** केवलज्ञानी के **(ते)** वे **(दो वि)** दोनों ही उपयोग **(जुगवं)** एक साथ होते हैं।

भावार्थ – अल्पज्ञानियों के दर्शन और ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते क्योंकि उनके दो उपयोग एक साथ नहीं होते इसलिये उनका ज्ञान, दर्शन होने के बाद ही होता है किन्तु केवली भगवान के ये दोनों ही उपयोग एक साथ होते हैं, इसलिये उनके दर्शन और ज्ञान में क्रम नहीं होता।

व्यवहार सम्यक्चारित्र का स्वरूप और भेद

असुहादो विणि वित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वद समिदि गुत्ति रूवं ववहारणया दु जिणभणियं ।। ४५ ।।

अन्वयार्थ – **(असुहादो)** अशुभ क्रियाओं से **(विणिवित्ती)** निवृत्ति होना **(य)** और **(सुहे)** शुभ क्रियाओं में **(पवित्ती)** प्रवृत्ति होना **(ववहारणया)** व्यवहार नय से **(चारित्तं)** चारित्र **(जाण)** जानना चाहिये **(दु)** और **(जिणभणियं)** जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ **[तं = वह चारित्र]** **(वतसमिदिगुत्तिरूवं)** व्रत, समिति, गुप्ति रूप है।

भावार्थ – व्यसन, कषाय और पाप आदि जनक कार्यों से विरक्त होना (निवृत्ति रूप) तथा दान पूजा आदि धार्मिक कार्यों में प्रवृत्ति करना (प्रवृत्ति रूप) व्यवहार चारित्र कहलाता है। वह चारित्र पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति के भेद से तेरह प्रकार का हैं।

निश्चयसम्यक्चारित्र का लक्षण

बहिरब्भंतर किरियारोहो भव कारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ।। ४६ ।।

अन्वयार्थ – **(णाणिस्स)** ज्ञानी का **(भवकारणप्पणासट्ठं)** संसार के कारणों का नाश करने

के लिये **(बहिरब्भंतरकिरियारोहो)** बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओं को रोकना **(जिणुत्तं)** जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ **(परमं)** उत्कृष्ट या निश्चय **(सम्मचारित्तं)** सम्यक्‌चारित्र **(जाण)** जानना चाहिये।

भावार्थ – सम्यग्ज्ञान होने के बाद संसार से छूटने के लिये मन, वचन, काय की शुभ और अशुभ बाह्य और आभ्यंतर क्रियाओं को रोकना (आत्मा को विशुद्ध बनाना) निश्चय सम्यक्‌चारित्र कहलाता है।

(स) ध्यान संबंधी विवेचन

ध्यानाभ्यास करने की हेतुपूर्वक प्रेरणा

दुविहंपि मोक्ख हेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तम्हा पयत्त चित्ता जूयं झाणं समब्भसह ।। ४७ ।।

अन्वयार्थ – **(जं)** क्योंकि **(मुणी)** मुनि **(णियमा)** नियम से **(झाणे)** ध्यान में स्थित होकर **(दुविहं पि)** दोनों ही **(मोक्खं हेउं)** मोक्ष के कारणों को **(पाउणदि)** प्राप्त करता है **(तम्हा)** इसलिये **(जूयं)** तुम सब **(पयत्तचित्ता)** प्रयत्नशील होते हुए **(झाणं)** ध्यान का **(समब्भसह)** भली प्रकार अभ्यास करो।

भावार्थ – ध्यान करने से ही मुनियों के निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये यदि तुम्हें भी मोक्षमार्ग की इच्छा है तो तुम भी प्रयत्नपूर्वक ध्यान करने का अभ्यास करो।

ध्यान में लीन होने का उपाय

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठ अत्थेसु ।
थिर मिच्छह जइ चित्तं विचित्त झाणप्प सिद्धीए ।। ४८ ।।

अन्वयार्थ – **(जइ)** यदि **(विचित्तझाणप्पसिद्धीए)** अनेक प्रकार का ध्यान करने के लिये **(चित्तं)** चित्त को **(थिरं)** स्थिर करना **(इच्छह)** चाहते हो तो **(इट्ठणिट्ठअत्थेसु)** इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में **(मा मुज्झह)** मोह मत करो **(मा रज्जह)** राग मत करो **(मा दुस्सह)** द्वेष मत करो।

भावार्थ – यदि सच्चा शुभाशुभ विकल्प रहित ध्यान करना चाहते हो तो इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोह राग द्वेष मत करो क्योंकि मोह राग-द्वेष से जीव संसार में फंसता है, और इसके अभाव से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है।

ध्यान करने योग्य मंत्र

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह ।
परमेट्ठि वाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ।। ४९ ।।

अन्वयार्थ – **(परमेट्ठिवाचयाणं)** परमेष्ठिवाचक **(पणतीस)** पैंतीस **(सोल)** सोलह **(छप्पण)** छह पाँच **(चदु)** चार **(दुगं)** दो **(एगं)** एक अक्षर वाले मंत्र को **[तथा]** **(गुरूवएसेण)** यथार्थ गुरु के उपदेश से **(अण्णं)** और मंत्रों को भी **(जवह)** जपो **(च)** और **(झाएह)** ध्याओ।

भावार्थ – परमेष्ठिवाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर वाले तथा गुरुपदिष्ट अन्य मंत्रों का भी जाप तथा ध्यान करना चाहिये।

'पणतीस' णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धांणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं,

ये पैंतीस अक्षर 'सर्वपद' कहलाते हैं। 'सोल' अरिहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाय साहू, ये सोलह अक्षर 'नामपद' कहलाते हैं। 'छह' अरिहंत सिद्ध, ये छह अक्षर अरिहंत सिद्ध इन दो परिमेष्ठियों के 'नामपद' कहलाते हैं। 'पण' अ सि आ उ सा, ये पाँच अक्षर पाँच परमेष्ठी के 'आदिपद' कहलाते हैं। 'चउ' अरिहंत, ये चार अक्षर अरिहंत परमेष्ठी के 'नामपद' हैं। 'दुग' सिद्ध, ये दो अक्षर सिद्ध परमेष्ठी के 'नामपद' हैं। 'एगं च' 'अ' यह एक अक्षर अरिहंत परमेष्ठी का 'आदिपद' है, अथवा 'ओं' यह एक अक्षर पाँचों परमेष्ठियों का 'आदिपद' है।

प्रश्न १४४ - 'ओं' यह पाँचों परमेष्ठियों का आदिपद किस प्रकार है ?

उत्तर - अरिहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झाया ।
मुणिणो पढमक्खर णिप्पण्णो ओंकारो पंच परमेट्ठी ।।

अर्थ - अरिहंत का प्रथम अक्षर 'अ', अशरीर (सिद्ध) का प्रथम अक्षर 'अ', आचार्य का प्रथम अक्षर 'आ', उपाध्याय का प्रथम अक्षर 'उ', मुनि का प्रथम अक्षर 'म' –इस प्रकार पाँचों परमेष्ठियों के प्रथम अक्षरों से बना हुआ 'ओंकार' है, वही पंच परमेष्ठियों के नाम का आदिपद है।

अरिहंत परमेष्ठी का लक्षण

णट्ठ चदु घाइ कम्मो दंसण सुहणाण वीरिय मईओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ।। ५० ।।

अन्वयार्थ - **(णट्चदुघाइकम्मो)** चार घातिया कर्म के नाशक **(दंसण)** अनन्तदर्शन, **(सुह)** अनन्तसुख, **(णाण)** अनन्तज्ञान **(वीरियमईओ)** और अनन्तवीर्य के धारक **(सुहदेहत्थो)** परमौदारिक शरीर सहित **(सुद्धो)** अठारह दोष रहित **(अप्पा)** आत्मा **(अरिहो)** अरिहंत परमेष्ठी हैं, सो वे अरिहन्त परमेष्ठी **(विचिंतिज्जो)** ध्यान करने योग्य हैं।

भावार्थ - चार घातिया कर्मों के नाशक, चार अनन्त चतुष्टय के धारक, सप्तधातु रहित परमौदारिक शरीर सहित और अठारह दोषरहित जीव अरिहंत परमेष्ठि कहलाते हैं। उनका भी ध्यान करना चाहिये।

सिद्ध परमेष्ठी का लक्षण

णट्ठट्ठ कम्म देहो, लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा, सिद्धो झाएह लोय सिहरत्थो ।। ५१ ।।

अन्वयार्थ - **(णट्ठट्ठकम्मदेहो)** आठ कर्म और शरीर रहित **(लोयालोयस्स)** लोक और अलोक को **(जाणओ)** जानने वाले और **(दट्ठा)** देखने वाले **(पुरिसायारो)** पुरूषाकार **(लोयसिहरत्थो)** लोक के अग्रभाग में स्थित **(अप्पा)** आत्मा **(सिद्धो)** सिद्ध परमेष्ठी हैं, उन सिद्ध परमेष्ठी को भी **(झाएह)** ध्याओ।

भावार्थ - अष्ट कर्म और पाँच शरीर रहित, लोक और अलोक के ज्ञाता दृष्टा (जानने और देखने वाले) पुरुष के अंतिम शरीर से कुछ छोटे आकार के धारक और लोक के अग्रभाग में स्थित आत्मा सिद्ध परमेष्ठी कहलाती है। उन सिद्ध परमेष्ठी का भी ध्यान करना चाहिये।

आचार्य परमेष्ठी का लक्षण

दंसण णाण पहाणे, वीरिय चारित्त वरत वायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ, सो आयरिओ मुणी झेओ ।। ५२ ।।

अन्वयार्थ - **(जो)** जो **(दंसणणाणपहाणे)** दर्शनाचार और ज्ञानाचार हैं प्रधान जिनके ऐसे (**वीरिय चारित्तवरत वायारे**) वीर्याचार, चारित्राचार और उत्तम तपश्चरणाचार में **(अप्पं)** अपने को **(च)** और **(परं)** दूसरों को **(जुंजइ)** लगाते हैं **(सो)** वे **(मुणी)** मुनि **(आयरियो)** आचार्य परमेष्ठी हैं, वे आचार्य परमेष्ठी भी **(झेओ)** ध्यान करने योग्य हैं।

भावार्थ - जो साधु दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र और तपश्चरण इन पाँच आचारों को स्वयं पालते हैं तथा दूसरों से पालन कराते हैं उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहते हैं। उनका भी ध्यान करना चाहिये।

उपाध्याय परमेष्ठी का लक्षण

जो रयणत्तय जुत्तो, णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो ।
सो उवझाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ।। ५३ ।।

अन्वयार्थ - **(जो)** जो **(रयणत्तयजुत्तो)** रत्नत्रय सहित और **(णिच्चं)** सदा **(धम्मोवएसणे)** धर्मोपदेश देने में **(णिरदो)** तत्पर होता है **(सो)** वह **(जदिवरवसहो)** प्रधान मुनियों में प्रमुख **(अप्पा)** आत्मा **(उवझाओ)** उपाध्याय परमेष्ठी हैं **(तस्स)** उन उपाध्याय परमेष्ठी के लिये (णमो) नमस्कार हो।

भावार्थ - जो रत्नत्रय के धारक, धर्मोपदेशक और मुनिव्रत के धारक होते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं। उनका भी ध्यान करना चाहिये।

साधु परमेष्ठी का लक्षण

दंसण णाण समग्गं, मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्च सुद्धं, साहू स मुणी णमो तस्स ।। ५४ ।।

अन्वयार्थ - **(जो)** जो **(मुणी)** मुनि **(मोक्खस्स)** मोक्ष के **(मग्गं)** मार्गस्वरूप **(दंसण णाणसमग्गं)** दर्शन और ज्ञान सहित **(णिच्चसुद्धं)** सदा शुद्ध **(चारित्तं)** चारित्र को **(साधयदि)** साधता है **(स)** वह **(साहू)** साधु परमेष्ठी है **(तस्स)** उस साधु के लिये **(णमो)** नमस्कार हो।

भावार्थ - जो दिगम्बर मुनि मोक्ष के कारण निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) को धारण करते हैं उन्हें साधु परमेष्ठी कहते हैं। उनका भी ध्यान करो।

निश्चयध्यान का वर्णन

जं किंचिविचिंतंतो, णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूणय एयत्तं, तदा हु तं तस्स णिच्चयं झाणं ।। ५५ ।।

अन्वयार्थ - **(जदा)** जब **(साहू)** साधु **(एयत्तं)** एकाग्रता को **(लद्धूणय)** प्राप्त होकर **(जं किंचि वि)** जो कुछ भी **(चिंतंतो)** चिन्तवन करता हुआ **(णिरीहवित्ती)** इच्छा रहित **(हवे)** होता है **(तदा)** उस समय **(हु)** ही **(तस्स)** उस साधु का **(तं)** वह **(णिच्छयं)** निश्चय **(झाणं)** ध्यान होता है।

भावार्थ – मन, वचन और काय की क्रियाओं को रोककर एकाग्रता सहित अंतरंग और बहिरंग परिग्रहों से निस्पृह आत्मा (ध्याता) जब आत्मस्वरूप या अरिहंत आदि (ध्येय) का तन्मयतापूर्वक चिंतवन (ध्यान) करता है तब उसका वह ध्यान निश्चयध्यान कहलाता है।

परम ध्यान का लक्षण

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ।। ५६ ।।

अन्वयार्थ – (**किंवि**) कुछ भी (**मा चिट्ठह**) चेष्टा मत करो (**मा जंपह**) मत बोलो (**मा चिंतह**) मत विचारो (**जेण**) जिससे (**अप्पा**) आत्मा (**अप्पम्मि**) आत्मा में (**रओ**) लीन (**होइ**) होकर (**थिरो**) स्थिर (**होइ**) होता है (**इणमेव**) यह ही (**परं**) उत्कृष्ट (**झाणं**) ध्यान (**हवे**) है।

भावार्थ – मन, वचन, काय की चेष्टा को रोककर आत्मा को आत्मचिंतवन में ही लगाना परमध्यान कहलाता है। इसलिये उन तीनों की प्रवृत्ति को रोककर आत्मा को आत्मस्वरूप में ही लीन करना चाहिये।

ध्यान का उपाय

तव सुदवदवं चेदा, झाणरह धुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तिय णिरदा, तल्लद्धीए सदा होइ ।। ५७ ।।

अन्वयार्थ – (**जम्हा**) जिस कारण से (**तवसुदवदवं**) तप, शास्त्र और व्रतों को धारण करने वाली (**चेदा**) आत्मा (**झाणरह धुरंधरो**) ध्यानरूपी रथ को ढोने वाला (**हवे**) होता है (**तम्हा**) इसलिये (**तल्लद्धीए**) उस ध्यान की प्राप्ति के लिये (**सदा**) हमेशा (**तत्तियणिरदा**) उन तीनों में लीन (**होइ**) होओ।

भावार्थ – तपश्चरण का धारक, शास्त्रों का जानने वाला और व्रतों का पालन करने वाला आत्मा ही उत्कृष्ट ध्यान कर सकता है। इसलिये उत्कृष्ट ध्यान की प्राप्ति के लिए कारणभूत तपश्चरण, तत्त्वज्ञान और व्रत पालन में सदा लीन रहना चाहिए।

ग्रन्थकार की लघुता

दव्व संगह मिणं मुणि णाहा, दोस संचयचुदा सुद पुण्णा ।
सोधयंतु तणु सुत्त धरेण, णेमिचंद मुणिणा भणियं जं ।। ५८ ।।

अन्वयार्थ – (**तणुसुत्तधरेण**) अल्पश्रुत के धारक (**णेमिचंदमुणिणा**) मुझ नेमिचन्द मुनि ने (**जं**) जो (**इणं**) यह (**दव्वसंगहं**) द्रव्य संग्रह (**भणियं**) कहा है इसको (**दोससंचयचुदा**) रागादि तथा संशयादि दोषरहित (**सुदपुण्णा**) वर्तमान परमागम नामक द्रव्य श्रुत तथा भावश्रुत के ज्ञाता (**मुणिणाहा**) प्रधानमुनि (**सोधयंतु**) संशोधन करें।

भावार्थ – मुझ नेमिचन्द्र ने जो यह द्रव्यसंग्रह बनाया है उसमें अनेक गल्तियों के होने की सम्भावना है, इसलिये मेरे से प्रधानमुनि इसका संशोधन करें।

निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न – जीवो उवओगमओ..........गाथा पूर्ण कर विस्तार करें। अथवा द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ के आधार पर जीव द्रव्य के लक्षण-विशेषण विस्तार से लिखें।

उत्तर – जीवमजीवं दव्वं, जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं ।
देविंदविंदवंदं, वंदे तं सव्वदा सिरसा ।।

अर्थात् जिस जिनवर वृषभ ने जीव-अजीव द्रव्य का वर्णन किया है, जो देवोन्द्रों के देव समूह द्वारा वंदन योग्य हैं, उन तीर्थंकर परमदेव को सदा नमस्कार करता हूँ। 'ऐसे मंगलाचरण से प्रारम्भ होने वाले' श्री नेमिचंद्र सिद्धांतिदेव द्वारा रचित वृहद्द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ में नौ अधिकार एवं ५८ गाथायें हैं। इन नौ अधिकारों में व्यवहार-निश्चय से संधिबद्ध कथन किया है। इसके प्रथम अधिकार में छह द्रव्य और पंचास्तिकाय का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम नमस्कार गाथा के उपरांत दूसरी अति महत्वपूर्ण गाथा है –

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्सोड्ढगई।। २।।

जीवमयी उपयोग अमूर्त कर्ता देहमान है पूर्त।
भोक्ता संसारी अर सिद्ध, ऊर्ध्वगमन नव कथन प्रसिद्ध।।

जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेह प्रमाण है, भोक्ता है, संसारस्थ है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है वह जीव है।

इस गाथा में जीव के विशेषण बताये गये हैं जो लक्षण पर आधारित हैं। ग्रन्थ के टीकाकार श्री ब्रह्मदेव विरचित संस्कृत वृत्ति का अनुवाद करते हुए इन सभी विशेषणों का विस्तार किया गया है, जो इस प्रकार है –

१. जीवो – यह जीव यद्यपि निश्चय नय से आदि, मध्य, अंत रहित स्व-पर प्रकाशक अविनाशी निरुपाधि शुद्ध चैतन्य जिसका लक्षण है, ऐसे निश्चय प्राण से जीता है तो भी अशुद्ध नय से अनादि कर्मबंध के वश अशुद्ध द्रव्यप्राणों और भावप्राणों से जीता है, वह जीव है। आशय यह है कि जीव शुद्ध चैतन्य लक्षण वाला है जो निश्चय प्राण और कर्मबंध के वश द्रव्यप्राण-भावप्राण से जीने वाला है, अत: वह 'जीव' है।

२. उवओगमओ – यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से सकल विमल अर्थात् सर्वथा निर्मल केवलज्ञान दर्शनरूप उपयोगमय है तो भी अशुद्ध नय से क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शन से रचित होने से ज्ञानदर्शनरूप उपयोगमय है।

३. अमुत्ति – यद्यपि व्यवहार से मूर्तकर्म के अधीनपने से स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रूप मूर्तपना सहित है इसलिये मूर्त है तो भी परमार्थ से अमूर्त – अतीन्द्रिय, शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव वाला होने से 'अमूर्त' है।

४. कत्ता – यद्यपि यह जीव भूतार्थनय से निष्क्रिय-टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक, एक स्वभाव वाला है तो भी अभूतार्थ नय से मन, वचन, काया के व्यापार को उत्पन्न करने वाले कर्म सहित होने से, शुभाशुभ कर्म का कर्ता होने से 'कर्ता' है।

५. सदेह परिमाणो – यद्यपि निश्चय से सहज शुद्ध लोकाकाश प्रमाण असंख्यप्रदेशी है तो भी व्यवहार से, अनादि कर्म के आधीनपने से शरीरनामकर्म के उदय से उत्पन्न संकोच-विस्तार के आधीनपने के कारण, घटादि पात्र में स्थित दीपक की भांति 'स्वदेहप्रमाण' है। अर्थात् असंख्यात प्रदेशी आत्मा शरीरनामकर्म के उदय स्वदेहप्रमाण है।

६. भोत्ता – यद्यपि यह जीव शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से रागादि विकल्प उपाधि रहित, अपने आत्मा से उत्पन्न सुखामृत का भोक्ता है तो भी अशुद्ध नय से उस प्रकार के सुखामृत रसपान का अभाव होने से शुभाशुभ कर्म से उत्पन्न सुख-दु:ख को भोगने वाला होने के कारण 'भोक्ता' है।

७. संसारत्थो – यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चय नय से नि:संसार, नित्यानंद एक स्वभाव वाला है तथापि अशुद्ध नय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाँच प्रकार के संसार में रहता है अत: 'संसारस्थ' है।

८. सिद्धो – यद्यपि यह जीव व्यवहार से निजात्मा के उपलब्धि जिसका लक्षण है ऐसे सिद्धत्व के प्रतिपक्षभूत कर्मोदय से असिद्ध है तो भी निश्चय नय से अनंत ज्ञानादि अनंत गुणरूप स्वभाव वाला होने से 'सिद्ध' है। सो – वह इस प्रकार के गुणों वाला जीव है।

९. विस्ससोड्ढगई – यद्यपि यह जीव व्यवहार से चार गति उत्पन्न करने वाले कर्मोदय के वश ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् गतिरूप स्वभाव वाला है तो भी निश्चय से केवलज्ञानादि अनंत गुणों की प्राप्ति जिसका लक्षण है, ऐसे मोक्षगमन के समय विस्रसा-स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

उपर्युक्त विशेषण के आधार पर ग्रन्थकर्ता ने नव अधिकारों की सूचना दी है।

(ब) आचार्य परिचय

जैन परम्परा के सभी वर्गों में णमोकार मंत्र का प्रतिदिन स्मरण किया जाता है। णमोकार मंत्र में अरिहंत और सिद्ध परमात्मा देव हैं। अरिहंत को उपदेश देकर मोक्षमार्ग प्रशस्त करने के कारण परम गुरु भी कहा जाता है। आचार्य, उपाध्याय, और साधु यह तीन गुरु की श्रेणी में आते हैं। साधु रत्नत्रय की साधना आराधना में लीन रहते हैं। उपाध्याय पठन-पाठन में संलग्न रहते हैं और आचार्य दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, तपाचार और चारित्राचार का स्वयं पालन करते हैं तथा संघ में सभी साधुओं से पालन कराते हैं ऐसी आचार्य की विशेषता होती है। जैन परम्परा में आचार्य परम्परा अत्यंत महिमामय एवं प्रभावनापूर्ण है। अनेक आचार्यों ने अपने ज्ञान, ध्यान, साधना और साहित्य से धर्मध्वजा फहराई है। हम यहाँ उन आचार्यों का परिचय प्राप्त करेंगे। आचार्य परम्परा को समझने के लिये हम सभी आचार्यों को चार भागों में एवं विद्वत् मनीषी सहित पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं।

१. श्रुतधराचार्य

२. सारस्वताचार्य

३. प्रबुद्धाचार्य

४. परम्परा पोषकाचार्य

५. कवि और लेखक-आचार्य तुल्य

इस प्रकार पाँच भागों में विभक्त कर हम आचार्य परम्परा को समझ सकते हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है -

१. श्रुतधर आचार्य -

श्रुतधराचार्य से अभिप्राय उन आचार्यों से है जिन्होंने दिगम्बर आचार्यों के चारित्र और गुणों का निर्वाह करते हुए सिद्धांत, साहित्य, कर्म साहित्य और अध्यात्म साहित्य का सृजन किया है। सामान्यतया तो प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग का पूर्व परम्परा के आधार पर ग्रन्थ रूप में प्रणयन करने का कार्य सभी आचार्य करते रहे हैं, परन्तु केवली और श्रुतकेवलियों की परम्परा को प्राप्त कर जो अंग या पूर्वों के एकदेश ज्ञाता आचार्य हुए हैं वे श्रुतधराचार्य हैं। अतएव इन आचार्यों में गुणधर, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, आर्यमंक्षु, नागहस्ति, वप्पदेव, कुन्दकुन्द, वज्रयश, चिरन्तनाचार्य, आचार्य वट्टकेर, शिवार्य, आचार्य कुमार या स्वामीकुमार (कार्तिकेय), गृद्धपिच्छाचार्य प्रमुख हैं।

२. सारस्वताचार्य -

सारस्वताचार्य से अभिप्राय उन आचार्यों से है जिन्होंने प्राप्त हुई श्रुत परम्परा का मौलिक ग्रन्थप्रणयन और टीका साहित्य द्वारा प्रचार-प्रसार किया है। इन आचार्यों में मौलिक प्रतिभा तो रही है परंतु श्रुतधरों के समान अंग और पूर्व साहित्य का ज्ञान नहीं रहा है। इन आचार्यों में समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दि पूज्यपाद, पात्रकेसरी (पात्रस्वामी), जोइंदु, विमलसूरि, ऋषिपुत्र, मानतुंग, रविषेण, जटासिंहनन्दि, ऐलाचार्य, अकलंकदेव, वीरसेन, जिनसेन द्वितीय, अमितगति प्रथम, अमितगति द्वितीय, अमृतचन्द्रसूरि, आचार्य विद्यानन्द, देवसेन,

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, जिन तारण स्वामी, नरेन्द्रसेन, नेमिचन्द्र मुनि, श्रीदत्त, कुमारसेन गुरु, यशोभद्र, वज्रसूरि, शांतिषेण, श्रीपाल, सिंहनन्दि, काणभिक्षु, कनकनन्दि आदि आचार्यों का नाम उल्लेखनीय है।

३. प्रबुद्धाचार्य –

प्रबुद्धाचार्य से अभिप्राय उन आचार्यों से है जिन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा ग्रन्थ प्रणयन के साथ विवृत्तियाँ और भाष्य भी रचे हैं। यद्यपि सारस्वताचार्य और प्रबुद्धाचार्य दोनों में ही प्रतिभा का बाहुल्य है, परन्तु दोनों की प्रतिभा के तारतम्य में अंतर है। जितनी सूक्ष्म निरूपण शक्ति सारस्वताचार्यों में पाई जाती है, उतनी सूक्ष्म निरूपण शक्ति प्रबुद्धाचार्यों में नहीं है। कल्पना की रमणीयता या कल्पना की उड़ान प्रबुद्धाचार्यों में अधिक है और इस श्रेणी के सभी आचार्य प्राय: कवि हैं। इनका गद्य और पद्य भी अलंकृत शैली का है अत: अभिव्यंजना की सशक्त काव्यशक्ति के रहने पर भी सिद्धांत निरूपण की वह क्षमता नहीं है जो सारस्वताचार्य या श्रुतधराचार्यों में पाई जाती है।

इस श्रेणी के आचार्यों में जिनसेन प्रथम, प्रभाचन्द्र, नरेन्द्रसेन, भावसेन, आर्यनन्दि, नेमिचन्द्रगणि, पद्मनन्दि, वादीभसिंह, हरिषेण, वादिराज, पद्मनन्दि–जम्बूद्वीप पण्णत्तीकार, महासेन, सोमसेन, हस्तिमल्ल, रामसिंह, नयनन्दि, माघनन्दि, वज्रनन्दि, पद्मप्रभमलधारिदेव, गुणभद्र, पाल्यकीर्ति, माणिक्यनन्दि, शुभचन्द्र, इन्द्रनन्दि प्रथम, इन्द्रनन्दि द्वितीय, वीरनन्दि सिद्धांतचक्रवर्ती, माधवचन्द्र त्रैविद्य, अनन्तकीर्ति आदि आचार्यों का नाम उल्लेखनीय है।

४. परम्परापोषकाचार्य –

परम्परापोषकाचार्य आचार्यों से हमारा अभिप्राय उन भट्टारकों से है जिन्होंने दिगम्बर परम्परा की रक्षा के लिये प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रन्थों के आधार पर अपने नवीन ग्रन्थ लिखे। सारस्वताचार्य और प्रबुद्धाचार्य में जैसी मौलिक प्रतिभा समाविष्ट थी, वैसी मौलिक प्रतिभा परम्परापोषक आचार्यों में नहीं पाई जाती। नई सम्भावनाओं का विकास इन आचार्यों द्वारा नहीं हो सका है। पिष्टपेषण कार्य ही इन आचार्यों के द्वारा हुआ है। यों तो संस्कृति निर्माताओं के रूप में अनेक परम्परापोषक आचार्य आते हैं, पर वाङ्मय सृजनों की मौलिक प्रतिभा और अध्ययन गाम्भीर्य प्राय: इन्हें प्राप्त नहीं था। धर्म प्रचार करना, जनसाधारण को धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाये रखना एवं सरस्वती का संरक्षण करना प्राय: परम्परापोषक आचार्यों का लक्ष्य हुआ करता था। यही कारण है कि इन आचार्यों द्वारा गद्दियों पर समृद्ध ग्रन्थागार स्थापित किये गये। मौलिक ग्रन्थप्रणयन के साथ आर्ष और मान्य कवियों एवं श्रुतधरों द्वारा रचित वाङ्मय, काव्य एवं अध्यात्मसाहित्य की प्रतिलिपियाँ भी इनके तत्त्वावधान में प्रस्तुत की गईं हैं।

परम्परापोषक आचार्यों ने युगानुसार रचनाएँ न लिखकर धर्मप्रचारार्थ कथा काव्य या दर्शन सम्बंधी ग्रन्थों का प्रणयन किया है। धर्म और संस्कृति के दायित्व का निर्वाह लगभग पाँच–छह सौ वर्षों तक इन आचार्यों के द्वारा होता रहा है। ये आचार्य आरम्भ में निश्चयत: निस्पृही, त्यागी, ज्ञानी एवं जितेन्द्रिय होते थे। स्वयं विद्वान होने के साथ मनीषी विद्वान का सम्पोषण भी इन्हीं की गद्दियों से होता था।

इस श्रेणी के आचार्यों में भास्करनन्दि, वृहदप्रभाचन्द्र, आचार्य पार्श्वदेव, सकलकीर्ति, वामदेव, ब्रह्मदेव, सिंहसूरि, मल्लिषेण, श्रुतसागर, अजितसेन, ज्ञानकीर्ति, ब्रह्मनेमिदत्त, यश:कीर्ति, श्रीचन्द्र, वादिचन्द्र,

सोमकीर्ति, विबुद्ध श्रीधर, अमरकीर्ति, देवचन्द्र, हरिचन्द्र, गुणचन्द्र, शुभचन्द्र, तेजपाल, पूर्णभद्र, दामोदर, त्रिविक्रम, बहुश्रुतसागर, विद्यानन्दि, पद्मनन्दि, नेमिचन्द्र, सहस्रकीर्ति, शुभकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति, सुरेन्द्रकीर्ति, विजयकीर्ति, ललितकीर्ति, चन्द्रकीर्ति, कमलकीर्ति, जयकीर्ति, जिनेन्द्रभूषण, धर्मभूषण, चारित्रभूषण, सुमतिसागर, अरुणमणि, श्रीनन्दि, सोमसेन, छत्रसेन, महेन्द्रसेन, नरेन्द्रसेन आदि आचार्यों का नाम परिगणित किया जाता है।

५. कवि और लेखक-आचार्य तुल्य -

जैन परम्परा में आचार्य तुल्य अनेकों काव्यकार एवं लेखक कवि हुए हैं। इनके द्वारा संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं देशज भाषा आदि में साहित्य सृजन किया गया है। इनकी साहित्य रचनाएँ आगम और अध्यात्म के विभिन्न विषयों को स्पष्ट करती हैं। यह लेखक और कवि स्वयं आचार्य तो नहीं थे लेकिन उनकी प्रतिभा आचार्यों जैसी प्रतीत होती थी, वे प्रभावशाली ग्रंथकार हुए। इनको चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। जो इस प्रकार हैं -

१. संस्कृत कवि और ग्रंथ लेखक - महाकवि धनञ्जय, महाकवि असग, महाकवि हरिश्चन्द्र, महाकवि आशाधर, महाकवि अर्हदास, वाग्भट्ट प्रथम, अभिनव वाग्भट्ट, पं. मेधावी, पं. जिनदास, पं. वामदेव, चामुण्डराय, अजितसेन, श्रीधरसेन, विजयवर्णी, ज्ञानकीर्ति, धर्मधर, गुणभद्र द्वितीय, नागदेव, रामचन्द्र मुमुक्षु, वादिचन्द्र, राजमल्ल, पद्मसुन्दर, ब्रह्मकृष्णदास, अभिनव चारुकीर्ति, अरुणमणि, जगन्नाथ।

२. अपभ्रंश कवि एवं लेखक - महाकवि स्वयंभूदेव, महाकवि पुष्पदन्त, महाकवि दामोदर, महाकवि रइधू, महाकवि सिंह, कवि चतुर्मुख, कवि हरिचन्द या जयमित्रहल, कवि असवाल, कवि शाह ठाकुर, कवि माणिकचन्द भगवतीदास, कवि ब्रह्मसाधारण, कवि देवनन्दि, कवि अल्हू, कवि लक्ष्मीचंद, कवि नेमिचंद, कवि देवदत्त, पं. योगदेव, धवल कवि, वीर कवि, त्रिभुवनस्वयंभू, धनपाल, हरिषेण, श्रीचन्द, श्रीधर प्रथम, श्रीधर द्वितीय, श्रीधर तृतीय, देवसेन, नरसेन या नरदेव, अमरकीर्ति गणि, विमलकीर्ति, मुनि कनकामर, लाखू, यशःकीर्ति प्रथम, देवचन्द, उदयचन्द, बालचन्द, विनयचन्द, दामोदर, दामोदर द्वितीय अथवा ब्रह्मा, सुप्रभाचार्य, गुणभद्र, हरिदेव, महीन्दु, माणिक्यराज, जल्हिगले।

३. हिन्दी तथा देशज भाषा - कवि एवं लेखक : महाकवि बनारसीदास, महाकवि भूधरदास, आचार्यकल्प पं. टोडरमल, कवि सालिवाहन, कवि बुलाकीदास, कवि द्यानतराय, कवि खड्गसेन, पंडित रूपचन्द पाण्डेय, पंडित दौलतराम कासलीवाल, पंडित जयचन्द छाबड़ा, पंडित भागचन्द, पंडित जगमोहनदास और पंडित परमेष्ठि सहाय, जगजीवन, कुँवरपाल, भैया भगवतीदास, किसनसिंह, मनोहरलाल या मनोहरदास, नथमल विलाला, दौलतराम द्वितीय, दीपचन्द शाह, सदासुख कासलीवाल, बुधजन, वृन्दावनदास, जयसागर, गद्यराज राजमल्ल, ब्रह्म गुलाल।

४. कन्नड़, तमिल, मराठी और अन्य कवि एवं लेखक - कन्नड़ के कवि एवं लेखक में आदिपम्प, कवि पोन्न, कवि रन्न, नागचन्द या अभिनव पम्प, नयसेन, कवि जन्न, कर्णपार्य, नेमिचन्द्र, रत्नाकर वर्णी, केशवराज आदि प्रमुख हुए हैं। तमिल भाषा में तिरुतक्कतेवर, इलंगोवडिगल, तोलामुलितेवर, वामनमुनि, कुंगवेल आदि नाम प्रमुख हैं।

मराठी भाषा के जैन कवि एवं लेखकों में जिनदास, गुणदास या गुणकीर्ति, मेघराज, वीरदास या पासकीर्ति, महिसागर, देवेन्द्रकीर्ति, मेघराज, कामराज, सूरिराज, नागोआया, अभयकीर्ति, अजितकीर्ति, जिनदास, पुण्यसागर, महीचन्द्र, महाकीर्ति, लक्ष्मीचन्द्र, नगेन्द्रकीर्ति, दयासागर, विशालकीर्ति, गंगादास, चिन्तामणि, गुणकीर्ति, जिनसागर, रत्नकीर्ति, दयासागर, जिनसेन, टकाप्पा, सहवा, रघु के नाम प्रमुख हैं।

श्रुत या आगमज्ञान से सम्बद्ध आचार्य परम्परा –

दिगम्बर पट्टावलियों और प्रशस्तियों से अवगत होता है कि श्रुत को सुनकर कंठस्थ कर लेने की परम्परा तीर्थंकर महावीर के निर्वाण लाभ के पश्चात् कई शतक तक चलती रही। द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्वज्ञान, कर्मसिद्धान्त एवं आचार सम्बंधी मौलिक मान्यताओं को परम्परा से प्राप्त कर स्मरण बनाए रखने की प्रथा धारावाहिक रूप में चलती रही। नन्दी संघ–बलात्कारगण–सरस्वतीगच्छ की पट्टावलि में बताया गया है कि गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी ने बासठ वर्षों तक धर्म प्रचार का कार्य किया। महावीर स्वामी के पश्चात् बारह वर्षों तक गौतम स्वामी ने केवलीपद प्राप्त कर धर्म प्रचार किया। इनके पश्चात् १२ वर्षों तक सुधर्माचार्य केवली रहे। अनन्तर अड़तीस वर्षों तक जम्बूस्वामी केवली बने रहे।

इस प्रकार बासठ वर्षों तक उक्त तीनों केवलियों की ज्ञान ज्योति प्रकाशित होती रही। तत्पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए। चौदह वर्षों तक विष्णु ने, सोलह वर्षों तक नन्दिमित्र ने, बाईस वर्षों तक अपराजित ने, उन्नीस वर्षों तक गोवर्द्धन ने और उनतीस वर्षों तक भद्रबाहु ने ज्ञानदीप को प्रज्वलित रखा। तत्पश्चात् दस वर्षों तक दशपूर्वधारी विशाखाचार्य ने, उन्नीस वर्षों तक प्रोष्ठिलाचार्य ने, सत्रह वर्षों तक क्षत्रियाचार्य ने, इक्कीस वर्षों तक जयसेनाचार्य ने, अट्ठारह वर्षों तक नागसेनाचार्य ने, सत्रह वर्षों तक सिद्धार्थाचार्य ने, अट्ठारह वर्षों तक धृतिसेनाचार्य ने, तेरह वर्षों तक विजयाचार्य ने, बीस वर्षों तक देवाचार्य ने, बीस वर्षों तक बुद्धिलिङ्गाचार्य ने, चौदह वर्षों तक देवाचार्य ने एवं चौदह वर्षों तक धर्मसेनाचार्य ने श्रुत का प्रचार किया। इस प्रकार एक सौ तिरासी वर्षों तक दशपूर्वधारी श्रुत का प्रचार करते रहे। तदनन्तर अट्ठारह वर्षों तक एकादशांगधारी नक्षत्राचार्य ने, बीस वर्षों तक जयपालाचार्य ने, उनतालीस वर्षों तक पाण्डवाचार्य ने, दश वर्षों तक ध्रुवसेनाचार्य ने एवं बत्तीस वर्षों तक कंसाचार्य ने श्रुतज्ञान की ज्योति को प्रज्वलित किया। इस प्रकार एकादशांगधारी उक्त पाँच आचार्यों ने श्रुतज्ञान का प्रचार किया। अनन्तर दशांग के ज्ञाता शुभचन्द्राचार्य ने छह वर्षों तक, यशोभद्राचार्य ने अट्ठारह वर्षों तक, भद्रबाहु ने तेईस वर्षों तक और लोहाचार्य ने पचास वर्षों तक अंग ज्ञान का प्रवचन किया। अनन्तर अट्ठाईस वर्षों तक एकांग के धारी अर्हद्वल्याचार्य ने, इक्कीस वर्षों तक माघनन्द्याचार्य ने, उन्नीस वर्षों तक धरसेनाचार्य ने श्रुतज्ञान को जीवित रखा।

इस प्राकृत पट्टावली में प्रत्येक आचार्य का अलग–अलग समय दिया गया है तथा समष्टि रूप में भी वर्ष संख्या अंकित की गयी है। तीन केवलियों और पाँच श्रुतकेवलियों का समय एक सौ बासठ वर्ष बताया है। दशपूर्वधारियों की पृथक्–पृथक् वर्ष संख्या और समष्टि रूप वर्ष संख्या प्राप्त नहीं होती। इसमें दो वर्ष का अन्तर आता है। यथा –

दशपूर्वधारी –

०१. वीर निर्वाण संवत् १६२ – विशाखाचार्य – १० वर्ष

०२. वीर निर्वाण संवत् १७२ – प्रोष्ठिल – १९ वर्ष

०३. वीर निर्वाण संवत् १९१ – क्षत्रिय – १७ वर्ष

०४. वीर निर्वाण संवत् २०८ – जयसेन – २१ वर्ष

०५. वीर निर्वाण संवत् २२९ – नागसेन – १८ वर्ष

०६. वीर निर्वाण संवत् २४७ – सिद्धार्थ – १७ वर्ष

०७. वीर निर्वाण संवत् २६४ – धृतिसेन – १८ वर्ष

०८. वीर निर्वाण संवत् २८२ – विजय – १३ वर्ष

०९. वीर निर्वाण संवत् २९५ – बुद्धिलिङ्ग – २० वर्ष

१०. वीर निर्वाण संवत् ३१५ – देव – १४ वर्ष

११. वीर निर्वाण संवत् ३२९ – धर्मसेन – १४ वर्ष (१६ वर्ष)

१८१ + २ = १८३

आदरणीय डॉ. हीरालाल जी ने अनुमान किया है कि धर्मसेन का काल १४ वर्ष के स्थान पर १६ वर्ष होना चाहिये। इस प्रकार वर्षगणना करने पर १८३ वर्ष दशपूर्वधारियों का समय अन्य स्थानों पर २२० वर्ष बतलाया गया है, पर इस पट्टावली में उनका समय १२३ वर्ष दिया है जो यथार्थ प्रतीत होता है।

११ अङ्ग के धारक आचार्य –

०१. वीर निर्वाण संवत् ३४५ – नक्षत्र – १८ वर्ष

०२. वीर निर्वाण संवत् ३६३ – जयपाल – २० वर्ष

०३. वीर निर्वाण संवत् ३८३ – पाण्डव – ३९ वर्ष

०४. वीर निर्वाण संवत् ४२२ – ध्रुवसेन – १४ वर्ष

०५. वीर निर्वाण संवत् ४३६ – कंस – ३२ वर्ष

= १२३ वर्ष

अनन्तर दश, नौ और आठ अङ्ग के ज्ञाताओं का समय ९७ वर्ष बतलाया है पर पृथक्-पृथक् वर्षों का योग ९९ वर्ष आता है। अतः इसमें भी दो वर्षों की भूल प्रतीत होती है।

१०, ९, और ८ अङ्ग के ज्ञाता आचार्य –

०१. वीर निर्वाण संवत् ४६८ – सुभद्र – ६ वर्ष

०२. वीर निर्वाण संवत् ४७४ – यशोभद्र – १८ वर्ष

०३. वीर निर्वाण संवत् ४९२ – भद्रबाहु – २३ वर्ष

०४. वीर निर्वाण संवत् ५१२ – लोहाचार्य – ५२ वर्ष (५० वर्ष)

– ९९ – २ = ९७ वर्ष

यहाँ लोहाचार्य का समय ५२ वर्ष के स्थान पर ५० वर्ष होना चाहिये। इस प्रकार ९९-२=९७ वर्ष

अष्टम, नवम और दशम अङ्गधारी आचार्यों का काल है। अनन्तर एकांगधारी एवं अंगांशधारी या पूर्वविद पाँच आचार्यों का समय ११८ वर्ष है। यथा –

०१. वीर निर्वाण संवत् ५६५ – अर्हद्बहलि – २८ वर्ष

०२. वीर निर्वाण संवत् ५९३ – माघनन्दि – २१ वर्ष

०३. वीर निर्वाण संवत् ६१४ – धरसेन – १९ वर्ष

०४. वीर निर्वाण संवत् ६३३ – पुष्पदंत – ३० वर्ष

०५. वीर निर्वाण संवत् ६६३ – भूतबलि – २० वर्ष

= ११८ वर्ष

इस प्रकार इस पट्टावलि के अनुसार अङ्गपरम्परा का कुल काल –

६२+१००+१८३+१२३+९७+११८ = ६८३ वर्ष है।

(तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग–२, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य, पृष्ठ १७–१९)

आचार्य धरसेन

वीर निर्वाण संवत् ६१४ – ६८३ के बीच धरसेन का समय होना चाहिये। प्राकृत पट्टावली में धरसेन का आचार्यकाल १९ वर्ष बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि वीर निर्वाण संवत् ६३३ तक धरसेन जीवित रहे हैं और वीर निर्वाण संवत् ६३० या ६३१ में पुष्पदंत और भूतबलि को श्रुत का अध्ययन कराया है। इस आधार पर धरसेन का समय ई. सन् ७३–१०६ ई. तक आता है।

अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबली ।

अडवीसं इगवीसं उगणीसं तीस वीस वास पुणो ।।

(जैन सिद्धांत भास्कर भाग – १, किरण – ४, पृष्ठ – ७३, पद्य – १६)

अर्थात् अर्हद्बलि, माघनंदि, धरसेन, पुष्पदंत और भूतबलि का आचार्यकाल क्रमशः २८ वर्ष, २१ वर्ष, १९ वर्ष, ३० वर्ष और २० वर्ष है। इस उल्लेख से धरसेन आचार्य का समय स्पष्ट रूप से ई. सन् की प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है।

सौराष्ट्र प्रदेश में गिरिनगर (वर्तमान जूनागढ़) के समीप चंद्रगुहा (चंद्रगुफा) में आचार्य धरसेन का निवास था। वे निमित्तशास्त्र में पारंगत थे। मंत्र शास्त्र पर उन्होंने जोणिपाहुड ग्रंथ लिखा था। यह ग्रंथ अभी अनुपलब्ध है। आचार्य परंपरा से प्राप्त आगमों का ज्ञान दिनोंदिन क्षीण होता देखकर वे चिंतित हुए। उन्होंने महिमा नगरी में सम्मिलित हुए दक्षिणापथ के आचार्यों के पास एक पत्र लिखा। इस पत्र में उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की कि योग्य शिष्य उनके पास आकर षट्खंडागम का अध्ययन करें। दक्षिण देश के आचार्यों ने शास्त्र के अर्थ ग्रहण और धारण में समर्थ, देश, कुल, शील और जाति से उत्तम, समस्त कलाओं में पारंगत दो मुनियों को वेणा नदी के तट से आचार्य धरसेन के पास गिरिनगर भेजा। इन मुनिराजों के नाम श्रुत के अध्ययन के पश्चात् भूतबलि और पुष्पदंत के रूप में प्रसिद्ध हुए। इनके पूर्व नाम की जानकारी उनके परिचय में दी गई है।

आचार्य ने उन दोनों को दो मंत्र दिये। एक मंत्र में एक अक्षर कम और एक मंत्र में एक अक्षर अधिक

रखकर दो मंत्र दोनों साधुओं को दे दिये और गुफा में बैठकर मंत्र सिद्ध करने का आदेश दिया। एक अक्षर कम और अधिक होने के कारण कम अक्षर वाले साधु को कानी देवी और अधिक अक्षर वाले साधु को दांत बाहर निकली हुई देवी दिखाई दी। दोनों साधुओं ने अपने बुद्धिबल से मंत्रों को ठीक कर लिया। उनकी योग्यता देखकर आचार्य धरसेन ने उन्हें महाकर्मप्रकृति प्राभृत का उपदेश दिया। अध्ययन पूर्ण होने पर गुरु की आज्ञा से दोनों ने अंकलेश्वर (वर्तमान में भी इसी नाम से प्रसिद्ध है) नगर में चातुर्मास किया। तदनंतर पुष्पदंत ने वनवासि (कर्नाटक) प्रदेश में तथा भूतबलि ने तमिल प्रदेश में विहार किया।

गुरु से प्राप्त ज्ञान को पुस्तक निबद्ध करने का विचार कर पुष्पदंत ने सत्प्ररूपणा नामक प्रकरण की रचना की तथा जिनपालित नामक शिष्य के साथ वह प्रकरण भूतबलि के पास भेजा। उन्होंने पुष्पदंत का अभिप्राय समझकर शेष प्रकरणों की रचना कर ग्रंथ पूर्ण किया। इस ग्रंथ में जीवस्थान, क्षुद्रबंध, बंधस्वामित्व, वेदनाखंड, वर्गणाखंड और महाबंध का वर्णन किया गया है। यह छह खंड होने से इस ग्रंथ का षट्खंडागम नाम प्रसिद्ध हुआ। प्रथम पाँच खण्डों का विस्तार छह हजार श्लोक प्रमाण और अंतिम खण्ड का विस्तार तीस हजार श्लोक प्रमाण है। आगमों को पुस्तक रूप में निबद्ध करने का यह कार्य एक नयी परंपरा का प्रारंभ था। आचार्य भूतबलि और पुष्पदंत ने सर्वप्रथम यह ग्रंथ ताड़पत्रों पर लिखा। इसके पूर्व गुरु शिष्यों की मौखिक परंपरा से ही आगम का अध्ययन होता था। धर्म के श्रद्धालुजनों ने आगम को पुस्तक रूप निबद्ध करने की परंपरा का अभिनंदन किया और सर्वप्रथम लिखित ग्रंथ के पूर्ण होने की तिथि ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को शास्त्रपूजा के रूप में श्रुतपंचमी समारोह मनाना प्रारंभ किया।

जीव और कर्मों के स्वरूप का विस्तार से वर्णन करने वाले इस ग्रंथ पर कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, श्यामकुण्ड, तुम्बुलूर आदि आचार्यों ने टीकाएं लिखी थीं। अब इन टीकाओं में से आचार्य वीरसेन की धवला टीका उपलब्ध है।

धवलाटीका से धरसेनाचार्य के सम्बंध में निम्नलिखित जानकारी प्राप्त होती है –

०१. धरसेन सभी अंग और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता थे। ०२. अष्टांग-महानिमित्त के पारगामी थे। ०३. लेखन कला में प्रवीण थे। ०४. मंत्र तंत्र आदि शास्त्रों के वेत्ता थे। ०५. महाकम्मपयडिपाहुड के वेत्ता थे। ०६. प्रवचन और शिक्षण देने की कला में पटु थे। ०७. प्रवचन वत्सल थे। ०८. प्रश्नोत्तर शैली में शंका-समाधान पूर्वक शिक्षा देने में कुशल थे। ०९. महनीय विषय को संक्षेप में प्रस्तुत करना भी उन्हें आता था। १०. अग्रायणीयपूर्व के पञ्चमवस्तु के चतुर्थ प्राभृत के व्याख्यान कर्ता थे। ११. पाठन, चिंतन एवं शिष्य उद्बोधन की कला में पारंगत थे।

आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि

पुष्पदंत और भूतबलि का नाम साथ-साथ प्राप्त होता है, परंतु प्राकृत पट्टावली में पुष्पदंत को भूतबलि से ज्येष्ठ माना गया है। धरसेन के पश्चात् पुष्पदंत का कार्यकाल ३० वर्ष का बताया है। पुष्पदंत और भूतबलि दोनों ही धरसेनाचार्य के निकट श्रुत की शिक्षा प्राप्त करने के लिये गये थे। शिक्षा समाप्ति के पश्चात् सुंदर दांतों के कारण इनका नाम पुष्पदंत पड़ा था।

विबुध श्रीधर के श्रुतावतार में भविष्यवाणी के रूप में जो कथा दी गई है। उससे पुष्पदंत और भूतबलि

के जीवन पर प्रकाश पड़ता है; परंतु इस श्रुतावतार में जिन तथ्यों की विवेचना की गई है वे विचारणीय हैं। बताया है – भरतक्षेत्र के बांमि देश (ब्रह्मदेश) में वसुन्धरा नाम की नगरी होगी। वहाँ के राजा नरवाहन और रानी सुरूपा पुत्र न होने के कारण खेदखिन्न होंगे। उस समय सुबुद्धि नाम का सेठ उन्हें धर्म की आराधना करने का उपदेश देगा। तदनुसार राजा को पुत्र लाभ होगा और उस पुत्र का नाम पद्म रखा जायेगा। तदनंतर राजा जिन धर्मायतन का निर्माण करायेगा और प्रतिवर्ष यात्रा करेगा। सेठ भी राजकृपा से स्थान-स्थान पर धर्मायतनों का निर्माण करायेगा। इसी समय बसन्त ऋतु में समस्त संघ यहाँ एकत्र होगा और राजा सेठ के साथ जिनेन्द्र भगवान की आराधना करके रथ चलावेगा तथा अपने मित्र मगध सम्राट को मुनीन्द्र हुआ देख सुबुद्धि सेठ के साथ विरक्त हो दिगम्बरी दीक्षा धारण करेगा। इसी समय एक लेख वाहक वहाँ आयेगा। वह जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर मुनियों की तथा परोक्ष में धरसेन गुरु की वंदना कर लेख समर्पित करेगा। वे मुनि उसे वाचेंगे कि गिरि नगर के समीप गुफावासी आचार्य धरसेन मुनीश्वर अग्रायणीय पूर्व की पञ्चम वस्तु के चौथे प्राभृत शास्त्र का व्याख्यान आरम्भ करने वाले हैं। धरसेन भट्टारक कुछ दिनों में नरवाहन और सुबुद्धि नाम के मुनियों को पठन, श्रवण और चिंतन कराकर अषाढ़ शुक्ल एकादशी को शास्त्र समाप्त करेंगे। उनमें से एक की भूत रात्रि को बलि (पूजा) विधि करेंगे और दूसरे के चार दांतों को सुंदर बना देंगे। अतएव भूत-बलि के प्रभाव से नरवाहन मुनि का नाम भूतबलि और चार दांत समान हो जाने से सुबुद्धि मुनि का नाम पुष्पदंत होगा।

इस कथा का आशय यह है कि राजा नरवाहन और सेठ सुबुद्धि मुनि थे। आचार्य धरसेन से षट्खंडागम का ज्ञान प्राप्त करने पर देवों ने पूजा कर जिनकी अस्त व्यस्त दंत पंक्ति को सुंदर बना दिया, धरसेनाचार्य ने उनको पुष्पदंत नाम दिया और भूत अर्थात् प्राणीमात्र के द्वारा पूजे गये अथवा भूत नामक व्यंतर जाति के देवों के द्वारा पूजित हैं उन्हें भूतबलि नाम दिया। यह नाम आचार्य द्वारा दिये गये हैं।

उक्त आचार्य परिचय का सारांश यह है कि –

०१. षट्खंडागम के लेखन का शुभारंभ आचार्य पुष्पदंत ने किया है।

०२. सत्प्ररूपणा के सूत्रों के साथ उन्होंने षट्खंडागम की कोई रूपरेखा भी भूतबलि के निकट पहुंचाई होगी।

०३. पुष्पदंत ने अपनी रचना जिनपालित को पढ़ाई तदनंतर अपने को अल्पायु समझकर गुरुभाई भूतबलि को अवशिष्ट कार्य को पूर्ण करने के लिये प्रेरित किया होगा।

०४. पुष्पदंत महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के अच्छे ज्ञाता एवं उसके व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। यद्यपि सूत्रों के रचयिता का नाम नहीं मिलता है, पर धवला टीका के आधार पर सत्प्ररूपणा के सूत्रों के रचयिता पुष्पदंत हैं।

०५. पुष्पदंत ने अनुयोग द्वार और प्ररूपणाओं के विस्तार को अनुभव कर ही सूत्रों की रचना आरम्भ की होगी।

भूतबलि पुष्पदंत का समय –

नंदिसंघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार पुष्पदंत भूतबलि से पूर्ववर्ती हैं। इसके अनुसार इनका समय वीर निर्वाण संवत् ६३३ के पश्चात् ई. सन् प्रथम-द्वितीय शताब्दी के लगभग होना चाहिये। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने पुष्पदंत का समय ई. सन् ५०-८० माना है।

भूतबलि का समय आचार्य पुष्पदंत का समय ही है। दोनों ने एक साथ धरसेनाचार्य से सिद्धांत ग्रन्थों का अध्ययन किया और अंकलेश्वर में साथ-साथ वर्षावास किया। पुष्पदंत द्वारा रचित प्राप्त सूत्रों के पश्चात् भूतबलि ने षट्खंडागम के शेष भाग की रचना की। डॉ. ज्योतिप्रसाद ने भूतबलि का समय ई. सन् ६६ से ९० तक माना है और षट्खंडागम का संकलन ई. सन् ७५ स्वीकार किया है। प्राकृतपट्टावली, नन्दिसंघ की गुर्वावली आदि प्रमाणों के अनुसार भूतबलि का समय ई. सन् की प्रथम शताब्दी का अंत और द्वितीय शताब्दी का आरंभ आता है। डॉ. हीरालाल जैन ने धवला की प्रस्तावना में वीर निर्वाण संवत् ६१४ और ६८३ के बीच उक्त आचार्यों का काल निर्धारित किया है। अतएव भूतबलि का समय ई. सन् प्रथम शताब्दी का अंतिम चरण (ई. ८७ के लगभग) अवगत होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द

दिगम्बर जैन समाज कुन्दकुन्दाचार्य देव के नाम एवं महिमा से जितना परिचित है, उनके जीवन से उतना ही अपरिचित है। लोकेषणा से दूर रहने वाले जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि महान ऐतिहासिक कार्य करने के बाद भी अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बंध में कहीं कुछ उल्लेख नहीं करते। आचार्य कुन्दकुन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने भी अपने बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा है। द्वादशानुप्रेक्षा नाम के ग्रन्थ में मात्र उनके नाम का उल्लेख है। इसी प्रकार बोधपाहुड में अपने को द्वादशांग के ज्ञाता तथा चौदह पूर्वों का विपुल प्रसार करने वाले श्रुतकेवली का शिष्य लिखा है।

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में कौण्डकुन्दपुर (कर्नाटक) में जन्मे कुन्दकुन्द अखिल भारतवर्षीय ख्याति के दिग्गज आचार्य थे। आपके माता-पिता कौन थे और उन्होंने जन्म के समय आपका क्या नाम रखा था ? यह तो ज्ञात नहीं, पर नन्दिसंघ में दीक्षित होने के कारण दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दी रखा गया था।

विक्रम संवत् ४९ में आप नन्दिसंघ के पद पर आसीन हुए और मुनि पद्मनन्दी से आचार्य पद्मनन्दी हो गये। अत्यधिक सम्मान के कारण नाम लेने में संकोच की वृत्ति भारतीय समाज की अपनी सांस्कृतिक विशेषता रही है। महापुरुषों को गाँव के नामों या उपनामों से सम्बोधित करने की वृत्ति भी इसी का परिणाम है। कौण्डकुन्दपुर के वासी होने से आपको भी कौण्डकुन्दपुर के आचार्य के अर्थ में कौण्डकुन्दाचार्य कहा जाने लगा, जो श्रुति मधुरता की दृष्टि से कालांतर में कुन्दकुन्दाचार्य हो गया। इसके अतिरिक्त एलाचार्य, वक्रगीवाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य भी आपके नाम कहे जाते हैं। इस सन्दर्भ में विजयनगर में एक शिलालेख पाया जाता है, जो इस प्रकार है -

आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा।।

उक्त सभी नामों में कुन्दकुन्दाचार्य नाम ही सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है। जब उनके मूल नाम पद्मनन्दी को भी बहुत कम लोग ही जानते हैं तो फिर शेष नामों की तो बात ही क्या करें ?

आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बंध में कुछ प्रचलित कथाएँ हैं जो इस प्रकार हैं -

ज्ञान प्रबोध में प्राप्त कथा का संक्षिप्त सार इस प्रकार है -

मालवदेश वारापुर नगर में राजा कुमुदचन्द्र राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। उनके राज्य में कुन्द श्रेष्ठी नामक एक वणिक रहता था। उसकी पत्नी का नाम कुन्दलता था। उनके एक कुन्दकुन्द नामक पुत्र भी था। बालकों के साथ खेलते हुए उस बालक ने एक दिन उद्यान में बैठे हुए जिनचन्द्र नामक मुनिराज के दर्शन किये और उनके उपदेश को अनेक नर-नारियों के साथ बड़े ही ध्यान से सुना।

ग्यारह वर्ष का बालक कुन्दकुन्द उनके उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि वह उनसे दीक्षित हो गया। प्रतिभाशाली शिष्य कुन्दकुन्द को जिनचन्द्र ने ३३ वर्ष की अवस्था में ही आचार्य पद प्रदान कर दिया।

बहुत गहराई से चिन्तन करने पर भी कोई ज्ञेय (जिनवाणी का विषय) आचार्य कुन्दकुन्द को स्पष्ट नहीं हो रहा था। उसी के चिंतन में मग्न कुन्दकुन्द ने विदेह क्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर सीमंधर भगवान को नमस्कार किया।

वहाँ सीमंधर भगवान के मुख से सहज ही 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' प्रस्फुटित हुआ। समवशरण में उपस्थित श्रोताओं को बहुत आश्चर्य हुआ। नमस्कार करने वाले के बिना किसको आशीर्वाद दिया जा रहा है ? यह प्रश्न सबके मन में सहज ही उपस्थित हो गया था। भगवान की वाणी में समाधान आया कि भरतक्षेत्र के आचार्य कुन्दकुन्द को यह आशीर्वाद दिया गया है।

वहाँ कुन्दकुन्द के पूर्व भव के दो मित्र चारण ऋद्धिधारी मुनिराज उपस्थित थे, वे आचार्य कुन्दकुन्द को वहाँ ले गये। मार्ग में कुन्दकुन्द की मयूर पिच्छी गिर गई तब उन्होंने गृद्ध पिच्छिका से काम चलाया। वे वहाँ सात दिन रहे। भगवान के दर्शन और दिव्यध्वनि श्रवण से उनकी समस्त शंकाओं का समाधान हो गया।

कहते हैं वापिस आते समय वे कोई ग्रन्थ भी लाये थे, पर वह मार्ग में ही गिर गया। तीर्थों की यात्रा करते हुए वे भरतक्षेत्र में आ गये। उनका धर्म उपदेश सुनकर सात सौ स्त्री-पुरुषों ने दीक्षा ग्रहण की।

कुछ समय पश्चात् गिरि-गिरनार पर श्वेताम्बरों के साथ उनका विवाद हो गया, तब ब्राह्मी देवी ने स्वीकार किया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है।

अंत में अपने शिष्य उमास्वामी को आचार्य पद प्रदान कर वे स्वर्गवासी हो गये।

एक कथा पुण्यास्रव कथाकोष में भी आती है, जिसका सार इस प्रकार है -

भरतखंड के दक्षिणदेश में पिडथनाडू नाम का प्रदेश है। इस प्रदेश के अंतर्गत कुरुमरई नाम के ग्राम में करमण्डु नाम का धनिक वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था, उनके यहाँ एक ग्वाला रहता था। जो उनके पशु चराया करता था। उस ग्वाले का नाम मतिवरण था। एक दिन जब वह अपने पशुओं को एक जंगल में ले जा रहा था, उसने बड़े आश्चर्य से देखा कि सारा जंगल दावाग्नि से जलकर भस्म हो गया है, किन्तु मध्य के कुछ वृक्ष हरे-भरे हैं। उसे उसका कारण जानने की बड़ी उत्सुकता हुई। वह उस स्थान पर गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह किसी मुनिराज का निवास स्थान है और वहाँ एक पेटी में आगम ग्रन्थ रखे हैं। वह पढ़ा-लिखा नहीं था। उसने सोचा इस आगम ग्रन्थ के कारण ही यह स्थान आग से बच गया है। अत: वह उन्हें आदर से घर ले आया। उसने उन्हें अपने मालिक के घर में एक पवित्र स्थान पर विराजमान कर दिया और प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा।

कुछ दिनों के पश्चात् एक मुनि उनके घर पर पधारे। सेठ ने उन्हें बड़े भक्ति भाव से आहार दिया।

उसी समय उस ग्वाले ने वह आगम उन मुनि को प्रदान किया। उस दान से मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन दोनों को आशीर्वाद दिया कि यह ग्वाला सेठ के घर में उसके पुत्र रूप में जन्म लेगा। तब सेठ के कोई पुत्र नहीं था। उन्हीं के आशीर्वाद के अनुसार उस ग्वाले ने सेठ के घर में पुत्र रूप में जन्म लिया और बड़ा होने पर वह एक महान मुनि और तत्त्वज्ञानी हुआ। उस महान आत्मा का नाम कुन्दकुन्दाचार्य था।

इसके बाद पूर्वविदेह जाने की कथा भी पूर्ववत् वर्णित है।

इसी से मिलती-जुलती कथा आराधना कथाकोश में प्राप्त होती है।

आचार्य देवसेन, जयसेन एवं भट्टारक श्रुतसागर जैसे दिग्गज आचार्यों एवं विद्वानों के सहस्राधिक वर्ष प्राचीन उल्लेखों एवं उससे भी प्राचीन प्रचलित कथाओं की उपेक्षा सम्भव नहीं है, विवेक सम्मत भी नहीं कही जा सकती।

अत: उक्त उल्लेखों और कथाओं के आधार पर यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर आचार्य परम्परा के चूड़ामणि हैं। वे विगत दो हजार वर्षों में हुए दिगम्बर आचार्यों, संतों, आत्मार्थी विद्वानों एवं आध्यात्मिक साधकों के आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं, भगवान महावीर और गौतम गणधर के समान प्रात: स्मरणीय रहे हैं, कलिकाल सर्वज्ञ के रूप में स्मरण किये जाते रहे हैं। उन्होंने इसी भव में सदेह विदेह क्षेत्र जाकर सीमंधर अरिहंत परमात्मा के दर्शन किये थे, उनकी दिव्य ध्वनि का साक्षात् श्रवण किया था, उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी। तभी तो कविवर वृंदावनदास को कहना पड़ा -

हुए हैं न होहिंगे, मुनिन्द कुन्दकुन्द से।

विगत दो हजार वर्षों में कुन्दकुन्द जैसे प्रतिभाशाली, प्रभावशाली, पीढ़ियों तक प्रकाश विखेरने वाले समर्थ आचार्य न तो हुए ही हैं और पंचमकाल के अंत तक होने की संभावना भी नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित उपलब्ध साहित्य इस प्रकार है -

०१. समयसार (समयपाहुड) ०२. प्रवचनसार (पवयणसार) ०३. नियमसार (णियमसार) ०४. पंचास्तिकाय संग्रह (पंचत्थिकायसंग्रह) ०५. अष्टपाहुड (अट्ठपाहुड)।

इसके अतिरिक्त द्वादशानुप्रेक्षा (बारसअणुपेक्खा) एवं दसभक्ति भी आपकी कृतियाँ मानी जाती हैं। इसी प्रकार रयणसार और मूलाचार को भी आपकी रचनायें कहा जाता है। कुछ लोग तो कुरल काव्य को भी आपकी कृति मानते हैं।

उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि आपने षट्खंडागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक टीका लिखी थी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है।

अष्टपाहुड में निम्नलिखित आठ पाहुड संग्रहीत हैं-(१) दंसणपाहुड़, (२) सुत्तपाहुड़, (३) चारित्त पाहुड़, (४) बोधपाहुड़, (५) भावपाहुड़, (६) मोक्खपाहुड़, (७) लिंगपाहुड़ एवं (८) सीलपाहुड़।

समयसार जिन अध्यात्म का प्रतिष्ठापक अद्वितीय महान शास्त्र है। प्रवचनसार और पंचास्तिकाय संग्रह भी जैन दर्शन में प्रतिपादित वस्तु व्यवस्था के विशद् विवेचन करने वाले जिनागम के मूल ग्रन्थराज हैं। ये तीनों ग्रन्थराज परवर्ती दिगम्बर जैन साहित्य के मूलाधार रहे हैं। उक्त तीनों को नाटकत्रयी, प्राभृतत्रयी और कुन्दकुन्दत्रयी भी कहा जाता है।

उक्त तीनों ग्रन्थराजों पर कुन्दकुन्द के लगभग एक हजार वर्ष बाद एवं आज से एक हजार वर्ष पहले आचार्य अमृचंद्रदेव ने संस्कृत भाषा में गम्भीर टीकायें लिखी हैं। समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय पर आचार्य अमृतचंद्र द्वारा लिखी गई टीकाओं के सार्थक नाम क्रमशः आत्मख्याति, तत्त्वप्रदीपिका एवं समय व्याख्या हैं। इन तीनों ग्रन्थों पर आचार्य अमृतचंद्र से लगभग तीन सौ वर्ष बाद हुए आचार्य जयसेन द्वारा लिखी गई तात्पर्यवृत्ति नामक सरल सुबोध संस्कृत टीकायें भी उपलब्ध हैं। नियमसार पर परमवैरागी मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विक्रम की बारहवीं सदी में संस्कृत भाषा में तात्पर्यवृत्ति नामक टीका लिखी, जो वैराग्यभाव एवं शांतरस से सरावोर है, भिन्न प्रकार की अद्‌भुत टीका है।

अष्टपाहुड़ के आरम्भिक छह पाहुड़ों पर विक्रम की सोलहवीं सदी में लिखी गई भट्‌टारक श्रुतसागर सूरि की संस्कृत टीका प्राप्त होती है, जो षटपाहुड़ नाम से प्रकाशित हुई है। षट्‌पाहुड़ कोई स्वतंत्र कृति नहीं है, अपितु अष्टपाहुड़ के आरंभिक छह पाहुड़ ही षट्‌पाहुड़ नाम से जाने जाते हैं।

आचार्य योगेन्दु अथवा जोइंदु

जोइंदु कवि के जीवन के सम्बंध में किसी भी साधन से कोई प्रामाणिक सूचना प्राप्त नहीं होती है। परमात्मप्रकाश में बताया गया है कि यह ग्रंथ भट्टप्रभाकर के निमित्त से लिखा जा रहा है। यह बात परमात्म प्रकाश के आदि और अंत से भी सिद्ध होती है। मध्य में भी कई स्थलों पर भट्टप्रभाकर को सम्बोधन करते हुए कथन किया गया है। ग्रंथकार ने लिखा है –

इत्थु ण लेवउ पंडियहिं गुण दोसु वि पुणरुत्तु ।
भट्‌ट पभायर कारणइँ मइँ पुणु वि पउत्तु ।।

अर्थात् हे भव्यजीवो! इस ग्रंथ में पुनरुक्त नाम का दोष पण्डितजन ग्रहण नहीं करेंगे और न काव्यकला की दृष्टि से ही इसका परीक्षण करेंगे क्योंकि मैंने प्रभाकर भट्‌ट को सम्बोधित करने के लिये परमात्मतत्त्व का कथन किया है। इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रभाकरभट्‌ट कोई मुमुक्षु थे, जिनके लिये इस ग्रन्थ का प्रतिपादन किया गया है। और इसके लेखक भी अध्यात्मरसिक मुनि ही हैं। अंतिम मङ्गल के लिये आशीर्वाद के रूप में नमस्कार करते हुए लिखा है कि इस लोक में विषयी जीव जिसे पा नहीं सकते, ऐसा यह परमात्मतत्त्व जयवन्त हो। विषयातीत वीतरागी मुनि ही इस आत्मतत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं। जो मुनि भावपूर्वक इस परमात्मप्रकाश का चिंतन करते हैं वे समस्त मोह को जीतकर परमार्थ के ज्ञाता होते हैं। अन्य जो भी भव्य जीव इस परमात्मप्रकाश को जानते हैं वे भी लोक और अलोक का प्रकाश करनेवाले ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। इस ग्रंथ के पठन पाठन का फल शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति है।

उपर्युक्त कथन से इतना स्पष्ट ज्ञात होता है कि जोइंदु मुनि थे और इनके कोई मुमुक्षु शिष्य भट्ट प्रभाकर थे। उनको सम्बोधित करने के लिये परमात्मप्रकाश की रचना की गयी है।

जोइंदु का समय पूज्यपाद के पश्चात् और चण्ड के पूर्व अर्थात् छठी सदी के पश्चात् और सातवीं सदी के पूर्व ई. सन् की छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध होना चाहिये।

रचनाएं –

परम्परा से जोइंदु के नाम पर निम्नलिखित रचनाएं मानी जाती हैं –

०१. परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश)

०२. नौकारश्रावकाचार (अपभ्रंश)

०३. योगसार (अपभ्रंश)

०४. अध्यात्मसन्दोह (संस्कृत)

०५. सुभाषिततंत्र (संस्कृत)

०६. तत्त्वार्थटीका (संस्कृत)

इनके अतिरिक्त योगीन्द्र के नाम पर दोहापाहुड (अपभ्रंश), अमृताशीति (संस्कृत) और निजात्माष्टक (प्राकृत) रचनाएं भी प्राप्त होती हैं। पर यथार्थ में परमात्मप्रकाश और योगसार दो ही ऐसी रचनाएं हैं जो निर्भ्रान्त रूप से जोइंदु की मानी जा सकती हैं।

परमात्मप्रकाश में दो अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में १२६ दोहे और द्वितीय अधिकार में २१९ दोहे हैं। इन दोहों में क्षेपक और स्थल संख्या बाह्यप्रक्षेपक भी सम्मिलित हैं। ब्रह्मदेव के मतानुसार परमात्मप्रकाश में समस्त ३४५ पद्य हैं। इनमें पाँच गाथाएँ, एक स्रग्धरा और एक मालिनी है किन्तु इन पद्यों की भाषा अपभ्रंश नहीं है। एक चतुष्पादिका भी है और शेष ३७७ दोहे हैं, जो अपभ्रंश में निबद्ध हैं।

जोइंदु ने आत्मा के स्वरूप और आकार के सम्बंध में विभिन्न मतों का निर्देश करते हुए जैन दृष्टिकोण के सम्बंध में बताया है। आत्मा के सम्बंध में निम्नलिखित मान्यताएँ प्रचलित हैं, आचार्य ने इन मान्यताओं का अनेकान्तवाद के आलोक में समन्वय किया है –

०१. आत्मा सर्वगत है।

०२. आत्मा जड़ है।

०३. आत्मा शरीर प्रमाण है।

०४. आत्मा शून्य है।

०१. कर्म बन्धन से रहित आत्मा केवलज्ञानी के द्वारा लोकालोक को जानती है, अत: ज्ञानापेक्षया सर्वगत है।

०२. आत्मज्ञान में लीन जीव इन्द्रियजनित ज्ञान से रहित हो जाते हैं, अत: ध्यान और समाधि की अपेक्षा जड़ है।

०३. शरीर बन्धन से रहित हुआ शुद्ध जीव अंतिम शरीर प्रमाण ही रहता है, न वह घटता है और न वह बढ़ता ही है, अत: शरीर प्रमाण है। जिस शरीर को आत्मा धारण करती है, उसी शरीर के आकार की हो जाती है, अतएव प्रदेश संकोच-विस्तार के कारण आत्मा शरीर प्रमाण है।

०४. मोक्ष अवस्था प्राप्त करने पर शुद्ध जीव आठों कर्मों और अठारह दोषों से शून्य हो जाता है अत: उसे शून्य कहा गया है।

द्वितीय अधिकार में मोक्ष, मोक्ष का फल एवं मोक्ष के कारण का कथन किया गया है। प्रथम ग्यारह गाथाओं में मोक्ष और उसके फल का कथन आया है। पश्चात् मोक्ष के कारणों का निरूपण किया गया है। जोइन्दु ने भी कुन्दकुन्द के समान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष का कारण बतलाकर इन तीनों को निश्चयदृष्टि की अपेक्षा से आत्म स्वरूप ही बतलाया है। इसके पश्चात् समभाव की प्रशंसा की गई है।

जोइन्दु ने पुण्य और पाप की समानता बतलाते हुए लिखा है कि जो जीव पुण्य और पाप को समान नहीं मानता, वह मोह के वशीभूत होकर चिरकाल तक भ्रमण करता है। इतना ही नहीं अपितु यह भी लिखा है कि वह पाप अच्छा है जो जीव को दु:ख देकर मोक्ष की ओर लगाता है। इसी प्रकरण में पुण्य की निन्दा भी की गई है। आगे के दोहे में आर्यशान्ति का मत दिया गया है। इस मत में बताया गया है कि देव, शास्त्र और मुनिवरों की भक्ति से पुण्य होता है, कर्मों का क्षय नहीं होता, ऐसा आर्यशान्ति मानते हैं। वन्दना, निन्दा, प्रतिक्रमण आदि को पुण्य का कारण बतलाकर एक मात्र शुद्ध भाव को ही उपादेय बतलाया है क्योंकि शुद्धोपयोगी के ही संयम, शील और तप संभव है। जिनको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त है, उसी के कर्मों का क्षय होता है। अत: शुद्धोपयोग ही प्रधान है। चित्त की शुद्धि के बिना योगियों का तीर्थाटन करना, शिष्य-प्रशिष्यों का पालन-पोषण करना सब निरर्थक है, जो जिनलिंग धारण कर भी परिग्रह रखता है, वह वमन का भक्षण करने वालों के समान है। नग्न वेष धारण कर भी भिक्षा में मिष्ठान्न भोजन या स्वादिष्ट भोजन की कामना करना दोष का कारण है। आत्मनिरीक्षण और आत्मशुद्धि सर्वदा अपेक्षित है।

योगसार -

योगसार में १०८ दोहे हैं। वर्ण्यविषय प्राय: परमात्मप्रकाश के तुल्य ही है। इन दोहों में एक चौपाई और दो सोरठा भी सम्मिलित हैं। अपभ्रंश भाषा में लिखा गया यह ग्रंथ एक प्रकार से परमात्मप्रकाश का सार कहा जा सकता है।

आचार्य अकलंक देव

जैन परम्परा में यदि समंतभद्र जैन न्याय के दादा हैं, तो अकलंक पिता हैं। ये बड़े प्रखर तार्किक और दार्शनिक थे। बौद्ध दर्शन में जो स्थान धर्मकीर्ति को प्राप्त है, जैन दर्शन में वही स्थान अकलंकदेव का है। इनके द्वारा रचित प्राय: सभी ग्रंथ जैन दर्शन और जैन न्याय विषयक हैं।

प्रभाचन्द्र के कथाकोष में अकलंक की कथा देते हुए लिखा है कि एक बार अष्टान्हिका पर्व के अवसर पर अकलंक के माता-पिता अपने पुत्र अकलंक और निकलंक सहित मुनिराज के पास दर्शन करने गये। धर्मोपदेश श्रवण करने के पश्चात् उन्होंने आठ दिनों के लिये ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया और पुत्रों को भी ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया। जब दोनों भाई वयस्क हुए और माता-पिता ने उनका विवाह करना चाहा, तो उन्होंने मुनि के समक्ष ली गई प्रतिज्ञा की याद दिलाई और विवाह करने से इन्कार कर दिया। पिता ने पुत्रों को समझाते हुए कहा कि ''वह व्रत तो केवल आठ दिनों के लिये ही ग्रहण किया था। अत: विवाह करने में कोई भी रुकावट नहीं है।'' पिता के उक्त वचनों को सुनकर पुत्रों ने उत्तर दिया - ''उस समय, समय सीमा का जिक्र नहीं किया गया था, अत: ली गई प्रतिज्ञा को तोड़ा नहीं जा सकता।''

पिता ने पुन: कहा - ''वत्स ! तुम लोग उस समय अबुद्ध थे। अत: ली गई प्रतिज्ञा में समय सीमा का ध्यान नहीं रखा। वहाँ लिये गए व्रत का आशय केवल आठ दिनों के लिये ही था, जीवन पर्यंत के लिये नहीं। अत: विवाह कर तुम्हें हमारी इच्छाओं को पूर्ण करना चाहिये।''

पुत्र बोले - ''पिताजी ! एक बार ली गई प्रतिज्ञा को तोड़ा नहीं जा सकता अत: यह व्रत तो जीवन पर्यंत के लिये है। विवाह करने का अब प्रश्न ही नहीं उठता।''

पुत्रों की दृढ़ता को देखकर माता-पिता को आश्चर्य हुआ। पर वे उनके अभ्युदय का ख्यालकर उनका विवाह करने में समर्थ न हुए। अकलंक और निकलंक ब्रह्मचर्य की साधना करते हुए विद्याध्ययन करने लगे।

काञ्चीपुरी में बौद्ध धर्म के पालक पल्लवराज की छत्रच्छाया में अकलंक ने बौद्ध न्याय का अध्ययन किया। अकलंक शास्त्रार्थी विद्वान थे। इन्होंने दीक्षा लेकर सुधापुर के देशीयगण का आचार्य पद सुशोभित किया। अकलंक ने हिमशीतल राजा की सभा में शास्त्रार्थ कर तारादेवी को परास्त किया।

नेमिदत्त के आराधना कथाकोष में आचार्य अकलंक देव के बारे में बताया गया है कि -

मान्यखेट के राजा शुभतुंग थे। उनके मंत्री का नाम पुरुषोत्तम था, उनकी पत्नी पद्मावती थी। पद्मावती के गर्भ से दो पुत्र उत्पन्न हुए - अकलंक और निकलंक। अष्टन्हिका महोत्सव के प्रारम्भ में पुरुषोत्तम मंत्री सकुटुम्ब रविगुप्त नामक मुनि के दर्शनार्थ गये और वहाँ उन्होंने पुत्रों सहित आठ दिनों का ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया। युवावस्था होने पर पुत्रों ने विवाह करने से इन्कार कर दिया और विद्याध्ययन में संलग्न हो गये। उस समय बौद्ध धर्म का सर्वत्र प्रचार था अतएव वे दोनों महाबोधि विद्यालय में बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन करने लगे।

एक दिन गुरु महोदय शिष्यों को सप्तभंगी सिद्धांत समझा रहे थे परंतु पाठ अशुद्ध होने के कारण वे उसे ठीक नहीं समझा सके। गुरु के कहीं चले जाने पर अकलंक ने उस पाठ को शुद्ध कर दिया। इससे गुरु महोदय को उन पर जैन होने का संदेह हुआ। कुछ दिनों में उन्होंने अपने प्रयत्नों द्वारा उनको जैन प्रमाणित कर दिया। दोनों भाई कारागृह में बंद कर दिये गये। रात्रि के समय दोनों भाइयों ने एक दिन कारागृह से निकल जाने का प्रयत्न किया, वे अपने प्रयत्न में सफल भी हुए और कारागृह से निकल भागे। प्रात:काल ही बौद्ध गुरु को उनके भाग जाने का पता चला। उन्होंने चारों ओर घुड़सवारों को दौड़ाकर दोनों भाईयों को पकड़ लाने का आदेश दिया।

घुड़सवारों ने उनका पीछा किया, कुछ दूर आगे चलने पर दोनों भाईयों ने अपने पीछे आने वाले घुड़सवारों को देखा और अपने प्राणों की रक्षा न होते देख अकलंक निकट के एक तालाब में कूद पड़े, और कमलपत्रों से अपने आपको आच्छादित कर लिया। निकलंक भी प्राण रक्षा के लिये शीघ्रता से भाग रहे थे, उन्हें भागता हुआ देखकर तालाब का एक धोबी भी भयभीत होकर उनके साथ-साथ भागने लगा। घुड़सवार निकट आ चुके थे, उन्होंने उन दोनों को शीघ्र ही पकड़ लिया और उनका वध कर दिया। घुड़सवारों के चले जाने पर, अकलंक तालाब से निकलकर निर्भय होकर भ्रमण करने लगे।

कलिंग देश के रतनसंचयपुर का राजा हिमशीतल था, उसकी रानी मदनसुंदरी जिन धर्म की भक्त थी। वह बहुत उत्साहपूर्वक रथ निकालकर जिनधर्म की प्रभावना करना चाहती थी किन्तु बौद्ध गुरु रथ निकलने देने के पक्ष में नहीं थे। उनका कहना था कि कोई भी जैन विद्वान जब तक मुझे शास्त्रार्थ में पराजित नहीं कर देगा तब तक रथ नहीं निकाला जा सकता है। गुरु के विरुद्ध राजा कुछ नहीं कर सकता था, बड़े धर्म संकट का समय उपस्थित था। जब अकलंक को यह समाचार मिला तो वे राजा हिमशीतल की सभा में गये और बौद्ध गुरु से शास्त्रार्थ करने को कहा। दोनों में छह माह तक परदे के अंदर शास्त्रार्थ होता रहा, अकलंक को इस शास्त्रार्थ से बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने इसका रहस्य जानना चाहा, उन्हें शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि बौद्ध गुरु

के स्थान पर परदे के अंदर घड़े में बैठी बौद्ध देवी तारा शास्त्रार्थ कर रही है। उन्होंने परदा खोलकर घड़े को फोड़ दिया, तारादेवी भाग गई और बौद्ध गुरु पराजित हुए। जैन रथ निकाला गया और जैन धर्म का महत्व प्रकट हुआ।

आचार्य अकलंक देव आठवीं सदी में हुए थे। धनञ्जय ने अपनी नाममाला में एक पद्य लिखा है जिसमें अकलंक के प्रमाण का उल्लेख किया गया है। उन्होंने लिखा है –

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
धनञ्जयकवे: काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ।।

अकलंक का प्रमाण, पूज्यपाद का व्याकरण और धनञ्जय कवि का काव्य ये तीनों अपश्चिम रत्न हैं।

अकलंक देव की जैन न्याय को सबसे बड़ी देन है – प्रमाण। इनके द्वारा की गई प्रमाण व्यवस्था दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपनी-अपनी प्रमाण मीमांसा विषयक रचनाओं में ज्यों का त्यों अनुकरण किया है अत: धनञ्जय ने इस पद्य में जैन तार्किक अकलंकदेव और उनके प्रमाण शास्त्र का उल्लेख किया है।

रचनाएँ – अकलंकदेव की रचनाओं को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में उनके स्वतंत्र ग्रन्थ और द्वितीय वर्ग में टीका ग्रन्थ रखे जा सकते हैं। स्वतंत्र ग्रन्थ निम्नलिखित हैं –

१. स्वोपज्ञवृत्तिसहित लघीयस्त्रय
२. न्याय विनिश्चय सवृत्ति
३. सिद्धि विनिश्चय सवृत्ति
४. प्रमाण संग्रह सवृत्ति

टीका ग्रन्थ –

१. तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य
२. अष्टशती देवागमविवृत्ति

आचार्य तारण स्वामी

भारतवर्ष में परम पुरुषार्थ पूर्वक मोक्ष प्राप्त करने वाले अनंत गुरुवरों का इतिहास जन-जन में विख्यात है। भगवान महावीर के सर्वोदय तीर्थ में ऐसे निर्मल सम्यग्ज्ञानधारी अनेक संत-गुरु अवतरित हुए हैं जिन्होंने वस्तु स्वातंत्र्य और आत्मानुभूति के सिद्ध सूत्रों का व्याख्यान किया। इसी परम्परा में आचार्य श्री जिन तारण तरण सोलहवीं सदी के शुद्ध अध्यात्मवादी विचारक प्रवर्त्तक जिनमार्गी आचार्य रहे हैं। आचार्य तारण तरण ने भगवान महावीर के धर्म तीर्थ को ज्ञानसमुच्चयसार, पंडितपूजा, कमलबत्तीसी, मालारोहण, ममलपाहुड, उपदेशशुद्ध सार, श्रावकाचार, सिद्धस्वभाव, शून्यस्वभाव जैसी रचनाओं में जनभाषा प्रदान की है। उनकी लोकप्रिय वाणी से लाखों जीवों ने आध्यात्मिक पथ अपनाकर आत्महित का मार्ग प्रशस्त किया। इस विशाल जनसमुदाय ने एक सर्वथा भिन्न समाज का रूप ले लिया जो तारण तरण आम्नाय के रूप में सम्पूर्ण देश में जानी जाती है। वस्तुत: सद्गुरुओं का उद्देश्य समाज रचना नहीं वरन् आत्मपुरूषार्थी बनना एवं जीवों को

आत्मार्थी बनाना रहा है। इसी विशेषता के साथ तारण तरण दिगम्बर जैन समाज आज भी भारतीय समाज में जीवंत है।

आचार्य तारण तरण की जन्मतिथि मार्ग शीर्ष मास शुक्ल पक्ष की सप्तमी (अगहन सुदी सप्तमी) है। निर्वाण हुण्डी में दिन रविवार अर्धरात्रि भी दर्शाया गया है। संवत् १५०५ (ईस्वी सन् १४४८) है। आचार्य तारण तरण के नामों में भिन्नता मिलती है। यथा - तारण स्वामी, तारण तरण स्वामी, श्री तारण स्वामी, श्रीमद् जिन तारण तरण, जिन तारण, जिन तारन तरन, जिन तारण तरण, तार, तरतार, तारकल, तारन, तारण, तारण तरण आदि। इन नामों में श्री, श्रीमद्, जिन, स्वामी आदर सूचक हैं। न और ण प्रयोगमूलक भिन्नता है। अत: अभीष्ट नाम 'तारण' ही है।

तारण समाज में आचार्य और संत दोनों नामों से संबोधन मिलता है। जैन आम्नाय में आचार्य पद पंचपरमेष्ठी की श्रेणी में तृतीय पद है। आचार्य तारण तरण १५१ मंडलों के गुरु होने से मंडलाचार्य पद से अलंकृत रहे हैं ।

गढ़ाशाह, गढ़ासाहू, गढ़ासाव आदि नामों से विख्यात उनके पिता दिल्ली सल्तनत के सैयद्वंशियों को ऋण देने वाले श्रेष्ठी रहे हैं। जिन्हें शाह के नाम से पुकारा जाता था। माता वीरश्री देवी अत्यंत सहज, धार्मिक प्रवृत्ति वाली महिला थीं। जिन्हें तारण जैसे शिशुरत्न की माँ होने का गौरव प्राप्त हुआ। कमल-सर से परिपूर्ण पुष्पावती (कटनी- बिलहरी) उनका जन्म स्थान है। यह नगरी ऐतिहासिक रही है। विभिन्न संस्कृतियों की समरसता का प्रवाह इस नगरी की विशेषता रही है। श्री तारण स्वामी पाँच वर्ष की वय में माता-पिता के साथ मामा श्री लक्ष्मण सिंघई के यहाँ सेमरखेड़ी आ गये थे। श्री लक्ष्मण सिंघई धार्मिक प्रवृत्ति एवं संपन्न व्यक्तित्व के धनी थे। आहारदान में सतत् अग्रणी रहते थे। इस कारण आपको आहारदान दानेश्वर की पदवी से अलंकृत किया गया था। आपकी धर्मपत्नी अषयसिरि धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत थीं। अत्यंत प्रज्ञावान, वैराग्य सम्पन्न गुरु तारण तरण ने ११ वर्ष में सम्यग्दर्शन, २१ वर्ष में ब्रह्मचर्य एवं ३० वर्ष में ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की। ६० वर्ष की आयु में मिति अगहन सुदी सप्तमी, विक्रम संवत् १५६५ में निर्ग्रंथ, वीतराग मुनिदीक्षा धारण की और ज्येष्ठ वदी छठ, शनिवार की रात्रि में संवत् १५७२ (ईस्वी सन् १५१५) में नश्वर देह का त्याग किया।

वे अपने इस यशस्वी जीवन काल में एक ऐसी आध्यात्मिक क्रांति के सृजेता रहे जिसने आत्म कल्याण की प्रेरणा दी। अनेक जीवों को सन्मार्ग में स्थित किया। यथार्थ वस्तुस्वरूप, अध्यात्म धर्म का शंखनाद, जड़वाद और आडम्बर विहीन धर्मपताका को फहराना ही उनका प्रमुख लक्ष्य था। जो आज भी पथप्रदर्शन कर रहा है।

क्रियाकांडों, अंधविश्वास, झूठे आडंबरों से अलग हटकर वीतराग जिन सिद्धांतों की सच्ची प्रतीति कराने हेतु आचार्य तारण तरण स्वामी ने विभिन्न प्रांतों में भ्रमण किया। उसके फलस्वरूप उनके ४३,४५,३३१ अनुयायी बने। यही अनुयायी उनके द्वारा बतलाये हुए आध्यात्मिक मार्ग को स्वीकार करके तारण पंथ में सम्मिलित हुए। ये भारतवर्ष की जैन-अजैन सभी जातियों से आये। सामान्यत: भारतवर्ष की सुप्रसिद्ध जातियों में से छह जातियों को तारण पंथी कहा गया। यह षट्संघ समाज वर्तमान में तारण समाज के नाम से जाना जाता है।

कृतित्व-

आचार्य श्रीमद् जिन तारण तरण मंडलाचार्य महाराज ने पाँच मतों में चौदह ग्रंथों की रचना की है, जो इस प्रकार हैं -

१. विचारमत -

१. मालारोहण - सम्यग्दर्शन का स्वरूप, केवली भगवान के पादमूल में राजा श्रेणिक को सम्यक्त्व की प्राप्ति, समवशरण संवाद का रोचक प्रसंग इसमें निरूपित है। १०८ गुणों की ज्ञानगुणमाला का वर्णन विशेष है।

२. पंडित पूजा - सम्यग्ज्ञान के द्वारा सच्चे देव गुरु शास्त्र का निर्णय कर ज्ञानमयी पूजा, सम्यग्ज्ञान से मंडित पंडित का स्वरूप विवेचन इस लघु रचना के ३२ छंदों का प्रतिपाद्य विषय है।

३. कमलबत्तीसी - स्वरूपलीनता, सम्यक्चारित्र का स्वरूप इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय है।

२. आचारमत -

१. श्रावकाचार - सच्चे देव गुरु शास्त्र की वंदना पूर्वक सम्यक्त्व के २५ दोषों का वर्णन किया गया है। श्रावक का स्वरूप, साधुचर्या, अरहंत सिद्ध का स्वरूप इनमें व्याख्यायित है।

३. सारमत -

१. उपदेश शुद्ध सार - जिनेन्द्र भगवान के उपदेश का शुद्ध सार, अक्षर, व्यंजन, पद, अर्थ द्वारा आत्मा की महिमा और साधक की साधना का विशेष वर्णन इस ग्रंथ में निरूपित है।

२. ज्ञानसमुच्चय सार - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र की सीढ़ियों पर आरूढ़ साधक का विशद् विवेचन इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य है।

३. त्रिभंगीसार - तीन-तीन भंग द्वारा प्रथम अध्याय में आस्रव एवं द्वितीय अध्याय में आस्रव निरोध का अद्वितीय वर्णन है।

४. ममल मत -

१. ममल पाहुड - भावप्रधान रचना है इसमें हृदय गत अनुभूतियों को लोक शैली के गेय पदों में गुम्फित किया है। ये भजन अनुभूतियों के अतिरेक से आनंदित कर देने वाले हैं। आल्हाद परक इन फूलनाओं में आगम सिद्धांत साधना, उपयोग की एकाग्रता, मुक्ति का स्वरूप आदि अनेक विषयों का समाहार है। फूलना शब्द का प्रयोग केवल आचार्य तारण तरण ने 'भय षिपनिक ममल पाहुड' ग्रंथ में ही किया है। इसमें १६४ विशुद्ध आध्यात्मिक फूलनायें हैं, जो ३२०० गाथाओं में निबद्ध हैं। जिन्हें तीन खंडों में विभाजित किया जा सकता है।

- फूलना - आत्मा को विशेष आनंदानुभूति कराने वाली रचनायें फूलना हैं।
- फूलना गाथा - इनके माध्यम से परमध्रुव चैतन्य तत्व की नंद, आनंद, सहजानंद अवस्था और मुक्त स्वभाव का वर्णन किया गया है।
- छंद फूलना - उस समय की प्रचलित लोक धुन, लोकगीत और शास्त्रीय संगीत पर आधारित राग-रागनियों में निबद्ध फूलना छंद फूलना है। इनके विषय भी विशुद्ध आध्यात्मिक हैं।

२. चौबीस ठाणा – संसारी जीव के चौबीस स्थानों की प्ररूपणा संबंधी इस रचना में गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सैनी, आहारक, गुणस्थान, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, उपयोग, ध्यान, आस्रव, जाति, और कुलकोडि इस प्रकार चौबीस स्थानों का विषय प्रतिपादित है।

५. केवल मत –

१. इस मत में छद्मस्थ वाणी, नाममाला, खातिका विशेष, सिद्धस्वभाव, शून्यस्वभाव पाँच रचनाएँ सम्मिलित हैं।

भट्टारक परम्परा परिचय –

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके शासन का समस्त भार उनके प्रधान शिष्यों पर आ गया। उनके शिष्यों की परम्परा शिष्य-प्रशिष्य के रूप में अविच्छिन्न रूप से चलती रही। गौतमस्वामी, सुधर्माचार्य एवं जम्बूस्वामी ये पहले तीन केवली हुए फिर पाँच श्रुतकेवली हुए। इनमें अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु थे। जिन्हें दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है। आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द तक करीब २० आचार्य हुए जो अंगों एवं पूर्वों के ज्ञाता थे तथा जिन्होंने महावीर शासन की प्रभावना में उत्तरोत्तर वृद्धि की। ऐसे आचार्यों में अंतिम आचार्य धरसेन थे जो विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुए और जिन्होंने अपने दो योग्यतम शिष्यों को जो कुछ उनके पास ज्ञान अवशिष्ट था उसे उन्हें पढ़ाया। ये दोनों शिष्य आचार्य भूतबलि एवं पुष्पदन्त के नाम से प्रख्यात हुए। जिन्होंने 'षट्खण्डागम' ग्रंथ को लिपिबद्ध करने की प्रक्रिया का शुभारम्भ किया।

जैनाचार्यों की ज्ञान के प्रति अगाध श्रद्धा एवं अभिरुचि ने साहित्य निर्माण में अद्भुत योगदान दिया और ईसा की प्रथम शताब्दी में होने वाले आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर १२ वीं शताब्दी तक ऐसे सैकड़ों आचार्य हुए जिन्होंने वीर शासन की महती प्रभावना की और वे अपने अद्भुत ज्ञान, शक्ति, चारित्र एवं तपसाधना द्वारा उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम तक महावीर शासन का प्रचार करते रहे। ऐसे आचार्यों में उमास्वामी (तृतीय शताब्दी), समन्तभद्र (तृतीय-चतुर्थ शताब्दी), सिद्धसेन (पाँचवीं शताब्दी), देवनन्दि, पात्रकेसरी, अकलंक (सातवीं शताब्दी), वीरसेन (आठवीं शताब्दी), विद्यानन्दि एवं माणिक्यनन्दि (नवीं शताब्दी), जिनसेन (नवीं शताब्दी), गुणभद्र (दसवीं शताब्दी), नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती, अमृतचन्द्र, देवसेन, पद्मनन्दि (ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी) तारण स्वामी (सोलहवीं शताब्दी) जैसे प्रभावक आचार्य हुए। ये सभी आचार्य अपने समय के अत्यधिक ओजस्वी एवं तप:पूत थे, इनके आचार्यत्वकाल में महावीर जिन शासन का प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया और देश में सर्वजीव समभाव, सर्वजाति समभाव एवं सर्वधर्म समभाव जैसे लोकप्रिय सिद्धांतों के माध्यम से जनता के विचारों में सहिष्णुता आने लगी।

देश की राजनीतिक एकता जब समाप्त होने लगी और देश को सम्राट हर्षवर्धन के पश्चात् जब कोई भी शासक एक सूत्र में बांधने में असमर्थ रहा तब देश में एकता के स्थान पर अनेकता ने सिर उठाया और चारों ओर अशांति का वातावरण निर्मित होने लगा। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही भारत पर मुगलों के आक्रमण होने लगे और तेरहवीं शताब्दी के आते-आते तो यहाँ मुगलों का शासन स्थापित हो गया। देश में आतंक का

साम्राज्य छा गया क्योंकि ये शासक धर्मान्ध, क्रूर, निर्दयी और बर्बर होते थे। उनके महत्वपूर्ण कारनामे यही होते थे कि किस सिपाही ने कितने सशस्त्र एवं निहत्थों को तलवार से मौत के घाट उतारा और कितनों को जबरदस्ती धर्म परिवर्तन कराया तथा कितने मंदिर और मूर्तियों को तोड़ा और लूटा।

ऐसे भयपूर्ण शासन में अहिंसकों का जीना बड़ा दूभर हो गया था। नग्न साधुओं का विहार होना और भी कठिन हो गया था। स्वतंत्रतापूर्वक धर्माचरण नहीं हो सकता था। सभी के हृदय में भय एवं आतंक का वातावरण बना हुआ था। न तो नग्न साधुओं का स्वतंत्रतापूर्वक विचरण हो सकता था और न ही मंदिरों तथा शास्त्र भण्डारों की सुरक्षा की गारंटी थी।

अलाउद्दीन खिलजी के समय (१२९६-१३१६) में दिल्ली के नगरसेठ पूर्णचन्द्र नामक अग्रवाल जैन थे। बादशाह की उस पर विशेष कृपा थी और शासन में उनका विशेष हाथ था। राज्य की अर्थव्यवस्था कके वह एकमात्र अधिकारी थे। जब बादशाह को माधवसेन की विद्वत्ता, तपस्या एवं चमत्कार की कितनी ही कहानियाँ राजदरबारियों से सुनने को मिलीं तो बादशाह ने भी उनसे भेंट करने की इच्छा प्रकट की। बादशाह के पंडितों में राघो और चेतन ये दो प्रसिद्ध पंडित थे जो संस्कृत के महान ज्ञाता एवं तार्किक विद्वान थे। बादशाह के हृदय में जैन एवं ब्राह्मण विद्वानों के शास्त्रार्थ को देखने की इच्छा हुई इसलिये उन्होंने अपने कोषाधिकारी सेठ पूर्णचन्द्र से दिगम्बराचार्य माधवसेन को देहली बुलाने का आग्रह किया। माधवसेन नग्न साधु थे इसलिये पद विहार करते हुए ही वे देहली आये।

माधवसेन ने शास्त्रार्थ में बादशाह के दो पंडितों राघो, चेतन को हराया और कट्टर मुस्लिम बादशाह के शासनकाल में जैन धर्म की प्रभावना की ।

इसी बादशाह के शासनकाल में नन्दिसंघ के आचार्य प्रभाचन्द्र ने दिल्ली में अपना संघ स्थापित किया और इस प्रकार सारे उत्तर भारत में भट्टारक परम्परा को नया रूप प्रदान किया।

भट्टारक प्रभाचन्द्र के पश्चात् भट्टारक परम्परा ने शनैः-शनैः देश में लोकप्रियता प्राप्त की और एक के पश्चात् दूसरे प्रातों में भट्टारक गादियाँ स्थापित होने लगीं। राजस्थान में चित्तौड़, चाकसू, आमेर, सांगानेर, महावीर जी, जयपुर, अजमेर एवं नागौर, मध्यप्रदेश में ग्वालियर एवं सोनागिर, बागड़ प्रदेश में डूंगरपुर, सागवाड़ा, बांसवाड़ा, गुजरात में नवसारी, सूरत, खम्भात, घोघा, सौराष्ट्र में गिरनार, महाराष्ट्र में कारंजा, नागपुर, दक्षिण में श्रवणबेलगोल आदि स्थानों में भट्टारकों की गादियाँ मात्र स्थापित ही नहीं थीं किन्तु इन प्रान्तों में भट्टारकों का पूर्ण प्रभाव भी व्याप्त रहा। इन भट्टारकों ने अपने अलग-अलग गण, संघ एवं गच्छ (शाखा) स्थापित कर लिये। अपने प्रभाव से क्षेत्र बांट लिये और अपनी-अपनी सीमाओं में धर्म के एक मात्र स्तम्भ बन गये। १६वीं शताब्दी में देहली गादी के भट्टारकों ने अपने ही आधीन मण्डलाचार्य के पद भी बनाये और ये मण्डलाचार्य ही भट्टारक के नाम पर प्रतिष्ठा, पूजा एवं समारोह आयोजित करने लगे।

संवत् १३५१ से १८०० तक भट्टारक ही आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु के रूप में जनता द्वारा पूजित थे। ये भट्टारक प्रारम्भ में नग्न होते थे इसलिये भट्टारक सकलकीर्ति को निर्ग्रन्थराज कहा गया है। आँवा (राजस्थान) में भट्टारक शुभचन्द्र, जिनचन्द्र एवं प्रभाचन्द्र की जो निषेधिकाएँ हैं वे तीनों ही नग्न अवस्था की हैं। ये भट्टारक अपना आचरण श्रमण परम्परा के पूर्णतः अनुकूल रखते थे। ये अपने संघ के

प्रमुख होते थे और संघ की देखरेख का सारा भार इन पर ही रहता था। इनके संघ में मुनि, उपाध्याय, ब्रह्मचारी एवं आर्यिकायें होतीं थीं। प्रतिष्ठा महोत्सवों एवं विविध व्रत उपवासों की समाप्ति पर होने वाले आयोजनों के संचालन में इनका प्रमुख हाथ होता था।

ये भट्टारक पूर्णत: संयमी होते थे। भट्टारक विजयकीर्ति के संयम को डिगाने के लिये कामदेव ने भारी प्रयत्न किये थे लेकिन अन्त में उसे हार माननी पड़ी थी। विजयकीर्ति अपनी संयम की परीक्षा में सफल हुए। इनका आहार एवं विहार पूर्णत: श्रमण परम्परा के अंतर्गत होता था। मुगल बादशाहों तक ने उनके चारित्र एवं विद्वत्ता की प्रशंसा की थी। मध्यकाल में तो जैनों के आध्यात्मिक राजा कहलाने लगे थे किन्तु इसके बाद उनके पतन का प्रारम्भ हो गया।

संवत् १३५१ से २००० तक इन भट्टारकों का कभी उत्थान हुआ तो कभी वे पतन की ओर अग्रसर हुए लेकिन फिर भी ये समाज के आवश्यक अंग माने जाते रहे। यद्यपि दिगम्बर जैन समाज में तेरापंथ के उदय से इन भट्टारकों पर विद्वानों द्वारा कड़े प्रहार किये गये तथा कुछ विद्वान इनकी लोकप्रियता को समाप्त करने में बड़े भारी साधक भी बने लेकिन फिर भी समाज में इनकी आवश्कता बनी रही और व्रत विधान एवं प्रतिष्ठा समारोहों में तो इन भट्टारकों की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती रही। ६५० वर्षों में से ६०० वर्ष तक तो ये भट्टारक जैन समाज के अनेक विरोधों के बावजूद भी श्रद्धा के पात्र बने रहे और समाज इनकी सेवाओं को आवश्यक समझती रही। शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, सकलकीर्ति, ज्ञानभूषण जैसे भट्टारक किसी भी दृष्टि से आचार्यों से कम नहीं थे क्योंकि उनका ज्ञान, त्याग, तपस्या और साधना सभी तो उनके समान थी और वे अपने समय के एकमात्र निर्विवाद दिगम्बर समाज के आचार्य थे। उन्होंने मुगलों के समय में जैन धर्म की रक्षा ही नहीं की किन्तु साहित्य एवं संस्कृति की रक्षा में भी अत्यधिक तत्पर रहे। भट्टारक शुभचन्द्र को यतियों का राजा कहा जाता था तथा भट्टारक सोमकीर्ति अपने आपको आचार्य लिखना अधिक पसंद करते थे। भट्टारक वीरचन्द्र महाव्रतियों के नायक थे। उन्होंने १६ वर्ष तक नीरस आहार का सेवन किया था।

ये भट्टारक पूर्णत: प्रभुत्व सम्पन्न थे। वैसे ये आचार्यों के भी आचार्य थे क्योंकि इनके संघ में आचार्य, मुनि, ब्रह्मचारी एवं आर्यिकायें रहती थीं। भट्टारक रतनचन्द्र के शिष्यों में ६ आचार्य, ३३ उपाध्याय, ४० ब्रह्मचारी एवं १० ब्रह्मचारिणियाँ थीं। इसी तरह मण्डलाचार्य गुणचन्द्र के शिष्यों में ९ आचार्य, १ मुनि, २७ ब्रह्मचारी एवं १२ ब्रह्मचारिणियाँ थीं। मुनि एवं आचार्य नग्न रहा करते थे। केवल भट्टारकों में कुछ-कुछ अपवाद आ गया था।

जयपुर के भट्टारकों को राज्य की ओर से वही सम्मान प्राप्त था जो किसी एक स्वतंत्र शासक को प्राप्त थे। उनके पदार्पण के समय राज्य सरकार की ओर से भेंट दी जाती थी। पालकी में बैठाकर चंवर करते हुए उन्हें ले जाया जाता था और साथ में ध्वज दण्ड, ध्वजा आदि सभी चलते थे। यह सब उनके आध्यात्मिक प्रभाव के कारण था। जब वे किसी के यहाँ आहार के लिये जाते थे तो उनको श्रावकगण भेंट करते तथा बड़े उत्साह एवं उमंग से साथ उनका आहार होता। आहार करने की क्रिया को 'भंवर' कहा जाता था।

इस प्रकार ६५० वर्ष का यह काल भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक एवं साहित्यिक जागरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा।

भट्टारक प्रभाचन्द्र - परिचय (संवत् १३१४-१४०८)

भट्टारक प्रभाचन्द्र उन भट्टारकों में से हैं जिन्होंने भगवान महावीर स्वामी के शासन की महती प्रभावना की थी तथा सारे देश में जैन साधु के पद की गरिमा को बढ़ाया था। यद्यपि वे मुस्लिम शासन के उस प्रारंभिक काल में हुए थे जब कि देहली के शासक तलवार के जोर से धर्म परिवर्तन में विश्वास करते थे तथा भारतीयों को मौत के घाट उतारना उनके लिये अत्यधिक सरल था लेकिन भगवान महावीर के अनुयायियों के जीवन में अहिंसा एवं सर्वधर्म समभाव जैसे सिद्धांतों के आत्मसात् होने के कारण उन्होंने अपने विरोधियों का भी अहिंसा से स्वागत किया और अपने जीवन से धार्मिक सहिष्णुता को कभी दूर नहीं होने दिया।

प्रभाचन्द्र तुगलक वंश के शासनकाल में हुए थे। उन्होंने देहली पर गयासुद्दीन तुगलक (१३२१-२५ ई.), मुहम्मदबिन तुगलक (१३२५-५१) एवं फिरोजशाह तुगलक (१३५१-८८ ई.) का प्रारंभिक शासन देखा था। वे मुनिराज थे। तिलतुष मात्र भी परिग्रह उनके पास नहीं था। वे जैन संघ के आचार्य थे तथा भट्टारक पद को सुशोभित करते थे। अजमेर उनकी गादी का प्रमुख केन्द्र था। राजस्थान, देहली, उत्तरप्रदेश उनका कार्यक्षेत्र था। बागड़ प्रदेश में उनके प्रधान शिष्य पद्मनन्दि का प्रभाव स्थापित था। प्रतिष्ठाएँ सम्पन्न कराना, स्थान-स्थान पर विहार करके अहिंसा एवं धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार करना प्रमुख कार्य था। जैन धर्म एवं समाज पर विपत्ति आने पर उसे दूर करने में उनका पूर्ण सहयोग मिलता था। लेकिन उसमें साधु के पद की मर्यादा का प्रश्न सदैव बना रहता था।

भट्टारक प्रभाचन्द्र, धर्मचन्द्र के प्रशिष्य एवं रत्नकीर्ति के शिष्य थे। धर्मचन्द्र एवं रत्नकीर्ति दोनों ही अपने समय के बड़े प्रभावशाली भट्टारक थे। प्रभाचन्द्र साधु तो थे ही किन्तु अपनी तपसाधना से कितने ही आश्चर्यजनक कार्य भी सम्पन्न किये थे। वे अपने इन कार्यों से भी सारे देश में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

देहली में फिरोजशाह तुगलक का शासन था। चाँदागूजर पापड़ीवाल उनके प्रमुख मंत्री थे। सम्भवत: देश का सारा भार उन्हीं पर था। एक बार चाँदागूजर ने देहली में प्रतिष्ठा समारोह करने का निश्चय किया और अजमेर जाकर भट्टारक प्रभाचन्द्र से प्रतिष्ठाकार्य को सम्पन्न कराने की प्रार्थना की। भट्टारक प्रभाचन्द्र ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। प्रतिष्ठा का मुहूर्त निकाल दिया लेकिन चलने की कोई तिथि निश्चित नहीं की। एक-एक दिन बीतने लगा और प्रभाचन्द्र से निवेदन किया कि यदि वे नहीं जा सकें तो उन्हें तो जाने की आज्ञा प्रदान करें। प्रभाचन्द्र सारी स्थिति को समझ गये और उनसे कहा कि प्रात:काल देखना वे कहाँ होते हैं। रात्रि को सब प्रतिदिन की भाँति सो गये लेकिन वे प्रभात में उठे तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे देहली के द्वार पर खड़े हैं। (बुद्धिविलास बखतराम साह पृ. ७४-७५)

देहली प्रवेश पर उनका शानदार स्वागत किया गया। स्वयं बादशाह तुगलक उन्हें लेने आये। बादशाह को अगवानी के लिये आया हुआ देखकर सारा देहली शहर ही उनके स्वागत में उमड़ पड़ा। श्राविकाओं ने मंगलगीतों के साथ उनका हार्दिक अभिनंदन किया। चारों ओर कलश स्थापित किये गये। ऐसे अभूतपूर्व स्वागत को देखकर बादशाह के दो पंडित राघो और चेतन का हृदय ईर्ष्या से भर गया। वे पंडित तो थे ही मंत्रसिद्धि भी उनके पास थी इसलिये जब प्रभाचन्द्र पालकी में विराजमान हुए तो राघो, चेतन ने अपनी मंत्र शक्ति से उस पालकी को कील दिया। प्रभाचन्द्र को सारी स्थिति समझने में देर नहीं लगी और उन्होंने भी

अपनी साधना के बल पर पालकी ही आकाश में उठा ली और वह बिना कहारों के ही चलने लगी। इस चमत्कार से चारों ओर प्रभाचन्द्र की जय-जयकार होने लगी। लोग खुशी से नाच उठे और भगवान महावीर के शासन का प्रभाव सबके हृदयों पर छा गया।

लेकिन अभी राघो, चेतन ने हार नहीं मानी थी। उन्होंने प्रभाचन्द्र से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। भट्टारक प्रभाचन्द्र तो पीछे हटने वाले नहीं थे क्योंकि उनको शास्त्रों का अगाध ज्ञान था। संस्कृत एवं प्राकृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। न्याय शास्त्र के वे पारगामी विद्वान थे। आखिर दोनों विद्वानों में शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। प्रश्नों की बौछारें होने लगीं। शंकाएँ उठने लगीं। राघो, चेतन जब प्रश्न करते तो उपस्थित जनसमूह आशंका की दृष्टि से देखने लगते कि देखें अब आचार्यश्री क्या जवाब देते हैं। लेकिन भट्टारक प्रभाचन्द्र उसका सहज भाव से उत्तर देते और उत्तर भी ऐसा होता जिसको सुनकर सारी सभा वाह-वाह कह उठती। इस प्रकार के एक प्रश्न के पश्चात् दूसरे प्रश्न का उत्तर देने लगे और अंत में शास्त्रार्थ में राघो, चेतन को पराजित होना पड़ा। (बुद्धिविलास बखतराम साह)

एक दिन राघो-चेतन ने भट्टारक प्रभाचन्द्र से पूछवाया कि आज कौन सी तिथि है ? उस दिन वास्तव में अमावस्या थी लेकिन प्रभाचन्द्र के मुख से पूर्णिमा का नाम निकल गया। फिर क्या था, दोनों पंडितों ने इस मामूली सी बात का बतंगड़ बना दिया और इस बात को बादशाह तक पहुँचा दिया। बादशाह ने भी इस तथ्य की प्रभाचन्द्र से जानकारी चाही कि वास्तव में जो कुछ उन्होंने सुना है क्या वह सही है ? आचार्य प्रभाचन्द्र ने जो कुछ कहा था उसे सही बताया। यह बात बिजली की तरह सारे शहर में फैल गयी। अब क्या था, अमावस्या की पूर्णिमा होना असंभव था इसलिये देहली के नागरिकों का हृदय बैठने लगा, मुख उदास हो गये और वे भविष्य के भय से आशंकित हो उठे। सारी जनता में एक अजीब सा भय छा गया। प्रभाचन्द्र के नर-नारी दर्शन करते और उन्हें निर्भय पाकर आश्चर्यचकित हो उठते। दिन ढलने लगा और रात्रि का जोरों से इंतजार होने लगा। सबकी आँखें आकाश की ओर थीं क्योंकि उन्होंने कल ही तो अमावस्या की पूर्व रात्रि देखी थी भला क्या वह सब झूठ था और यदि सच था तो फिर महान जैन संत प्रभाचन्द्र का कल क्या होगा ? इसको सोच-सोचकर श्रावकगण तरह-तरह की आशंकाएँ करने लगे।

प्रभाचन्द्र ने अपनी दैनिक क्रियाएँ यथावत कीं। दोपहर में सामायिक क्रिया सम्पन्न की। अपराह्न में सहस्रों नर-नारियों को प्रवचन भी दिया लेकिन उन्हें कोई भय अथवा आशंका नहीं थी। प्रवचन के पश्चात् वे ध्यानस्थ हो गये और भक्तिपूर्वक सम्पूर्ण मनोयोग से स्तवन करने लगे क्योंकि जैन शासन की प्रभावना का उनके सामने प्रश्न था। एक ओर रात्रि हो रही थी तो दूसरी ओर उनकी तपस्या के प्रभाव से आकाश में चन्द्रमा उग रहा था। देहली के नागरिक आश्चर्यचकित थे, सभी लोग दांतों तले अंगुली दबा रहे थे। लोग आकाश में चन्द्रमा देखकर हैरान थे, ऐसा लग रहा था मानो उन्होंने चन्द्रमा को पहली बार देखा हो। लेकिन प्रभाचन्द्र के भक्तों एवं प्रशंसकों की खुशी का पारावार नहीं था, वे नाच रहे थे एवं अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे। भगवान महावीर की एवं आचार्य प्रभाचन्द्र की जयकारों के नारे लग रहे थे। स्वयं बादशाह भी हैरान थे, उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वास्तव में उस दिन पूर्णिमा थी अथवा अमावस्या क्योंकि कल तो काली

चतुर्दशी थी यह उन्होंने स्वयं देखा था फिर आज पूर्णिमा कैसे संभव हो सकती थी। बादशाह के सामने राघो-चेतन स्वयं उपस्थित हुए, उनकी दशा देखने लायक थी, चेहरा उतरा हुआ था, मुख से शब्द नहीं निकल पा रहे थे, वे हाथ जोड़े बादशाह के सामने खड़े थे। बड़ी कठिनाई से उन्होंने बादशाह से अर्ज किया कि जहाँपनाह! यह तो अवश्य ही आचार्य श्री का करिश्मा है, मंत्र साधना है अथवा हमारी आँखें ही अपने आपको धोखा दे रही हैं। बादशाह सलामत! आप स्वयं पञ्चांग देख लीजिये, सारी जनता से पूछ लीजिये कि आज कौन सी तिथि है ? इसलिये हमारा तो हुजूर से इतना ही निवेदन है कि नगर के बारह कोस तक घोड़े दौड़ाये जायें और यदि वहाँ भी चन्द्रमा दिखता है तो मैं अपनी हार मान जाऊँगा नहीं तो यह सब करिश्मा है धोखा है और धोखा भी मुझे नहीं स्वयं बादशाह सलामत को है। बादशाह ने तत्काल पं. राघो-चेतन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। चारों ओर घुड़सवार दौड़ा दिये गये। उनको सख्त आदेश दिये गये कि वे १२ कोस तक जाकर देखें कि आज उन्हें चन्द्रमा दिखता है अथवा नहीं। घोड़े दौड़े, राघो-चेतन के शिष्य भी भागे लेकिन सभी के हाथ असफलता लगी तथा उन्होंने बादशाह से आकर यही निवेदन किया कि जैसा उन्होंने देहली में देखा है वैसा ही अन्यत्र देखा है। वास्तव में सभी स्थानों पर चन्द्रमा अपनी पूर्णावस्था में दिखाई दे रहा था। यह राघो-चेतन की तीसरी हार थी।

राघो-चेतन ने अभी तक अपनी हार नहीं मानी। उन्होंने एक दांव और फेका तथा अपनी मंत्र शक्ति से भट्टारक प्रभाचन्द्र के कमण्डलु के जल को मदिरा में परिवर्तित कर दिया तथा बादशाह से निवेदन किया कि आचार्य श्री के कमण्डलु में जल के स्थान पर मदिरा भरी है। इससे स्पष्ट है कि ये जैन साधु जनता को धोखा देते हैं और स्वयं मदिरापान करते हैं। यह प्रभाचन्द्र के चमत्कार की अंतिम परीक्षा थी। फिरोजशाह ने राघव-चेतन की बात मानकर पुनः प्रभाचन्द्र से इसका समाधान चाहा। आचार्य प्रभाचन्द्र ने राघो-चेतन की चाल को शीघ्र समझ लिया और उनकी साधना के बल पर कमण्डलु में जल के स्थान पर पुष्प होने में देर नहीं लगी। तत्काल प्रभाचन्द्र ने अपने कमण्डलु को उल्टा कर दिया और उसमें से पुष्प निकलते ही फिरोजशाह की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा।

इस प्रकार सभी परीक्षाओं में प्रभाचन्द्र की विजय हुई। बादशाह फिरोजशाह तुगलक ने भी अपनी अत्यधिक प्रसन्नता जाहिर की और आचार्य श्री की जय-जयकार की। सारे नगर में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। लोग आचार्य श्री के दर्शनों को उमड़ पड़े।

एक पट्टावलि के अनुसार भट्टारक प्रभाचन्द्र का जन्म संवत् १२९० पौष सुदी १५ को हुआ। वे १२ वर्ष तक गृहस्थ रहे तथा १२ वर्ष तक साधु की अवस्था में दीक्षित हुए तथा ७४ वर्ष ११ मास १५ दिन तक भट्टारक पद पर बने रहे। इस पट्टावलि के अनुसार प्रभाचन्द्र संवत् १४०८ तक भट्टारक पद पर आसीन रहे।

प्रभाचन्द्र दीर्घकाल तक भट्टारक पद पर आसीन रहे इसलिये उन्होंने देश के विभिन्न भागों में एक बार नहीं किन्तु कई बार विहार किया। उनके मुख्य कार्य क्षेत्र अजमेर, देहली एवं बागड प्रदेश रहे। उन्होंने अपने ही एक शिष्य को बागड प्रदेश की गादी पर बैठा दिया।

इस प्रकार भट्टारक प्रभाचन्द्र ने दीर्घकाल तक देश में धार्मिक एवं सामाजिक जागृति का संचालन किया और भगवान महावीर स्वामी के शासन की महती प्रभावना की।

प्रसिद्ध हिन्दी कवि और लेखक –

महाकवि भूधरदास –

हिन्दी भाषा के जैन कवियों में महाकवि भूधरदास का नाम उल्लेखनीय है। कवि आगरा निवासी थे और इनकी जाति खण्डेलवाल थी। इससे अधिक इनका परिचय प्राप्त नहीं होता है। इनकी रचनाओं के अवलोकन से यह अवश्य ज्ञात होता है कि कवि श्रद्धालु और धर्मात्मा थे। कविता करने का अच्छा अभ्यास था। कवि के कुछ मित्र थे जो कवि से ऐसे साहित्य का निर्माण कराना चाहते थे, जिसका अध्ययन कर साधारण जन भी आत्मसाधना और आचारतत्त्व को प्राप्त कर सके। उन्हीं दिनों आगरा में जयसिंहसवाई सूबा और हाकिम गुलाबचन्द वहाँ आये। शाह हरिसिंह के वंश में जो धर्मानुरागी मनुष्य थे उनकी बार-बार प्रेरणा से कवि के प्रमाद का अन्त हो गया और कवि ने विक्रम संवत् १७८१ में पौष कृष्णा त्रयोदशी के दिन अपना 'शतक' नामक ग्रन्थ रचकर समाप्त किया।

कवि के हृदय में आत्मकल्याण की तरंग उठती थी, पर वह कुछ नहीं कर पाते थे। अध्यात्मगोष्ठी में जाना और चर्चा करना नित्य का काम था। एक दिन कवि अपने मित्रों के साथ बैठे हुए थे कि वहाँ से एक वृद्ध पुरुष निकला, जिसका शरीर थक चुका था, दृष्टि कमजोर हो गई थी, लाठी के सहारे चला जा रहा था। वह लाठी के सहारे स्थिर होकर चलना चाहता था, पर वहाँ से दस-पाँच कदम ही आगे चल पाया था कि संयोग से उसकी लाठी टूट गई। पास में स्थित लोगों ने उसे खड़ा किया और दूसरी लाठी का सहारा देकर उसे घर पहुँचाया। वृद्ध की इस अवस्था से कवि भूधरदास का मन विचलित हो गया और उनके मुख से निम्नलिखित पद्य निकल पड़ा –

आया रे बुढ़ापा मानी, सुधि-बुधि बिसरानी।।
श्रवन की शक्ति घटी, चाल चले अटपटी।
देह लटी भूख घटी, लोचन झरत पानी ।।१।।
दांतन की पंक्ति टूटी, हाड़न की संधि छूटी।
काया की नगरी लूटी, जात नहीं पहिचानी ।।२।।
बालों ने वरन फेरा, रोग ने शरीर घेरा।
पुत्रहू न आवै नेरा, औरों की कहा कहानी ।।३।।
भूधर समुझि अब, स्वहित करोगे कब ?
यह गति ह्वै है जब, तब पछतैहै प्रानी ।।४।।

पद के अंतिम चरण को कवि ने कई बार पढ़ा और अनुभव किया कि वृद्धावस्था में हम सबकी ऐसी ही हालत होती है। अतः आत्मोत्थान की ओर प्रवृत्त होना चाहिये। इस प्रकार कवि भूधरदास का व्यक्तित्व सांसारिकता से परे आत्मोन्मुखी है।

इनकी रचनाओं से इनका समय वि.सं. की १८वीं शती (१७८१) सिद्ध होता है।

रचनाएँ -

महाकवि भूधरदास ने पार्श्वपुराण, जिनशतक और पद-साहित्य की रचना कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया है। इनकी कविता उच्च कोटि की होती है।

कवि द्यानतराय -

द्यानतराय आगरा निवासी थे। इनका जन्म अग्रवाल जाति के गोयल गोत्र में हुआ था। इनके पूर्वज लालपुर से आकर यहाँ बस गये थे। इनके पितामह का नाम वीरदास और पिता का नाम श्यामदास था। इनका जन्म वि.सं. १७३३ में हुआ और विवाह वि.सं. १७४८ में। उस समय आगरा में मानसिंह जी की धर्मशैली थी। कवि द्यानतराय ने उनसे लाभ उठाया। कवि को पंडित बिहारीदास और पण्डित मानसिंह के धर्मोपदेश से जैन धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई थी। इन्होंने सं. १७७७ में श्री सम्मेदशिखर की यात्रा की थी। इनका महान ग्रन्थ 'धर्मविलास' के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में ३३३ पद, अनेक पूजाएँ एवं ४५ विषयों पर फुटकर कविताएँ संग्रहीत हैं। कवि ने इनका संकलन स्वयं वि.सं. १७८० में किया है। काव्य-विधा की दृष्टि से द्यानत-विलास की रचनाओं को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है -

१. पद, २. पूजापाठ-भक्ति स्तोत्र और पूजाएँ, ३. रूपक काव्य, ४. प्रकीर्णक काव्य।

आचार्यकल्प पं. टोडरमल

महाकवि आशाधर के अनुपम व्यक्तित्व की तुलना करने वाला व्यक्तित्व आचार्यकल्प पं. टोडरमल जी का है। इन्हें प्रकृतिप्रदत्त स्मरण शक्ति और मेधा प्राप्त थी। एक प्रकार से ये स्वयंबुद्ध थे। इनका जन्म जयपुर में हुआ था। पिता का नाम जोगीदास और माता का नाम रमा या लक्ष्मी था। इनकी जाति खण्डेलवाल और गोत्र गोदीका था। ये शैशवकाल से ही होनहार थे। गूढ़ से गूढ़ शंकाओं का समाधान इनके पास मिलता था। इनकी योग्यता एवं प्रतिभा का ज्ञान तत्कालीन साधर्मी भाई रायमल्ल ने इन्द्रध्वज पूजा के निमन्त्रण पत्र में जो उद्‌गार प्रकट किये हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है। इन उद्‌गारों को ज्यों का त्यों दिया जा रहा है -

''यहाँ घणां भायां और घणीं बायां के व्याकरण व गोम्मटसार जी की चर्चा का ज्ञान पाइए हैं। सारा ही विषैं भाईजी टोडरमलजी के ज्ञान का क्षयोपशम अलौकिक है , जो गोम्मटसारादि ग्रन्थों की सम्पूर्ण लाख श्लोक टीका बणाई, और पाँच-सात ग्रन्थों की टीका बयाणवेका उपाय है। न्याय, व्याकरण, गणित, छंद, अलंकार का यदि ज्ञान पाइये। ऐसे पुरुष महन्त बुद्धि का धारक ईकाल विषें होना दुर्लभ है। ताते यासू मिलें सर्व सन्देह दूरि होय है। घणी लिखवा करि कहा आपणां हेतका वांछिक पुरुष शीघ्र आप यांसू मिलाप करो।''

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि टोडरमल जी महान विद्वान थे। वे स्वभाव से बड़े नम्र थे। अहंकार उन्हें छू तक न गया था। इन्हें एक दार्शनिक का मस्तिष्क, श्रद्धालु का हृदय, साधु का जीवन और सैनिक की दृढ़ता मिली थी। इनकी वाणी में इतना आकर्षण था कि नित्य सहस्रों व्यक्ति इनका शास्त्र-प्रवचन सुनने के लिये एकत्र होते थे। गृहस्थ होकर भी गृहस्थी में अनुरक्त नहीं थे। अपनी साधारण आजीविका कर लेने के बाद ये शास्त्रचिन्तन में रत रहते थे। इनकी प्रतिभा विलक्षण थी। इसका एक प्रमाण यही है कि इन्होंने किसी से बिना पढ़े ही कन्नड़ लिपि का अभ्यास कर लिया था।

अब तक के उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इनका जन्म वि.सं. १७९७ है और मृत्यु सं. १८२४ है। टोडरमल जी आरंभ से ही क्रान्तिकारी और धर्म के स्वच्छ स्वरूप को हृदयंगत करने वाले थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा के सम्बंध में विशेष जानकारी नहीं है, पर इनके गुरु का नाम वंशीधर जी मैनपुरी बतलाया जाता है। वह आगरा से आकर जयपुर में रहने लगे थे और बालकों को शिक्षा देते थे। वि.सं. १८११ फाल्गुन शुक्ला पंचमी को १४-१५ वर्ष की अवस्था में अध्यात्मरसिक मुलतान के भाईयों के नाम चिट्ठी लिखी थी, जो शास्त्रीय चिट्ठी है। राजस्थान के उत्साही विद्वान पंडित देवीदास गोधा ने अपने सिद्धांतसारसंग्रहवचनिका ग्रन्थ में इनका परिचय देते हुए लिखा है -

''सो दिल्ली पढ़िकर बसुवा आय पाछै जयपुर में थोड़ा दिन टोडरमल्लजी महा बुद्धिमान के पासि शास्त्र सुनने को मिल्या................ सो टोडरमलजी के श्रोता विशेष बुद्धिमान दीवान रतनचन्दजी, अजबरायजी, तिलोकचन्दजी पाटणी, महारामजी, विशेष चरचावान ओसवाल, क्रियावान उदासीन तथा तिलोकचन्द सौगाणी नयनचन्द जी पाटनी इत्यादि टोडरमल जी के श्रोता विशेष बुद्धिमान तिनके आगे शास्त्र का तो व्याख्यान किया।''

इस उद्धरण से टोडरमलजी की शास्त्र प्रवचन शक्ति एवं विद्वत्ता प्रकट होती है। आरा सिद्धांत भवन में संगृहीत शान्तिनाथपुराण की प्रशस्ति में टोडरमल जी के सम्बंध में जो उल्लेख मिलता है उससे उनके साहित्यिक व्यक्तित्व पर पूरा प्रकाश पड़ता है -

वासी श्री जयपुर तनौ, टोडरमल्ल क्रिपाल।
ता प्रसंग को पाय के, गह्यो सुपंथ विशाल।
गोमठसारादिक तने, सिद्धांतन में सार।
प्रवर बोध जिनके उदैं, महाकवि निरधार।
फुनि ताके तट दूसरो, राजमल्ल बुधराज।
जुगल मल्ल जब ये जुरे, और मल्ल किह काज।
देश ढूंढाहड आदि दै, सम्बोधे बहु देस।
रचि रचि ग्रन्थ कठिन किये, 'टोडरमल्ल' महेश।

माता-पिता की एकमात्र सन्तान होने के नाते टोडरमल्ल जी का बचपन बड़े लाड़ प्यार में बीता। बालक की व्युत्पन्नमति देखकर इनके माता-पिता ने शिक्षा की विशेष व्यवस्था की और वाराणसी से एक विद्वान को व्याकरण, दर्शन आदि विषयों को पढ़ाने के लिये बुलाया। अपने विद्यार्थी की व्युत्पन्नमति और स्मरण शक्ति देखकर गुरुजी भी चकित थे। टोडरमल व्याकरण सूत्रों को गुरु से भी अधिक स्पष्ट व्याख्या करके सुना देते थे। छह मास में ही इन्होंने जैनेन्द्र व्याकरण को पूर्ण कर लिया था।

अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् इन्हें धनोपार्जन के लिये सिंहाणा जाना पड़ा। इससे अनुमान लगता है कि इस समय तक इनके पिता का स्वर्गवास हो चुका था। वहाँ भी टोडरमल जी अपने कार्य के अतिरिक्त पूरा समय शास्त्र स्वाध्याय में लगाते थे। कुछ समय पश्चात् रायमल्लजी भी शंका-समाधानार्थ सिंघाणा पहुँचे और इनकी नैसर्गिक प्रतिभा देखकर इन्हें गोम्मटसार का भाषानुवाद करने के लिये प्रेरित किया। अल्प समय

में ही इन्होंने इसकी भाषा टीका समाप्त कर ली। मात्र १८-१९ वर्ष की अवस्था में ही गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार एवं त्रिलोकसार के ६५००० श्लोकप्रमाण टीका कर इन्होंने जन समूह में विस्मय भर दिया।

सिंघाणा से जयपुर लौटने पर इनका विवाह सम्पन्न कर दिया गया। कुछ समय पश्चात् दो पुत्र उत्पन्न हुए। बड़े का नाम हरिश्चन्द्र और छोटे का नाम गुमानीराम था। इस समय तक टोडरमल जी के व्यक्तित्व का प्रभाव सारे समाज पर व्याप्त हो चुका था और चारों ओर उनकी विद्वत्ता की चर्चा होने लगी थी। यहाँ उन्होंने समाज सुधार एवं शिथिलाचरण के विरुद्ध अपना अभियान शुरू किया। शास्त्रप्रवचन एवं ग्रन्थनिर्माण के माध्यम से उन्होंने समाज में नई चेतना एवं नई जागृति उत्पन्न की। इनका प्रवचन तेरहपंथी बड़े मंदिर में प्रतिदिन होता था, जिसमें दीवान रतनचन्द, अजबराय, त्रिलोकचन्द महाराज जैसे विशिष्ट व्यक्ति सम्मिलित होते थे। सारे देश में उनके शास्त्र प्रवचन की धूम थी।

टोडरमल का जादू जैसा प्रभाव कुछ व्यक्तियों के लिये असह्य हो गया। वे उनकी कीर्ति से जलने लगे और इस प्रकार उनके विनाश के लिये नित्यप्रति षड्यंत्र किया जाने लगा। अंत में वह षड्यंत्र सफल हुआ और युवावस्था में यौवन की कीर्ति अंतिम चरण में पहुँचने वाली थी कि उन्हें मृत्यु का सामना करना पड़ा। विक्रम संवत् १८२४ में इन्हें आततायियों का शिकार होना पड़ा और हँसते-हँसते उन्होंने मृत्यु का आलिंगन किया।

रचनाएँ -

टोडरमल की कुल ११ रचनाएँ हैं, जिनमें सात टीकाग्रन्थ हैं और चार मौलिक ग्रन्थ हैं।

मौलिक रचनाएँ -

- १. मोक्षमार्गप्रकाशक, २. आध्यात्मिक पत्र, ३. अर्थसंदृष्टि और ४. गोम्मटसार पूजा।

टीकाग्रन्थ - १. गोम्मटसार (जीवकांड) - सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका। यह सं. १८१५ में पूर्ण हुई।

२. गोम्मटसार (कर्मकांड) - सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका। यह सं. १८१५ में पूर्ण हुई।

३. लब्धिसार - सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका। यह टीका सं. १८१८ में पूर्ण हुई।

५. त्रिलोकसार - इस टीका में जैन गणित है जिसकी उपयोगी चर्चाएँ की गई हैं।

६. आत्मानुशासन - यह आध्यात्मिक सरस संस्कृत ग्रन्थ है। इसकी वचनिका संस्कृत टीका के आधार पर है।

७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय - इस ग्रन्थ की टीका अधूरी ही रह गई है।

इन समस्त रचनाओं में मोक्षमार्गप्रकाशक सबसे महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है । मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ ९ अध्यायों में विभक्त है और इसमें जैनागम का सार निबद्ध है। इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से आगम का सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस ग्रन्थ के प्रथम अधिकार में उत्तम सुख प्राप्ति के लिए परम इष्ट अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु का स्वरूप विस्तार से बतलाया गया है। पंच परमेष्ठी का स्वरूप समझने के लिये यह अधिकार उपादेय है।

द्वितीय अधिकार में संसारावस्था का स्वरूप वर्णित है। कर्मबंधन का निदान, कर्मों के अनादिपन की सिद्धि, जीव और कर्मों की भिन्नता एवं कथंचित् अभिन्नता, योग से होने वाले प्रकृति-प्रदेशबंध, कषाय से होने वाले स्थिति और अनुभाग बंध, कर्मों के फलदान में निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध, द्रव्य कर्म और भाव कर्म का

स्वरूप, जीव की अवस्था आदि का वर्णन है।

तृतीय अधिकार में संसार दु:ख तथा मोक्ष सुख का निरुपण किया गया है। दु:खों का मूल कारण मिथ्यात्व और मोहजनित विषयाभिलाषा है। इसी से चारों गतियों में दु:ख की प्राप्ति होती है।

चौथे अधिकार में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का निरूपण किया गया है। इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पना राग-द्वेष की प्रवृत्ति के कारण होती है, जो इस प्रवृत्ति का त्याग करता है उसे सुख की प्राप्ति होती है।

पंचम अधिकार में विविधमत समीक्षा है। इस अध्याय से पं. टोडरमल के प्रकाण्ड पाण्डित्य और उनके विशाल ज्ञानकोष का परिचय प्राप्त होता है। इस अध्याय से यह स्पष्ट है कि सत्यान्वेषी पुरुष विविध मतों का अध्ययन कर अनेकान्तबुद्धि के द्वारा सत्य प्राप्त कर लेता है।

षष्ठ अधिकार में सत्यतत्त्वविरोधी असत्य आयतनों के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इसमें यही बतलाया गया है कि मुक्ति के पिपासु को मुक्तिविरोधी तत्त्वों का कभी सम्पर्क नहीं करना चाहिये। मिथ्यात्वभाव के सेवन से सत्य का दर्शन नहीं होता।

सप्तम अधिकार में जैन मिथ्यादृष्टि का विवेचन किया गया है। जो एकांतमार्ग का अवलंबन करता है वह ग्रन्थकार की दृष्टि में मिथ्यादृष्टि है। रागादिक का घटना निर्जरा का कारण है और रागादिक का होना बंध का कारण है। जैनाभास, व्यवहाराभास के कथन के पश्चात्, तत्त्व और ज्ञान का स्वरूप बतलाया गया है।

अष्टम अधिकार में आगम के स्वरूप का विश्लेषण किया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के स्वरूप तथा विषय का विवेचन किया गया है।

नवम अधिकार में मोक्षमार्ग का स्वरूप, आत्महित, पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्ति, सम्यक्त्व के भेद और उसके आठ अंग आदि का कथन आया है।

इस प्रकार पंडित टोडरमल ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में जैन तत्त्वज्ञान के समस्त विषयों का समावेश किया है। यद्यपि उसका मूल विषय मोक्षमार्ग का प्रकाशन है; किन्तु प्रकारांतर से उसमें कर्मसिद्धांत, निमित्त-उपादान, स्याद्वाद-अनेकांत, निश्चय-व्यवहार, पुण्य-पाप, दैव और पुरुषार्थ पर तात्विक विवेचना निबद्ध की गई है।

....

अध्याय ३

: श्री अध्यात्म अमृत कलश :
श्री अमृतचंद्राचार्य जी

श्री अमृतचंद्राचार्य जी एवं ग्रन्थ परिचय
कर्ता कर्म अधिकार

- अध्यात्म अमृत कलश – प्रश्नोत्तर
- अध्यात्म अमृत कलश – निबंधात्मक प्रश्न
- शास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति

आचार्य अमृतचन्द्र

पंडित आशाधर जी ने अमृतचन्द्र सूरि का उल्लेख ठक्कुर पद के साथ किया है – एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचितसमयसारटीकायां दृष्टव्यं।

(अनगारधर्मामृतटीका, पृ. ५८८)

यहाँ ठक्कुर शब्द विचारणीय है। ठक्कुर का प्रयोग जागीरदार या जमींदारों के लिये होता है। हरिभद्रसूरि ने अपनी समराइच्चकहा में ठक्कुर पद का प्रयोग किया है। यह पद क्षत्रिय और ब्राह्मण इन दोनों के लिये समान रूप में प्रयुक्त होता है अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अमृतचन्द्रसूरि क्षत्रिय थे या ब्राह्मण परन्तु इतना तो निश्चित है कि वे किसी सम्मानित कुल के व्यक्ति थे।

संस्कृत और प्राकृत इन दोनों ही भाषाओं पर इनका पूर्ण अधिकार था। ये मूलसंघ के आचार्य थे।

सारस्वताचार्यों में टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि का वही स्थान है, जो स्थान संस्कृतकाव्य रचयिताओं में कालिदास के टीकाकार मल्लिनाथ का है। कहा जाता है कि यदि मल्लिनाथ न होते, तो कालिदास के ग्रन्थों के रहस्य को समझना कठिन हो जाता। उसी तरह यदि अमृतचन्द्रसूरि न होते तो आचार्य कुन्दकुन्द के रहस्य को समझना कठिन हो जाता अतएव कुन्दकुन्द आचार्य के व्याख्याता के रूप में और मौलिक ग्रन्थ रचयिता के रूप में अमृतचन्द्रसूरि का महत्वपूर्ण स्थान है। निश्चयतः इन आचार्य की विद्वत्ता, वाग्मिता और प्राञ्जलशैली अप्रतिम है। इनका परिचय किसी भी कृति में प्राप्त नहीं होता है, पर कुछ ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं, जिनसे इनके व्यक्तित्व का निश्चय किया जा सकता है।

आध्यात्मिक विद्वानों में कुन्दकुन्द के पश्चात् यदि आदरपूर्वक किसी का नाम लिया जा सकता है तो वे अमृतचन्द्रसूरि ही हैं। इन्होंने टीकाओं के अन्त में जो संक्षिप्त परिचय दिया है उससे अवगत होता है कि ये बड़े निस्पृह आध्यात्मिक आचार्य थे। आपने ग्रन्थ के अंत में लिखा है –

वर्णैः कृतानि चित्रैः पादानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ।।

(पुरुषार्थसिद्धिउपाय गाथा – २२६)

अर्थात् नाना प्रकार के वर्णों से पद बन गये, पदों से वाक्य बन गये और वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बन गया इसमें मेरा कर्तृत्व कुछ भी नहीं है। इसमें अमृतचन्द्रसूरि की कितनी निस्पृहता और आध्यात्मिकता झलक रही है। अतः वे अपने को आत्मभावों का ही कर्ता मानते हैं, पर वस्तु का नहीं इससे उनकी आध्यात्मिकता तो सिद्ध होती ही है, साथ ही वे आचार्य या मुनि पद से विभूषित भी व्यक्त होते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि दसवीं शताब्दी के अंतिम समय में हुए थे। अमृतचन्द्रसूरि की निम्नलिखित रचनायें मानी जाती हैं। इनकी रचनाओं को दो कोटि में रखा जा सकता है – मौलिक और टीकाग्रन्थ।

मौलिक रचनायें – १. पुरुषार्थसिद्धिउपाय, २. तत्त्वार्थसार, ३. समयसार कलश ।

टीका ग्रन्थ – ४. समयसार टीका, ५. प्रवचनसार टीका, ६. पंचास्तिकाय टीका ।

भूमिका :
अध्यात्म अमृत कलश –

अध्यात्म ग्रन्थों में श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के ग्रन्थ सर्वोपरि माने जाते हैं। समयसार इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें एकत्व-विभक्त अर्थात् पर से सर्वथा भिन्न, अपने निज के गुण पर्याय समवेत-एकत्व को प्राप्त सुविशुद्ध आत्मा की कथा वर्णित है। आचार्य ने इसको स्व समय कहा है। आत्मा के परम शुद्ध स्वरूप को केन्द्र बनाकर ही सम्पूर्ण वर्णन ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है।

आचार्य कुन्दकुन्द के श्री समयसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, अष्टपाहुड़ आदि सभी ग्रन्थ इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। समयसार ग्रन्थ पर आचार्य अमृतचन्द्र जी ने संस्कृत भाषा में प्रौढ़ रचना की है तथा टीका के फलितार्थ स्वरूप अनेक छन्दों में उसका नवनीत निकालकर हम सभी भव्यात्माओं को अध्यात्म का सार प्रदान किया है। इन छन्दों की प्रसिद्धि अमृत कलशों के रूप में अध्यात्म के अध्येताओं में है। प्रकारान्तर से कहा जाए तो अमृतचन्द्राचार्य की टीका यदि अध्यात्म रस का सागर है तो छन्द उस रसामृत के कलश (घट) हैं।

एक जैनेतर कथा के अनुसार सुर-असुरों ने मेरू पर्वत को मथानी बनाकर शेषनाग की रस्सी बनाकर समुद्र के मंथन से १४ रत्न उपलब्ध किये थे, जिनमें अमृत भी एक था, पर आचार्य अमृतचन्द्र ने स्याद्वाद नयों के द्वारा संचालित प्रमाण ज्ञान से श्रुतसागर का मन्थन कर जो अध्यात्म रूपी अमृत प्राप्त किया है, उसे टीका के साथ निबद्ध छन्दों में भर दिया है। इसी से इसका 'अध्यात्म अमृत कलश' नाम सार्थक है।

इस 'अध्यात्म अमृत कलश' में २७८ छन्द हैं। इसमें अनुष्टप, मालिनी, शालिनी, शार्दूल-विक्रीड़ित, उपजाति, वसन्ततिलका, पृथ्वी, आर्या, स्वागता, मदाक्रान्ता, स्रग्धरा, उपेन्द्रवज्रा, रथोद्धता, इन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, नर्दटक, वंशस्थ, वियोगिनी आदि वृत्तों का उपयोग आचार्य श्री ने किया है। इन कलशों के छन्दों में न्याय-व्याकरण-साहित्य की अनुपम विद्वत्ता की छटा यत्र-तत्र-सर्वत्र दिखाई देती है।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाएँ कितनी प्रौढ़ रसवान, सुसंबद्ध अपने विषय का अत्यंत स्पष्ट प्रतिपादन करने वाली हैं, उनके सम्बंध में एक जैनेतर विद्वान ने अपने उद्गार एक विद्वत् गोष्ठी में सम्मानपूर्वक प्रकट किये थे। उनसे पूछा गया कि आप भारत के माने हुए संस्कृत के दिग्गज विद्वान हैं, सभी संस्कृत साहित्य आपकी दृष्टिपथ में आया ही होगा, आपको संस्कृत की सर्वश्रेष्ठ कृति कौन सी लगी ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था –

'कालिदास और माघ की कृतियाँ यद्यपि सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं, तथापि जैन साहित्यकारों में एक अमृतचन्द्रसूरि हुए हैं, जिन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार पर संस्कृत टीका बनाई है। वास्तव में यह टीका नहीं है अपितु समयसार पर महाभाष्य है। इसकी उच्चकोटि की भाषा की छटा हृदयग्राही है तथा विद्वत्तापूर्ण है। मैं संस्कृत साहित्य की रचनाओं में इसे सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ। यह केवल भाष्यकला के ही कारण नहीं, बल्कि इसलिये भी कि संसार मार्ग से दूर करने वाले अध्यात्म को इन्होंने अपनी रचना में साहित्य के नवरसों युक्त नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। यह कार्य कितना जटिल है, इसका विचार जब करता हूँ तो मैं

उनकी इस कृति को आश्चर्यकारी मानता हूँ जो संस्कृत साहित्य में अपूर्व है और अद्वितीय है।'

ग्रन्थ का विषय विभाजन -

मूल ग्रन्थ समयसार के समान ही कलशों का विषय विभाजन आचार्य श्री अमृतचन्द्र जी ने बारह अधिकारों में किया है, जो निम्न प्रकार हैं -

१. जीवाधिकार (पूर्वरंग), २. अजीवाधिकार (उत्तररंग), ३. कर्ता-कर्म अधिकार, ४. पुण्य-पाप अधिकार, ५. आस्रव अधिकार, ६. संवर अधिकार, ७. निर्जरा अधिकार, ८. बंध अधिकार, ९. मोक्ष अधिकार, १०. सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार, ११. स्याद्वाद अधिकार, १२. साध्य-साधक अधिकार।

कर्ता-कर्म अधिकार की विषय वस्तु -

कर्ता-कर्म अधिकार में जीव को स्वभावत: अकार्य कारणरूप रहने से अकर्ता माना है। कर्म निमित्त जन्य औपाधिक भावों का कर्ता केवल अज्ञानी जीव ही होता है किन्तु अपनी ज्ञान मात्र भूमिका को प्राप्त करने वाला ज्ञानी जीव उसका कर्ता नहीं होता। यद्यपि आगम के अनुसार प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्ता स्वयं होता है, और वह पर्याय ही उसका कर्म है, इस आधार पर रागादि भावों का कर्ता और उसके फल का भोक्ता संसारी जीव ही है, तथापि अपने अनाद्यनंत कर्म निरपेक्ष सहज पारिणामिक भाव का स्वामी, अखण्ड अविचल आत्मा को संसारी दशा में भी द्रव्य दृष्टि से अवलोकन करने पर वह मात्र अपने ज्ञान स्वभाव का ही स्वामी ठहरता है, रागादिक के कर्तृत्व, भोक्तृत्व का उसमें स्थान नहीं है।

जो जीव अपने ज्ञान मात्र स्वभाव की भूमिका को अकंप रूप से स्वीकार करता है वह कर्म बंध रहित होता है और पुरातन कर्म यथासमय उसे स्वयमेव छोड़ देते हैं। लोक में प्रचलित पर द्रव्य के कर्ता और कर्मपने की चर्चा का यहाँ कोई मूल्य नहीं है क्योंकि यथार्थ में पर द्रव्य के साथ कर्तृ-कर्मपना भी नहीं है। वह मात्र लौकिक कथन है, जो पूर्णत: उपचरित है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध के कारण इस तरह का उपचरित कथन शास्त्रों में किया गया है। यथार्थ कर्तृत्व द्रव्य के स्वपर्यायों का ही है और पर्याय ही कर्म है।

कर्ता-कर्म अधिकार : सिद्धांत पक्ष -

कर्ता-कर्म अधिकार से सम्बंधित सिद्धांत पक्ष उपस्थित करते हुए आचार्य कहते हैं - व्यवहार से निमित्त मात्र होने के कारण जीवभाव का कर्म कर्ता है और कर्म का भी जीवभाव कर्ता है किन्तु निश्चय से न जीवभावों का कर्म कर्ता है और न कर्म का कर्ता जीवभाव है किन्तु वे कर्ता के बिना भी नहीं होते, अत: निश्चय से जीव के भावों का कर्ता जीव है और कर्मभाव का कर्ता कर्म है। इस तरह निश्चय से जीव अपने भावों का कर्ता और पुद्गल कर्मों का अकर्ता है, यह जिन सिद्धांत है।

समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार में इसी का विवेचन है, और मोक्ष मार्ग की दृष्टि से उसका विशेष महत्व है। जब जीव और अजीव स्वतंत्र द्रव्य हैं तब उनका सम्बंध और बंध पर्याय कैसे होती है, और वह कैसे मिटती है यह मुख्य प्रश्न है। इसका उत्तर इस अधिकार में है।

जीव के परिणाम का निमित्त पाकर पुद्गल कर्म वर्गणाएँ कर्म रूप में परिणमन करती हैं और पुद्गल कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव के परिणाम होते हैं। यह सिद्धांत सर्वमान्य है, फिर भी जीव और पुद्गल में परस्पर में कर्ता-कर्म भाव नहीं है क्योंकि न तो जीव कर्म के गुणों को करता है और न ही कर्म जीव के गुणों

को करता है। उन दोनों में निमित्त–नैमित्तिकपना होने से परिणाम होता है। दोनों में निमित्त–नैमित्तिक भाव मात्र का निषेध नहीं है क्योंकि परस्पर में निमित्त मात्र होने से भी दोनों का परिणमन होता है। इस निमित्त–नैमित्तिक सम्बंध के कारण व्यवहार नय से जीव, पुद्‌गल कर्म का कर्ता भोक्ता और पुद्‌गल, जीव भाव का कर्ता कहा जाता है। परमार्थ से जीव न तो पुद्‌गल कर्म को करता है और न ही पुद्‌गल कर्म को भोगता है। यदि जीव पुद्‌गल कर्म को भी करे और भोगे तो वह दो द्रव्यों की क्रिया का कर्ता बन जायेगा, क्योंकि उसने अपने परिणाम को भी किया व भोगा और पुद्‌गल कर्म को भी किया और भोगा। जबकि एक द्रव्य दो द्रव्यों की क्रिया का कर्ता नहीं होता, जो ऐसा नहीं मानता वह सम्यक्‌दृष्टि नहीं हो सकता।

कर्ता-कर्म अधिकार

जीव रागादि का कर्ता है, और रागादिक उसके कर्म हैं। ऐसी मान्यता यथार्थ नहीं है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकरण में आचार्य करते हैं –

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम् ।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं-
साक्षात् कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ।। ४६ ।।

अन्वयार्थ – **(अहं चित् एकः कर्ता)** चैतन्य स्वरूप मैं कर्ता हूँ और **(अमी कोपादयः मे कर्म)** ये क्रोधादि मेरे कर्म हैं **(इति अज्ञानाम्)** इस प्रकार कथन करने या समझने वाले अज्ञानी प्राणियों की **(कर्तृ-कर्म-प्रवृत्तिम्)** पर के कर्ता–कर्म की प्रवृत्ति को, जो भ्रान्तिवश अनादि से है **(अभितः शमयत्)** सर्व प्रकार से शमन करके अर्थात् दूर करके **(ज्ञान ज्योतिः)** भेदविज्ञान की प्रकाशमान ज्योति जो कि **(निरुपधि)** उपाधि से रहित है **(पृथक् द्रव्यनिर्भासि)** सभी द्रव्यों के स्वरूप का पृथक्–पृथक् ज्ञान कराने वाली है **(परमोदात्तं)** सर्वोत्कृष्ट तथा **(अत्यन्तधीरं)** सर्वथा अचल तथा **(विश्वं)** सम्पूर्ण विश्व को **(व्याप्य)** व्याप्त करती हुई **(साक्षात् कुर्वन्)** उसे प्रत्यक्षीभूत करती हुई **(स्फुरति)** प्रकाशमान होती है।

भावार्थ – जीव अनादिकालीन अपनी भूल के कारण संयोग दशा को प्राप्त कर्म नोकर्म का तथा अपने पंचेन्द्रियों के राग को पुष्ट करने में निमित्तभूत अन्य पदार्थों का (अपने को) कर्ता मानकर उन्हें संग्रह करने, उनको अपने अनुकूल परिणमने का व्यर्थ प्रयास करता है, चूँकि वस्तु स्थिति इसके विपरीत है, अतः उस प्रयत्न में जब सफल नहीं होता तो बेचैन होता है, संक्लेश परिणाम करता है और स्वयं अपनी इसी भूल के कारण दुखी होता है।

अज्ञानीजनों को इस कर्ता–कर्म की भूल को सब प्रकार से प्रशान्त करती हुई ज्ञान ज्योति जो कि परम उदात्त है, अत्यंत धीर है, कर्मोपाधि रहित है, सम्पूर्ण द्रव्यों को उनके समस्त गुण पर्यायों सहित जुदा–जुदा जानने में समर्थ है और सम्पूर्ण जगत को प्रत्यक्ष करने वाली है, वह प्रकट होती है।

इस प्रकार की ज्ञान ज्योति तब प्रकट होती है जब जीव पर के कर्तृत्व की भूल दूर करता है। चैतन्य स्वरूप आत्मा जब तक अपने स्वरूप को भूलकर कर्मोपाधि निमित्त के अवलंबन से अपने को रागादि या क्रोधादि रूप बनाता है तब उपयोग में ज्ञान भाव से भिन्न और क्रोधादि भावों से अभिन्न होता है। क्रोधादि भाव स्वयं अज्ञान भाव हैं, अतः अज्ञानी अपनी विकारी दशा में कर्म बंध करता है।

यद्यपि आत्मा स्वयं चैतन्यमय है, क्रोधादिमय नहीं है, तथापि अज्ञान भाव में आने पर अपने स्वरूप ज्ञान से भ्रष्ट है। वह अपने स्वभाव से भिन्न तथा परोपाधि निमित्त जन्य विकारी भावों से अपने को अभिन्न मानकर क्रोधादि रागादि रूप विकारों को निर्भय होकर अपनाए हुए वर्तन करता है।

इस समय उसने अपनी ज्ञान परिणति रूप सहज वीतरागता को भुलाकर रागादिरूप परिणमन किया और उसी में अपने को सुखी माना। उसकी इस मान्यता के कारण ही वह रागादि का कर्ता अज्ञान दशा में हुआ। यदि दोनों का अर्थात् अपने स्वभाव और विभाव का अन्तर समझ लेवे और स्वभावानुरूप अपना वर्तन करे तो वह अज्ञान की भूमिका से उठकर ज्ञानी बनता है।

गुणस्थान क्रम से जैसे-जैसे वह रागादि भाव का कर्तृत्व छोड़ता जाता है वैसे-वैसे ही ज्ञानी बनता जाता है। जब परका कर्तृत्व सर्वथा छूट जाता है तब 'पूर्ण ज्ञानी' बनता है। उस ज्ञान ज्योति में वह सामर्थ्य प्रकट हो जाती है कि वह सम्पूर्ण विश्व को तद्गत सम्पूर्ण द्रव्यों को उन द्रव्यों के अनन्तानन्त गुणों को तथा उनकी भूत भविष्यत् और वर्तमान की त्रिकाल गोचर समस्त पर्यायों को एक साथ स्पष्ट पृथक्-पृथक् जान सके। भेद विज्ञान की ऐसी सामर्थ्य है।

प्रश्न - आगम ज्ञान के आधार पर सभी विद्वज्जन जो आगम के अभ्यासी हैं, जानते हैं कि क्रोधादि रागादि भाव भिन्न हैं और चैतन्य भाव मेरा निजस्वरूप है। तो क्या इस आगम ज्ञान से कर्म बंध रुकता है ? आगम में तो ज्ञान मात्र से मुक्ति नहीं मानी किन्तु इसके बाद चारित्र की भी एकता हो तो उसे मुक्ति का मार्ग माना है, पर यहाँ आचार्य ज्ञान मात्र से मुक्ति की बात कैसे लिखते हैं ?

समाधान - ऐसा नहीं है। जिन्हें आगम का ज्ञान है वे ज्ञानी नहीं हैं, वे मात्र आगम ज्ञानी हैं। उन्हें ऐसा मालूम है कि आगम में अमुक-अमुक आचार्यों ने क्या-क्या लिखा है। वे आचार्यों के मन्तव्य के ज्ञानी हैं। स्वयं के मन्तव्य को ज्ञानरूप नहीं बना सके। अत: जब तक वे रागादि भाव से भिन्न हो अपने को ज्ञानमय नहीं बना सके तब तक वे रागी हैं, ज्ञानी नहीं हैं।

जैसे किसी करोड़पति की दुकान का मुनीम स्वयं लाखों रूपयों की आमदनी करता है, उठाता रखता है। 'मेरी दुकान है' ऐसा कहता है। 'मुझे लाखों की आय है' ऐसा कहता है। टोटा होने पर दु:ख भी प्रकट करता है तथापि वह उस द्रव्य के प्रति निज के स्वामित्व के अभाव को खूब जानता है, अत: तत् तत् विषय में भेद विज्ञानी होने से तत् तत् विषय में सुखी-दुखी नहीं होता। मैं सुखी-दुखी हूँ ऐसा व्यवहार मात्र करता है, परमार्थ में वह सुखी-दुखी नहीं होता।

स्वामी लाभ में रहे ऐसी उसकी इच्छा है, वे हानि न उठावें यह भी वह चाहता है, परन्तु यह केवल इसलिये की स्वामी के लाभ में उसकी वेतन वृद्धि है और हानि से उसकी नौकरी भी छूट सकती है। केवल अपने वेतन के लाभालाभ का जो रागादि भाव है, उतने अंश में वह चिन्तावान् है, सुखी-दुखी है, पर सम्पूर्ण द्रव्य के लाभालाभ में वह स्वामी की तरह सुखी-दुखी नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष वह है जो ज्ञान भाव का स्वामी हो ज्ञान भाव रूप आचरण करता है। रागादि रूप आचरण करता हो वह रागी है, अज्ञानी है।

जिस काल में जो वस्तु जिस पर्याय रूप परिणमन करती है उस काल में उस पर्याय से तन्मय होती है। ऐसा सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार राग परिणत आगम ज्ञानी भी रागी ही है। अत: अज्ञानी ही है, ज्ञानी नहीं । तब वह कर्म बंध से कैसे छूटेगा ?

जो अपने स्वभाव में अपने को स्थिर रख सके उसे ही निश्चय से चारित्रवान कहते हैं। आचार्यों ने ऐसी ही चारित्र की व्याख्या की है। व्रत, समिति, गुप्ति आदि बाह्यव्रत उस चारित्र के लिए यदि साधनभूत हैं तो उन्हें व्यवहार चारित्र की संज्ञा है। वह यथार्थ चारित्र नहीं है। चारित्र का साधन होने से चारित्र संज्ञा व्यवहार में पाता है। अत: सिद्ध है कि आगम ज्ञानी मात्र होने से कोई ज्ञानी नहीं होता तथा जो यथार्थ में ज्ञानी बन जाता है वह ज्ञानमय होने से स्वयं यथार्थ चारित्र रूप परिणत है। अत: ज्ञानी के कर्म बंध नहीं होता यह यथार्थ है। यह भावकर्म के कर्तृत्व का निराकरण किया।

ज्ञानी कौन है और ज्ञान की क्या महिमा है इसे नीचे लिखे कलश में बहुत स्पष्टतया आचार्य कहते हैं–

परपरणतिमुज्झत् खण्डयत् भेदवादान्
इदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चाण्डमुच्चैः ।
ननु कथमवकाशः कर्तृ-कर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्म-बन्धः ।। ४७ ।।

अन्वयार्थ – **(परपरणतिम् उज्झत्)** पर द्रव्य के संयोगजन्य विकारी परिणति को त्यागकर **(भेदवादान् खण्डयत्)** विविध विकल्पों को दूर कर **(इदम्)** यह **(अखण्डम्)** अभेद रूप **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(उच्चैः उच्चण्डम्)** अत्यन्त प्रकाशमान बेरोकटोक रूप से **(उदितम्)** प्रकट हुआ है। ऐसी स्थिति में **(ननु)** निश्चय से **(कर्तृकर्मप्रवृत्तेः)** पर के कर्ता और कर्मपने की प्रवृत्ति के लिए **(कथमवकाशः स्यात्)** कहाँ स्थान है तथा **(इह)** इस ज्ञान अवस्था में **(पौद्गलः कर्मबन्धो वा)** पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों का बंधन भी **(कथं भवति)** कैसे होता है।

भावार्थ – ज्ञान जब इस अवस्था को प्राप्त होकर जीव में उदित होता है तब जीव शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा रागादि भावकर्म के साथ अपनी अनादिकालीन मोहजन्य एकत्व परिणति को छोड़ देता है। इतना ही नहीं, द्रव्यगुण–पर्यायादिरूप भेद विकल्प से भी रहित हो जाता है तथा अत्यंत उज्ज्वल प्रकाशमय अभेद आत्मा का बोध करता है। ऐसे स्वात्मानुभव शील आत्मा में रागादि भाव उदित नहीं होते। फलत: वह रागादि परभावों का कर्ता नहीं होने से कर्तृकर्मभाव की जो अनादिकालीन प्रवृत्ति थी, उससे स्वयं रहित हो जाता है।

यदि रागादि करता तो रागादिमय होता इस कर्म निमित्तजन्य अशुद्ध परिणति का कर्ता कहा जाता, पर ज्ञानी तो ज्ञानभाव परिणत है। अत: ज्ञानभाव का कर्ता है, रागादि पर भावों का नहीं। अपने अभेद रूप अखण्ड चैतन्यानंद स्वरूप आत्मा का अनुभव करता है। अत: आत्म द्रव्य भी गुण–भेद पर्याय या अन्य सोपादिजन्य भेद–भावों के विकल्पों से रहित निर्विकल्प रूप है। जिसे यह अवस्था प्राप्त है, उसमें स्वकर्तृत्व ही है। परकर्तृत्व का अभाव है। अत: वह न पर का कर्ता है, न पर उसका कर्म है। न पर उसका कर्ता है, न वह पर का कर्म है। वह तो अपने चैतन्य भाव का ही कर्ता है और उसी का भोक्ता है। कर्तृत्व–भोक्तृत्व प्रत्येक द्रव्य का अपनी निज परिणति के साथ ही है। कर्तृत्व की तरह भोक्तृत्व भी अन्य के साथ नहीं है। जब आत्मा निजात्मा की मर्यादा में है, पर को ग्रहण ही नहीं करता तब पर के साथ सामान्य सम्बंध ही नहीं है। ऐसी अवस्था में पुद्गल कर्म का उसे बंधन हो, भला इसका अवसर ही कहाँ प्राप्त है ? अर्थात् वह निर्बन्ध ही है।

इस कलश में द्रव्य कर्म के कर्तृत्व का खण्डन किया।

प्रश्न – ज्ञान की इस अवस्था को प्राप्त करने का क्या मार्ग है ? सहज में तो जीव की प्रवृत्ति रागादि क्रोधादिक रूप पाई जाती है। उससे वह कैसे दूर हो ? यह संसार अवस्था या दु:ख अवस्था कैसे मिटे ? उपाय बताइये।

समाधान – आत्म कल्याणार्थी को आगम के आलम्बन से यह तत्त्वज्ञान पहले प्राप्त करना चाहिये कि "आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है। शरीर जड़ है, अचेतन है, जबकि आत्मा चैतन्य द्रव्य है। आत्मा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द रूप नहीं है, इसीलिये पाँचों इन्द्रियों के (जिनके विषय उक्त पाँचों है।) अगोचर हैं किन्तु पुद्गल शरीर ही वर्ण, रसादिमान है, इस शरीर का अंत में प्रत्येक प्राणी को नियम से वियोग होता है किन्तु आत्मा पुन: जन्मांतर ग्रहण करती है। अनादि से ही इस आत्मा की यही स्थिति रही है। नव-नव शरीर धारण करना और छोड़ना यही संसार है। इस जन्म-मृत्यु से आकिर्ण जगत का छुटकारा ही मोक्ष है। जब तक पंचन्द्रियों के विषयों तथा क्रोधादि कषायों के वशीभूत हो रागद्वेष की प्रवृत्ति है तब तक संसार बढ़ता है, कर्म बंधन में जीव पड़ता है। यदि यह अपने ज्ञानानंद स्वरूप की पहचान कर ले और यह विचार करे कि" मैं एक अखण्ड गुण का भंडार जीव द्रव्य हूँ, मैं रागादि विकार रहित शुद्ध स्वरूप वाला हूँ, अन्य वस्तुओं से मेरा कोई नाता नहीं है, मेरी निधि तो मेरे ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं। ऐसा विचार कर अपनी मर्यादा में ही रहे, उसी में अपना उपयोग स्थिर करे तो अवश्य ही पर के सम्पर्क से (जो अनादि से है) दूर होकर अपनी दु:ख रूप संसार अवस्था मिटाकर शाश्वत सुखमयी निर्वाण की भूमिका पर पहुँच जाता है। यही एक मात्र उपाय अपनी दुरावस्था मिटाने का है, अन्य नहीं।

जैसे अपनी ज्ञानमय अवस्था को प्राप्त करने के लिये जीव का अनेक प्रकार से अपने स्वरूप का तात्त्विक चिंतन आवश्यक है, उसी प्रकार अपने भीतर पाये जाने वाले विकारी भावों को दूर करने के लिये उनका भी तात्त्विक चिंतन आवश्यक है। उनके सम्बंध में भी यह विचार करना चाहिये कि "मेरे भीतर यह रागादि क्रोधादि भाव हैं सो ये मेरे निज स्वभाव नहीं है।" ये तो पूर्व कर्म के उदय विपाक जन्य हैं। जो अन्य के निमित्त से उत्पन्न भाव हैं, वे मेरे स्वाभाविक नहीं, किन्तु अस्वाभाविक भाव हैं। जो अस्वाभाविक भाव हैं वे अस्वास्थ्यकर हैं, बीमारी हैं। इस बीमारी को दूर करना होगा। ये भाव अपवित्र हैं, आत्मा को मलिन करते हैं, अस्थायी भाव हैं क्योंकि बनते मिटते रहते हैं और दु:ख की परम्परा को चलाते हैं। इनसे ही संसार हैं।

इस प्रकार रागादि परभावों की अवस्था का तत्त्वबोध हो तो उनसे विरक्तता होती है। इनसे विरक्त हुए बिना तथा आत्म स्वभाव की रुचि के बिना आत्मानुभव नहीं होता। आत्मानुभव के बिना सुख का मार्ग नहीं मिलता। संसारी जीव मिथ्यादृष्टि रहकर मिथ्याज्ञानी और आचार भ्रष्ट हो संसार परिभ्रमण ही करता है। अत: कल्याणार्थी को पर से विरक्तता प्राप्त करना भी स्वहित के लिये आवश्यक है।

इस प्रकार भावकर्म के तथा द्रव्य कर्म के कर्तापने से रहित आत्मा ही ज्ञानी बनता है ऐसा अग्रिम कलश में लिखते हैं-

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम् ।

अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ।। ४८ ।।

अन्वयार्थ – **(इति-एवं)** पूर्वोक्त प्रकार से **(परद्रव्यात् परां निवृत्तिं विरचय्य)** रागादि पर द्रव्य से अत्यन्त निवृत्ति को प्राप्त हुआ तथा **(विज्ञानघनस्वभावम् स्वम्)** ज्ञान से घनीभूत अपने निज स्वभाव को **(सम्प्रति)** अब **(अभयात्)** निर्भय होकर **(परम् आस्तिघ्नुवानः)** उत्तम रीति से स्वीकार करने वाला तथा **(अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात्)** अभी तक अपने अज्ञान के कारण पर के अर्थात् कर्म-नोकर्म तथा भाव कर्म के साथ जो कर्ता-कर्म का भाव था उस **(क्लेशात्)** दु:ख से **(स्वयं निवृतः)** स्वयं छूटा हुआ **(जगतः साक्षी पुराणः पुमान्)** सर्व विश्व को साक्षात् करने वाला, जानने वाला यह पुराण पुरुष अनादि निधन आत्मा **(इतः ज्ञानीभूत चकास्ति)** अब ज्ञान का पुंज है ऐसा प्रतीयमान होता है।

भावार्थ – भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि ने जब जीव की पवित्रता, जो अनादि काल से द्रव्य स्वभावगत है उसे जान लिया, आस्रव भाव जो रागादि क्रोधादि परिणाम, उनकी अपवित्रता अस्थिरता तथा अपने स्वभाव से विपरीतता का बोध कर लिया, तथा तदन्नतर पर स्वरूप रागादि भावों, तथा तन्निमित्तभूत रागादि कर्मों, और तदाश्रयभूत संसार के समस्त साधनों को, अपने से सर्वथा भिन्न कर निज स्वभाव में प्रवेश किया, तब वह उत्कृष्ट वीतरागी सम्यग्दृष्टि बना। पूर्व में वह अपने अज्ञान के कारण विकारी भावों का कर्ता था उनसे कर्तृ कर्म सम्बंध टूट गया। अब उस महान दु:ख से निवृत होकर जगत का केवल साक्षी रह गया और इस प्रकार अपने स्वरूप में शोभित होने लगा, वस्तुत: आत्मा राग द्वेषादि अंतरंग विकारों का तथा शरीराश्रित, गौर-कृष्णादि तथा सुन्दर-असुन्दर रूप शरीर के परिणामों का कर्ता नहीं है क्योंकि वे परद्रव्याश्रित हैं। निज स्वभावाश्रित नहीं हैं।

जिसकी जिसके साथ व्याप्य व्यापकता होती है, उन दोनों में ही कर्तृ कर्म भाव होता है। अन्य में नहीं रागादि की उत्पत्ति कर्मोदय के साथ व्याप्यव्यापक भाव रखती है। आत्मा के साथ नहीं। इसी प्रकार काला-गोरापना, सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि, नोकर्म शरीर के साथ व्याप्य व्यापक भाव रखते हैं, क्योंकि शरीर वर्णादि विकार भावों से तन्मय हैं, आत्मा उनसे सर्वथा पृथक् है। पुद्गल द्रव्य जीव की निज वस्तु नहीं है, उसके साथ जीव का केवल ज्ञेय-ज्ञायक सम्बंध मात्र है। चैतन्य स्वरूप यह आत्मा जगत का साक्षी मात्र है, उसे जानना उसका स्वभाव है तथा जगत का स्वभाव ज्ञान का ज्ञेय रूप होता है। इसी के अंतर्गत पुद्गल द्रव्य भी उसका ज्ञेय है।

इससे अधिक कोई सम्बंध पुद्गल के साथ जीव का नहीं है। इसी बात को निम्न पद्य से आचार्य स्पष्ट करते हैं –

व्याप्य-व्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि,
व्याप्य-व्यापक भाव संभवमृते का कर्तृ-कर्मस्थितिः ।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिन्दँस्तमो,
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ।। ४९ ।।

अन्वयार्थ – **(तदात्मनि एव)** तत् स्वरूप पदार्थों में ही **(व्याप्य-व्यापकता भवेत्)** व्याप्यव्यापक भाव होता है **(अतदात्मनि अपि नैव)** किन्तु जो अतदात्मक हैं उनमें नहीं होता। जब अतदात्मक में

(व्याप्य-व्यापकभाव संभवमृते) व्याप्य-व्यापक भाव की संभावना ही नहीं है तब **(का कर्तृ-कर्म-स्थितिः)** उनमें कर्ता-कर्म भाव की स्थिति कैसे हो सकती है **(इति)** ऐसी स्थिति में **(उद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण)** उत्कृष्ट जो विवेक उसका जो सर्वग्रासी तेज उसके भार से **(तमः भिन्दन्)** अज्ञानांधकार को भेदता हुआ **(ज्ञानीभूय)** स्वयं अपने को ज्ञानपुंज बनाकर **(स एवं पुमान्)** यह आत्मा **(तदा कर्तृत्वशून्यः)** पर के कर्तृत्व से रहित **(लसितः)** स्वयं शोभायमान होता है।

भावार्थ - गुण-गुणी में, द्रव्य पर्याय में, सामान्य-विशेष में व्याप्य व्यापकता है। ये तीनों भाव एक सत्तात्मक पदार्थ में ही संभाव्य हैं। भिन्न सत्तात्मक में ये तीनों भाव नहीं पाये जाते। कोई भी द्रव्य अपने सम्पूर्ण पर्यायों में बराबर रहता है। अत: द्रव्य को 'व्यापक' और उसकी पर्यायों को, 'व्याप्य' कहते हैं। यह 'व्याप्य-व्यापक भाव' एक द्रव्य और उसकी तत्स्वरूप पर्यायों में पाया जाता है। पर जो भिन्न द्रव्य है उसका उन पर्यायों में तत्पना नहीं है, अतत्पना है, अत: उस द्रव्य के साथ उन पर्यायों के साथ व्याप्य-व्यापकपना नहीं पाया जाता। तब उनमें कर्तृ-कर्मपना भी कैसे संभावनीय हो सकता है ? कभी नहीं।

इस सिद्धांत के अनुसार जो जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य, दो भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। उनमें परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बंध तो पाया जा सकता है परन्तु कर्तृ-कर्मभाव नहीं पाया जा सकता। कारण यह है कि -

प्रत्येक द्रव्य अपने पर्याय का उत्पादक है और यह उत्पत्ति उस द्रव्य से तन्मय होती है। अतएव अपनी पर्यायों से वह तन्मय है, उन पर्यायों में वह सदा व्यापक रहता है। पर्यायें बदलती हैं परन्तु द्रव्य उसमें वही रहता है, वह नहीं बदलता, अर्थात् अन्य-अन्य रूप में जैसे पर्यायें बदल जाती हैं, वैसे अन्य-अन्य पर्यायों में द्रव्य भी अन्य द्रव्य रूप नहीं हो जाता। अत: उन एक द्रव्यात्मक पर्यायों के साथ द्रव्य का व्याप्य व्यापक भाव तथा कर्तृ-कर्मभाव सुनिश्चित है। इसीलिये जीव भी अपने ज्ञानादि पर्यायों से तन्मय है। अत: ज्ञान पर्यायों का कर्ता है।

यद्यपि रागादि पर्यायों के साथ भी वह तन्मय दिखाई देता है तथापि वे पर्यायें कर्मोदय सापेक्ष पर्यायें हैं। उनका व्याप्य व्यापकपना कर्मोदय जो पुद्गल स्वरूप है, उससे है। अर्थात् जब-जब जहाँ-जहाँ कर्मोदय होगा तब-तब तहाँ-तहाँ रागादि विकार होगा। यदि कर्मोदय न होगा तो रागादि आत्मा में न होगें। अत: सिद्ध हुआ कि रागादि पर्यायें पुद्गल कर्म के साथ व्याप्य व्यापक भाव रखती हैं। जब आत्मा पर के साथ एकत्वपने की भूल करता है तब रागादि होते हैं। अत: यदि उनके साथ व्याप्य व्यापक भाव या कर्तृ कर्मभाव है तो अपने स्वरूप को भूले हुए अज्ञानी के साथ हैं। ज्ञानी आत्मा के साथ नहीं। अज्ञान भाव तो आत्मा का स्वभाव नहीं, अत: स्वात्मानुभव करने वाला कर्मोदय की स्थिति में भी विकार रूप परिणत नहीं होता। ऐसी स्थिति में वह जब रागादि भाव का कर्ता नहीं होता तो द्रव्य कर्म का कर्ता कैसे होगा ? द्रव्य कर्म का कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं होता केवल 'मैं पर का कर्ता हूँ' ऐसी मिथ्या मान्यता के कारण वह अपने को पर का कर्ता कहता है, यही उसका अज्ञान है और इस अज्ञान भाव का कर्ता अज्ञानी जीव है।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी रागादिका कर्ता नहीं है -

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात् ।

अज्ञानात्कर्तृ-कर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ।। ५० ।।

अन्वयार्थ - **(ज्ञानी)** भेदविज्ञानी सम्यक्दृष्टि जीव **(इमां स्वपरपरणतिम्)** इस स्वात्मा और पर-पुद्गल द्रव्य की परणति याने पर्याय परिणमन को **(जानन् अपि)** पृथक्-पृथक् रूप से जानता हुआ भी तथा **(पुद्गलः)** पुद्गल द्रव्य **(अजानन् अपि)** स्वपर परिणति को नहीं जानता हुआ भी, दोनों द्रव्य **(अन्तः व्यापृ-व्याप्यत्वम्)** परस्पर में अन्तर्व्याप्य-व्यापक भाव को **(कलयितुम् असहौ)** स्वीकार करने में असमर्थ हैं **(नित्यम् अत्यन्तभेदात्)** क्योंकि दोनों द्रव्यों में परस्पर सदा अत्यंत भेद है। संसारी अज्ञानी प्राणी को **(अज्ञानात्)** इस भेदज्ञान के अभाव के कारण **(अनयोः)** इन दोनों द्रव्यों में **(कर्तृ-कर्मभ्रममतिः)** कर्ता-कर्मभाव की भ्रम बुद्धि **(तावत् भाति)** तब तक ही प्रतीत होती है **(यावत्)** जब तक **(विज्ञानार्चिः)** सम्यग्ज्ञान की ज्योति **(क्रकचवत्)** करौंत की तरह **(सद्यः)** शीघ्र ही **(अदयं)** दया रहित होकर **(भेदम् उत्पाद्य)** दोनों को अलग-अलग करके **(न चकास्ति)** प्रकट नहीं होती।

भावार्थ - ज्ञानी पुरुष यह जानता है कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य दोनों द्रव्यों में यही सबसे बड़ा अन्तर है कि जीव अपनी परिणति को जानता है, पुद्गल की परिणति को जानता है, पुद्गल कर्म के उदयजन्य अवस्था को जानता है, किन्तु पुद्गलद्रव्य न तो अपनी परिणति को जानता है, न अपने परिणाम के फल को जानता है और न जीव और उसकी परणति को जानता है क्योंकि वह जड़द्रव्य है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध लक्षण धारण करने वाले जीव-अजीव दोनों द्रव्यों में, उनके गुणों में तथा दोनों की पर्यायों में परस्पर अत्यंत भेद है। इसलिये उनमें एक दूसरे की पर्यायों से तादात्म्य सम्बंध स्थापित नहीं हो सकता।

प्रत्येक द्रव्य का अपनी पर्यायों से ही तादात्म्य स्थापित है। अन्य द्रव्य की पर्याय के साथ कदाचित् भी तादात्म्य सम्बंध नहीं होता। तब जीवद्रव्य का पुद्गल की पर्याय से तथा पुद्गल द्रव्य का जीव की पर्याय से तादात्म्य कैसे हो सकता है। इसके अभाव में व्याप्य-व्यापकपना भी दोनों द्रव्यों की पर्यायों में नहीं बन सकता। अन्तरव्याप्य व्यापक भाव के अभाव में कर्त्ताकर्मपना भी इनमें नहीं है।

अन्तः व्याप्य भाव तथा व्यापकभाव किसी भी द्रव्य का अपनी ही पर्यायों से होता है, यह बात पहले भी बता चुके हैं। बहिर्व्याप्य-व्यापक भाव उनमें पाया जाता है जिनमें निमित्त नैमित्तिक सम्बंध हो। ऐसा सम्बंध यथार्थ कार्य-कारण भाव या कर्ता-कर्मभाव का नियामक नहीं होता। इसका विशेष खुलासा इस प्रकार है।

द्रव्य उपादान है, पर्याय उपादेय है। अर्थात् द्रव्य कारण है, पर्याय उसका कार्य है। द्रव्य के परिणमन को ही पर्याय कहते हैं। अतः प्रत्येक द्रव्य का कारणपना अपनी पर्याय के प्रति ही है। अन्य द्रव्य की पर्याय के प्रति कदाचित् भी कारणपना नहीं हो सकता। पर्याय उपादेय है, इसका अर्थ यह है कि वह प्राप्तव्य है, याने प्राप्त होने योग्य है। वह पर्याय किसे प्राप्त होगी ? इस प्रश्न का समाधान है कि वह जिस द्रव्य का परिणमन है उसे ही प्राप्त होगी अन्य द्रव्य को नहीं। उस द्रव्य के अंशों में (प्रदेशों में) उस द्रव्य के गुणों को लेकर ही प्रकट होगी अन्य के नहीं। इसी से द्रव्य को उपादान कहते हैं और पर्याय को उपादेय।

यह उपादान-उपादेय भाव का भेद ही दोनों का तादात्म्य सम्बंध कहलाता है। यद्यपि द्रव्य नित्य और

पर्यायें अनित्य हैं ऐसा नयादेश से कहा जाता है तथापि द्रव्य को छोड़कर पर्याय उत्पन्न नहीं होती और न पर्याय मात्र से रहित कभी द्रव्य होता है। अतएव अपनी पर्यायों के साथ द्रव्य का तादात्मय सम्बंध कहा जाता है। जिनमें तादात्म्य सम्बंध है, ऐसी निज पर्यायों में द्रव्य व्यापक है तथा जिन पर्यायों में द्रव्य व्यापक हैं वे पर्यायें उसके लिये व्याप्य हैं।

जो अनेकत्र विस्तार को प्राप्त हो उसे व्यापक कहते हैं और जहाँ-जहाँ उसका विस्तार हो वे-वे स्थान व्याप्य कहलाते हैं। द्रव्य अनेक पर्यायों में फैलता है अत: द्रव्य को व्यापक तथा जिनमें वह फैलता है उन पर्यायों को व्याप्य कहा जाता है। इस रीति पर देखा जाए तो यथार्थ अंतरंग व्याप्य व्यापक भाव द्रव्य और उसकी पर्यायों में ही पाया जाता है। इसी को परस्पर का तादात्म्य सम्बंध कहना चाहिये। इनमें ही कर्त्ता-कर्मभाव है।

व्याप्य-व्यापक भाव का बहिरंग रूप परद्रव्य की पर्याय के साथ माना जाता है। यदि उनमें निमित्त नैमित्तिक सम्बंध हो तो दोनों को उदाहरण से विचारिए - (१) घट बनता है मृतिका से, अत: इन दोनों का परस्पर अंतर्व्याप्य-व्यापक भाव है। (२) वस्त्र बनता है सूत से, अत: इन दोनों में भी अंतर्व्याप्य-व्यापक भाव है। इनमें उपादान-उपादेय भाव भी कहा जा सकता है, कर्त्ता-कर्मभाव भी कहा जा सकता है, तादात्म्य सम्बंध भी कहा जा सकता है। इसके घट और वस्त्र दो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं।

इसी प्रकार जीव ज्ञानी है, ज्ञानोपयोगी है, चैतन्य की मूर्ति है। अत: ज्ञानोपयोग उसकी परिणति है, उस परिणति से उसका तादात्म्य है तथा कर्तृ-कर्मभाव है।

परन्तु जैसे घड़ा बनाने वाले के साथ घट का व्याप्य व्यापक भाव यथार्थ नहीं है तथा जैसे वस्त्र बनाने वाले के साथ वस्त्र का यथार्थ व्याप्य व्यापक भाव नहीं है क्योंकि वे दोनों भिन्न द्रव्य हैं। कुम्भकार चेतन है, घट अचेतन है। इसी प्रकार वस्त्र बनाने वाला चेतन है, वस्त्र अचेतन है। अत: विभिन्न विरोधी लक्षण वाले होने से उनमें न उपादान-उपादेय भाव है, न तादात्म्य है, न कार्य-कारण भाव है, न कर्ता-कर्मभाव है, तो भी बिना घटकार के घट नहीं बनता, बिना जुलाहे के वस्त्र नहीं बनता अत: इन दोनों में विभिन्नता होने पर भी निमित्त-नैमित्तिकता अवश्य है। अत: इन दोनों में बहिर्व्याप्य-व्यापक भाव कहा जाता है। इसे ही निमित्त नैमित्तिक सम्बंध कहा जाता है। इसे व्यवहार से कर्ता-कर्म भी कहते हैं। व्यवहारत: इनमें कार्यकारण भाव भी कहा जाता है।

इस प्रकार व्यवहार करने वाला यदि परमार्थ को जानता हुआ भी विवक्षा विशेष से ऐसा कहता है तो वह व्यवहारी है, व्यवहार नय का ज्ञाता है किन्तु यदि व्यवहार कथन को ही परमार्थ जानता है और परमार्थ को नहीं जानता तो वह भ्रम बुद्धि वाला मिथ्या दृष्टि है ऐसा जानना चाहिये।

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य का भी परस्पर अनादि सम्बंध है। तथापि उनका संयोग सम्बंध है, तादात्म्य नहीं है। उनमें एक दूसरे के निमित्त से परिणमन भी देखे जाते हैं। उन परिणमनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध अवश्य है पर उपादान-उपादेय भाव, कर्ता-कर्मभाव नहीं है। इनमें कर्त्ता-कर्मपने का प्रतिभास यह जीव अपने अज्ञान भाव से करता आ रहा है परन्तु यह भ्रम मात्र है, यथार्थ नहीं है। यह अज्ञान मूलक भ्रमपूर्ण मति तभी तक रहती है जब तक जीव को स्व-पर का विवेक नहीं जागता। विवेकी को वस्तु की यथार्थता का बोध हो जाता है तब भूल मिट जाती है।

निश्चय की दृष्टि इस यथार्थ तत्त्व को जानती है और ऐसा ही वर्णन करती है। सारांश, जीव ही संसार के दु:ख उठाता है तथा वही मोक्ष के सुख का अधिकारी बनता है। यदि उक्त कथन निश्चय नय कर यथार्थ न होता तो पुद्‌गल को भी संसार का दु:ख और मुक्ति का सुख लाभ होता पर ऐसा नहीं है। अत: यह सिद्ध है कि स्वपरिणमन का कर्त्ता-भोक्ता आत्मा है और पुद्‌गल भी अपने परिणमन का कर्ता-भोक्ता है।

जीव ने कर्म किया और कर्म का फल भोगा ऐसा भी शास्त्रों में कथन आता है। वह व्यवहार नय से कहा गया है, परमार्थ से नहीं। उन आचार्यों ने परमार्थ को जानते हुए भी जगह-जगह व्यवहारनय का उपयोग करते हुए निरूपण किया है। वह व्यवहारी जनों को परमार्थ तक पहुँचाने के लिये ही किया है।

यदि पुद्‌गल ही जीव को रागादि पर्याय में परिणत करता है इसे यथार्थ माना जाये तो पुद्‌गल दो पर्यायों का कर्त्ता होगा, एक अपनी कर्म परिणति का, दूसरे जीव की राग परिणति का। इसी प्रकार यदि जीव ने कर्म बनाये ऐसा माना जाये तो जीव अपने राग भाव का तथा पुद्‌गल की कर्म परिणति ऐसे दो द्रव्यों की पर्यायों का कर्ता हो जायेगा।

परन्तु ऐसा कथन जिनेन्द्र वचनों से विपरीत है। जब पुद्‌गल स्वयं राग द्वेष भावमय नहीं होता, तब वह उसका कर्त्ता है यह कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार यदि जीव कर्म पुद्‌गल का कर्त्ता माना जाये तो उसे पुद्‌गल द्रव्य रूप बन जाना होगा किन्तु ये दोनों बातें प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध हैं। अतएव एक द्रव्य अपनी व दूसरे की पर्यायों का यथार्थ कर्त्ता नहीं है किन्तु जो द्रव्य जिस पर्याय से तन्मय होता है उसका कर्त्ता होता है अन्य द्रव्य का नहीं। अन्य द्रव्य तो उसमें निमित्त मात्र हैं। घटाकार घट का निमित्त है कर्ता नहीं, क्योंकि वह स्वयं घटमय नहीं होता। इसी प्रकार जीव कभी पुद्‌गल नहीं होता। अत: पुद्‌गल कर्म का कर्त्ता नहीं है और न पुद्‌गल जीव पर्याय का कर्त्ता है, ऐसा सिद्धांत निर्णीत होता है।

कर्ता-कर्मपने का नियमन परमार्थत: कैसा है इसे आचार्य कहते हैं -

य: परिणमति स कर्ता, य: परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणति: क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ।। ५१ ।।

अन्वयार्थ - **(य: परिणमति स कर्ता)** जो पर्याय से तन्मय होकर परिणमता है वही द्रव्य उसका कर्ता है। **(य: परिणाम:)** और जो परिवर्तन हुआ है **(तत् तु कर्म भवेत्)** वही उस द्रव्य का अर्थात् कर्ता का कर्म है **(या परिणति: सा क्रिया)** उसमें जो परिणति हुई है वही क्रिया है **(त्रयम् अपि)** कर्ता कर्म क्रिया ये तीनों **(वस्तुतया भिन्नम् न)** यथार्थ में जुदी-जुदी नहीं हैं किन्तु तीनों एक द्रव्य रूप ही है।

भावार्थ - निश्चय नय से अर्थात् परमार्थ से द्रव्य, उसकी क्रिया और क्रिया के आधार पर होने वाली उस द्रव्य की पयार्य तीनों एक सत्तात्मक हैं। वे कथन में तीन हैं पर जुदी-जुदी सत्तारूप नहीं है। ''उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्'' आचार्य उमास्वामी के इस सूत्र ने तीनों को मिलाकर ही एक 'सत्' कहा है। उन्होंने सत् को ही द्रव्य का लक्षण ''सद् द्रव्यलक्षणं'' सूत्र द्वारा बताया है।

सारांश यह हुआ कि जीवद्रव्य भी परिणमन स्वभावी है और पुद्‌गल भी (अन्य द्रव्य भी)। जीव रागादि रूप क्रिया करता है स्वयं रागी होता है। अत: जीवद्रव्य उसकी क्रिया तथा राग परणति तीनों जीव से अभिन्न हैं। यहाँ पूर्व में जिस काल तक जीव ने राग क्रिया नहीं की थी तब उसका कर्त्ता न था। जब रागी हुआ

तो राग पर्याय का कर्त्ता हुआ। रागी पर्याय की उत्पत्ति हुई। जब क्रोध रूप बना तब रागी की पर्याय का व्यय हुआ। तथापि जीव दोनों पर्यायों में स्थित है। इस तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों जीव की सत्ता में ही रहे, यही एक सत्तात्मकता है। इसी प्रकार पुद्गल भी पूर्व में जो कर्म रूप नहीं था, वह अपनी अकर्म पर्याय को नष्ट कर कर्म रूप बना तब अकर्म पर्याय का व्यय और कर्म पर्याय का उत्पाद हुआ, तथा पुद्गल द्रव्यपना दोनों अवस्थाओं में स्थित है, इस प्रकार उत्पादादि त्रयात्मक सत्ता पुद्गल में रही। सभी द्रव्यों के परिणमन इसी एक सुनिश्चित अकाट्य नियम पर होते हैं। इसलिये तीनों वस्तु से भिन्न नहीं होते। चूँकि परिणमन में पर द्रव्य की पर्याय निमित्तभूत होती है तथापि वस्तु अपने परिणमन स्वभाव के लिये उस निमित्त के लिये रुकेगी नहीं। रुक जाये तो परिणमन वस्तु का स्वभाव न होकर विभाव हो जायेगा।

जो स्वाधीन हो वह स्वभाव कहलाता है, पर जो परके आधीन हो वह स्वभाव नहीं होता, वह विभाव होता है। सो विभाव रूप परिणमन भी भले ही पर के निमित्त से हो परन्तु वस्तु की परिणमनशीलता रूप स्वभाव के अभाव में वह पर के रहने पर भी नहीं होता। अत: सिद्ध है कि जीव अपने स्वभाव विभाव परिणमन में स्वयं जिम्मेवार है, पर का कोई दोष नहीं है।

यह बात इस पद्य से स्पष्ट ज्ञात होती है -

एकः परिणमति सदा, परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परणतिः स्यात् अनेकमप्येकमेव यतः ।। ५२ ।।

अन्वयार्थ - **(एकः परिणमति सदा)** द्रव्य अकेला ही परिणमन करता है **(परिणामः सदा एकस्य जायते)** परिणमन भी सदा एक का ही देखा जाता है **(एकस्य परणतिः स्यात्)** परिणति क्रिया एक में ही होती है, अत: सिद्ध है कि **(अनेकम् अपि)** कर्त्ता-कर्म क्रियाएँ अनेक होकर भी **(एकमेव)** एक ही हैं, अनेक सत्तात्मक नहीं हैं।

भावार्थ - जैसे मृतिका घट बनती है। उसमें घट रूप परिणमन को करने वाली अकेली मिट्टी ही है, कुम्भकार नहीं। घट अवस्था मिट्टी की हुई है, कुम्भकार की नहीं। घट परिणमन में परिणति रूप क्रिया मिट्टी में हुई है, कुम्भकार में नहीं। अत: जैसे यहाँ पर तीनों का अर्थात् कर्त्ता, कर्म और क्रिया का आधार मिट्टी ही है। उसमें निमित्तभूत कुम्भकार आधारभूत नहीं है। इसी प्रकार जीव ही रागादि रूप परिणमन करता है पुद्गल कर्म नहीं, रागरुप परिणमन जीव में होता है कर्म में नहीं तथा जीव में ही रागादि क्रियाएँ होती हैं, कर्म में नहीं। फलत: जीव ही इन तीनों की एकता का आधार है, कर्मादि अन्य द्रव्य नहीं हैं। इससे सिद्ध हुआ कि न रागादिका कर्ता पुद्गल है और न ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म का कर्ता जीव है। प्रत्युत अपनी-अपनी पर्यायों के कर्त्ता दोनों द्रव्य अपने परिणमन स्वभाव के कारण स्वयं हैं। उनमें एक द्रव्य की पर्याय अर्थात् जीव की राग पर्याय में कर्मोदय और पुद्गल की कर्मरूप पर्याय में जीव का राग परिणाम निमित्त मात्र अवश्य है पर एक दूसरे के कर्ता वे नहीं हैं। कर्ता स्वयं अपना-अपना द्रव्य है क्योंकि पर्याय उसमें ही होती है।

दो द्रव्य मिलकर एक पर्याय नहीं बनाते प्रतिपादन निम्न पद्य से करते हैं-

नोभौ परिणमतः खलु, परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ।। ५३ ।।

अन्वयार्थ - **(खलु)** निश्चय से **(नोभौ परिणमतः)** दो द्रव्य मिलकर एक पर्याय नहीं बनाते

(परिणामः उभयोः न प्रजायेत) एक परिणमन दो में नहीं होता **(उभयोः)** दो द्रव्यों की **(परिणतिः)** एक परिणति रूप क्रिया **(न स्यात्)** नहीं होती। **(यत्)** क्योंकि **(अनेकम्)** अनेक द्रव्य **(सदा अनेकमेव)** अनेक ही रहते हैं।

भावार्थ – यहाँ कहा जा रहा है कि दो द्रव्यों की एक पर्याय नहीं होती अर्थात् दो द्रव्यों की मिलकर एक पर्याय हो ऐसा नहीं होता तथा कोई पर्याय दो द्रव्यों के आधार पर नहीं होगी अर्थात् दो द्रव्यों में रहती हो ऐसा भी नहीं है। इस प्रकार परिणमन रूप क्रिया भी दो द्रव्यों की एक ही हो ऐसा भी नहीं है।

प्रश्न– दो तथा अनेक द्रव्यों में एक क्रिया देखी जाती है। जैसे– हम हाथ पैर चलाते हैं तब आत्मा शरीर दोनों की एक हलन–चलन रूप क्रिया होती है। रेल, मोटर चलती है तो वह क्रिया रेल मोटर में समुदायात्मक नानापुद्‌गलों की क्रिया होती है।

समाधान – ऐसा नहीं है। जब हाथ पैर चलते हैं तब शरीर की क्रिया, शरीर में होती है, और जीव की क्रिया जीव में होती है। स्थानान्तर प्राप्ति दोनों की हुई अत: दोनों की पृथक् क्रिया सिद्ध है। रेल के सभी डिब्बे अपनी पृथक–पृथक् समान क्रियाओं में परिणत हैं। सबकी क्रियाएँ भिन्न–भिन्न हैं। उस समय उनमें एकता मात्र व्यवहार समानता के कारण है।

प्रश्न– जब आप ऐसा कहते हैं कि जड़ शरीर की क्रिया जड़ में होती है, वह आत्मा की क्रिया नहीं है, तो ऐसा मानने से आप संसार में पाप का प्रचार करते हैं, क्योंकि चोरी, व्यभिचार आदिक कर्म करने वाला सारा काम जड़ शरीर की क्रिया से ही होता है जबकि वह क्रिया आत्मा की नहीं है। तब वह न अपराधी है न पाप बंध का कर्ता है। ऐसी मान्यता से आत्मा को नरकादि गति का बंध ही न होगा, तब पाप से वह क्यों भयभीत हो ? फलत: पाप प्रचार के लिये आपका यह सिद्धांत ही साधनभूत हो रहा है। अत: इसे छोड़कर दो द्रव्यों की भी एक क्रिया होती है, ऐसा मानना ही उचित है।

समाधान – यह मानना नितांत भूलभरा है। आत्मा और जड़ शरीर की भिन्न–भिन्न क्रियाएँ कहना ही सत्य और यथार्थ है। चोरी और व्यभिचार शरीर की क्रिया के आधार पर अनुमानित होता है कि इसकी आत्मा पापी है। आत्मा की पाप क्रिया के अनुमापक इसकी बाह्य क्रियाएँ हैं। बाह्य क्रिया का ही अर्थ शारीरिक क्रिया है। चोर या व्यभिचारी शरीर की प्रायोगिक क्रिया के पूर्व से ही चोरी और व्यभिचार के परिणाम करता है और कर्म बंधन उसे अपनी उस विकारी परिणति के कारण ही होता है। शरीर से क्रिया तो पश्चात् होती है। आत्म विकार पूर्व होता है, अत: कर्म बंधन तो शरीर क्रिया की अनुत्पत्ति की दशा में हो गया है। यदि कोई चोरी और व्यभिचार का परिणाम करे, पश्चात् विघ्न आ जाने से चोरी और व्यभिचार रूप शारीरिक क्रिया न कर सके तो क्या वह कर्म बंध को प्राप्त नहीं होगा ? अवश्य होगा। अत: दो द्रव्यों की दो क्रियाएँ हैं। ऐसा कथन पाप पुण्य की यथार्थ स्थिति का बोधक है। यदि ऐसा न माना जाय तो पाप का प्रचार अवश्य होगा। अर्थात् यदि कोई दिन रात व्यभिचार की इच्छा व चोरी की इच्छा करने वाला व्यक्ति है पर वह अनेक दिनों से अपनी उक्त इच्छाओं के अनुसार शरीर आधार पर अब तक उक्त दोनों पाप नहीं कर सका तो वह अपने को न चोर समझेगा न व्यभिचारी समझेगा तथा अपने को निरपराधी मानेगा।

लोक व्यवहार में चूँकि सामान्य जन अन्य के अन्तरंग के परिणाम जिन्हें आत्मा की विकारी परणति

कहना चाहिये, नहीं जान पाते, अत: उनको उसके परिणाम के अज्ञात रहने पर वह अपने को निरपराधी कहता है और सामान्य जन उसके परिणाम के अज्ञान के कारण उसे निरपराध मान लेते हैं, पर यह मान्यता अज्ञान मूलक है। यदि वह अन्य के ज्ञान में आ जाये कि यह व्यक्ति ऐसे खोटे भाव रखता है तथा उक्त पाप कार्य करने की ताक में रहता है तो वे भी उसे पापी मानेंगे।

अत: सिद्ध है कि प्रत्येक जीव अपने परिणामों के विकारों के कारण पापी है, शरीर क्रिया के कारण नहीं, वह तो बाद में होती है पर पाप पहिले ही हो चुका है। अत: यदि दो द्रव्यों का एक परिणमन, एक स्वामित्व, एक क्रिया मानी जावेगी तो जब एक द्रव्य मात्र अर्थात् आत्मा का विकारी परिणमन होगा तब वह पापी होकर भी अपने को पापी न मानेगा, ऐसी अनिष्टापत्ति आयगी।

अत: सिद्ध है कि (१) दो द्रव्यों का मिलकर एक परिणमन नहीं होता। (२) एक परिणमन के दो मालिक नहीं होते (३) दो द्रव्यों की एक क्रिया नहीं होती।

कर्ता – कर्म की अपेक्षा इसी को स्पष्ट करते हैं –

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो, द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ।। ५४ ।।

अन्वयार्थ – **(एकस्य)** एक कार्य के परिणमन के **(हि)** निश्चय से **(द्वौ कर्तारौ)** दो कर्ता **(न स्तः)** नहीं होते **(एकस्य च)** तथा एक कर्ता के **(द्वे कर्मणी)** दो कर्म **(न)** नहीं होते **(न च एकस्य द्वे क्रिये)** एक द्रव्य की दो क्रियायें नहीं होतीं **(यतः)** क्योंकि **(एकम् अनेकम् न स्यात्)** एक द्रव्य दो या अनेक द्रव्य नहीं होता।

भावार्थ – कोई भी पर्याय का स्वद्रव्य ही कर्ता होता है। दो द्रव्य मिलकर एक पर्याय के कर्ता नहीं होते। जैसे जीव–पुद्‌गल दो कर्म द्रव्य हैं, वे मिलकर किसी एक पर्याय के कर्ता हों ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता तो जैसे जीव में रागादि विकार हैं वैसे पुद्‌गल कर्म में भी होते। अत: एक पर्याय का एक ही द्रव्य कर्ता है, दो द्रव्य नहीं।

इसी से यह भी सिद्धांत स्वत: फलित होता है कि एक कर्त्ता का प्रति समय एक ही कर्म होगा, वह दो कर्मों का कर्त्ता नहीं होगा क्योंकि कोई द्रव्य अपनी पर्याय का भी कर्ता हो और अन्य द्रव्य की पर्याय का भी कर्ता हो ऐसा नहीं है। एक द्रव्य में दो क्रियाओं का भी समावेश नहीं हो सकता। एक ही क्रिया होगी, जो उसकी पर्याय होगी तत्परिणमन रूप ही उसकी क्रिया होगी। जब अन्य द्रव्य के परिणमन रूप उसे परिणमना नहीं है तब उस सम्बंधी क्रिया भी अन्य द्रव्य में ही होगी उसमें नहीं।

अत: सिद्ध है कि एक द्रव्य एक स्वपर्याय का कर्ता है। एक कर्म का एक ही द्रव्य कर्ता है और एक द्रव्य में एक ही स्वपरिणति क्रिया होती है क्योंकि एक–एक ही रहेगा, वह अनेक नहीं हो सकता।

उक्त ६,७,८,९ पद्यों द्वारा यह सार निकलता है कि द्रव्य स्वयं कर्ता है और वह केवल अपनी पर्याय का ही यथार्थ कर्ता है। पर द्रव्य का और उसकी पर्याय का कर्त्ता वह कदाचित् भी नहीं होता। पर द्रव्य की पर्याय उसमें निमित्त कारण अवश्य होती है तथापि पर द्रव्य अपनी पर्याय का तो यथार्थ कर्ता है, अन्य द्रव्य की पर्याय के लिये वह मात्र निमित्त है। निमित्त यथार्थ कर्ता नहीं है। पर व्यवहार में उसे भी कर्ता कहा जाता है।

यह कथन व्यवहार का ही है, परमार्थ ऐसा नहीं है।

तथापि अनादिकाल से जीव की प्रवृत्ति इसके विपरीत है ऐसा भाव निम्न पद्य में प्रदर्शित करते हैं –

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकैः
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्कााररूपं तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत् किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ।। ५५ ।।

अन्वयार्थ – **(आसंसारत एव)** यह जीव अनादिकाल से ही अपने स्वरूप की तथा यथार्थ तत्त्व की अज्ञानता के कारण **(अहं परं कुर्वे)** मैं पर को करूँ ऐसा मिथ्या विचार करके **(उच्चकैः धावति)** जोरों से दौड़ लगाता है, आचार्य कहते हैं कि **(मोहिनाम्)** इन अज्ञानी मोही प्राणियों का **(इह महाहङ्कााररूपं तमः)** यहाँ महान मिथ्या अहंकार रूप यह अज्ञान **(ननु दुर्वारं)** यथार्थ में दुर्निवार है – कठिनता से भी पूरा नहीं किया जा सकता है। **(तद्भूतार्थ परिग्रहेण)** वह शुद्ध निश्चय के विषयभूत शुद्धात्मा के आश्रय से **(यदि एकवारं विलयं व्रजेत्)** यदि एक ही बार नष्ट हो जाये **(तत्)** तो **(ज्ञानघनस्य आत्मनः)** उस ज्ञानीभूत आत्मा को **(भूयः)** पुनः दुबारा **(अहो किं बंधनं भवेत्)** अरे ! क्या बंधन हो सकता है ? कदापि नहीं।

भावार्थ – संसारी प्राणियों की अनादिकाल से ही ऐसी दौड़ लग रही है कि पर को ऐसा कर लूँ । मोही अज्ञानी पुरुषों की यह अज्ञानता दूर होना बहुत कठिन है।

पर संयोग तथा तत्जनित विकारों में ही यह जीव – ये मेरे हैं, ये मेरा भला बुरा करते हैं, अथवा मैं इनका भला बुरा कर सकता हूँ । ऐसी भ्रमपूर्ण मतिरूप हो रहा हैं। संसारी सभी जन ऐसा मान कर ही समस्त व्यवहार करते हैं व उसे ही सत्य मानते हैं।

अमुक व्यक्ति मेरे कर्जदार हैं उन पर मेरा रुपया है। मुझे दूसरों का इतना देना है। वह मेरा शत्रु है, मेरे इन कामों में विघ्न डालता है, इत्यादि नाना प्रकार के संकल्प विकल्प अपने मोह जन्य अज्ञान पूर्ण अहंकार से करता है।

आचार्य कहते हैं कि मोही जीवों का यह पर में अहंकार का मिथ्याज्ञान दुर्निवार है तथापि यदि जीव एक बार भी निश्चयनय से (द्रव्यार्थिक दृष्टि से) पदार्थ के अनाद्यनन्त असली रूप को देखे, और नाशवान् पर्यायों की अस्थिरता का बोधकर उन्हें स्थिर रखने का तथा पर पर्यायों को अपनाने का जो प्रयत्न है उसकी खोखली स्थिति का ज्ञान कर इस मोह मिथ्यात्व को दूर कर सके, तो उसे अपने यथार्थ ज्ञानानंद स्वभाव का दर्शन हो जायगा। ऐसी स्थिति में उस ज्ञानघन आत्मा को पुनः कर्म का बंधन नहीं होगा। आचार्य संसारी प्राणी पर करुणाकर उसकी पर्याय विमूढ़ता को छुड़ाकर उसे द्रव्यदृष्टि से पदार्थ का त्रैकालिक स्वरूप दिखाना चाहते हैं जिससे उसका भ्रम दूर हो वह अपना कल्याण कर सके।

उक्त सब कथन का क्या निष्कर्ष है उसे निम्न पद्य में बताते हैं –

आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ।। ५६ ।।

अन्वयार्थ – **(आत्मा)** जीव **(आत्मभावान्)** अपने शुद्ध या अशुद्ध भावों को **(करोति)** करता

है, तथा **(परः)** आत्मभिन्न पर द्रव्य **(सदा)** सदाकाल **(परभावान्)** परभावों को अपने शुद्धाशुद्ध-पर्यायों को **(करोति)** करता है **(आत्मनः हि भावाः)** आत्मा के परिणाम तो **(आत्मा एव)** आत्मद्रव्य रूप ही हैं, तथा **(परस्य ते)** परद्रव्य के परिणाम **(पर एव)** परद्रव्य रूप ही हैं।

भावार्थ - ऊपर के कलशों में वर्णित प्रकार से यह निश्चित हो गया कि दो द्रव्यों में परस्पर संयोग सम्बंध तथा निमित्त नैमित्तिक सम्बंध के रहते हुए भी जीव के जो भी परिणाम शुभ या अशुभरूप अशुद्धभाव अथवा पर की उपाधि निरपेक्ष शुद्ध भाव होते हैं वे जीवद्रव्य रूप हैं क्योंकि जीव के साथ ही उनका तादात्म्य देखा जाता है।

जीव से भिन्न पुद्गल अथवा अन्य द्रव्य हैं, वे अपने स्वद्रव्य की मर्यादा में ही होते हैं,अत: उनका परिणमन तद् द्रव्य स्वरूप ही हैं, आत्मरूप नहीं तथा कार्माणवर्गणाओं का ही कर्म रूप याने ज्ञानावरणादिरूप परिणमन होता है आत्मा का नहीं।

यद्यपि मिथ्यात्व-रागादिजीव के परिणाम हैं-जीव में ही होते हैं। तथापि कर्मोपाधि के बिना वे जीव में नहीं होते। जिस कर्म की उपाधि में ये भाव होते हैं उस कर्म में भी तदुत्पत्ति निमित्तता रूप शक्ति होती है। अत: मिथ्यात्व रागादि क्रोधादिभावरूप परिणाम जीव में होते हैं। अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा उनकी गिनती जीव द्रव्य में होती है, शुद्ध निश्चय नय से नहीं। शुद्ध निश्चयनय द्रव्य को परविरहित शुद्ध द्रव्य के रूप में देखता है। अत: उसकी दृष्टि में रागादि आत्मा में नहीं हैं पुद्गल निमित्तजन्य होने से उनकी गणना पुद्गल में है ऐसा उल्लेख ग्रन्थ में अन्यत्र किया है।

ज्ञानी जीव वस्तु की स्थिति को समझता है अत: वह पर को पर वस्तु जान मोह नहीं करता अत: बन्ध नहीं करता। वह वस्तु के स्वभाव का मात्र ज्ञाता होता है। पर वस्तु के साथ उसका मात्र ज्ञेय ज्ञायक भाव संबंध है। अत: वह संसार के सम्पूर्ण परिवर्तन को तटस्थ व्यक्ति की तरह मात्र देखता है, उसमें लीन नहीं होता इस प्रकार का भेद विज्ञानी पर से विरक्त होकर पर के कर्तृत्व भाव छोड़ देता है। अज्ञानी संसार में भटकता है। नीचे यह दर्शाते हैं -

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी, ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालाम् ।। ५७ ।।

अन्वयार्थ - **(यः स्वयं ज्ञानं भवन् अपि)** जो जीव यद्यपि स्वयं ज्ञान स्वरूप है तथापि **(अज्ञानतः तु)** अपने स्वरूप को न जानकर **(सतृणाभ्यवहारकारी)** तृण सहित अन्न को अन्न मानकर खाने वाले पशु की तरह **(रज्यते)** जीव के स्वभाव में और जीव के विकारों में तथा निमित्तभूत द्रव्यकर्म में भेद न करके, दोनों में एकत्व मानकर राग करता है **(असौ)** वह **(दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया)** दही, शक्कर आदि के खट्टे - मीठे मिश्रित स्वाद की गृद्धता से **(नूनं रसालां पीत्वा)** शिखरिणी को पीकर उसे **(दुग्धमेव)** दूध मानकर **(गां दोग्धि इव)** गाय मानो दुहता है। इसी तरह रागी जीव राग को भी आत्म स्वभाव मानता है।

भावार्थ - यह जीव स्वभाव दृष्टि से ज्ञान स्वभावी है- पर अपना स्वरूप बोध न होने के कारण अज्ञानी है। जैसे किसी व्यक्ति के घर में धन गड़ा है, जो पैतृक है, पर उसे ज्ञात नहीं है, अत: परायी सेवा करके निर्धनता का अनुभव करता है यद्यपि वह धनी है पर अपने धनीपन के अज्ञान के कारण निर्धनपने को भोगता

है, यद्यपि उसे कोई जानकर बता दे कि तेरे पूर्वजों ने बहुत सा धन तेरे घर में अमुक स्थान पर गाड़ रखा है, तू उसका स्वामी है, तो वह तत्काल अपने धनवानपने का बोध करते ही निर्धनपने की दीनता छोड़ देता है। यद्यपि उसे अभी वह धन प्राप्त नहीं हो सका, पर मैं धनी हूँ ऐसा सुनिश्चित बोध श्रद्धा हो गई, अत: दीनपना मिट गया। इसी प्रकार अज्ञानी जीव स्वरूप का ज्ञान न होने से अज्ञानी हुआ दीनपने को प्राप्त हुआ। अज्ञानी पशु की तरह घास-फूस मिले अन्न को ही अन्न मानता है।

स्वरूप के अज्ञानी जीव की भी यही दशा है। वह जीव और शरीर या कर्म के भेद को न करके दोनों का एकत्व बोध करके शरीर ही मैं हूँ, जो राग-द्वेष क्रोध है वह मैं ही हूँ, ऐसा मानता है। उसे यह पता नहीं कि मैं नित्यानंद स्वभावी हूँ। इसलिये शरीर को अपना रूप मानकर शरीर के नाश में अपना नाश और शरीर की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति मानकर भयभीत होकर दु:खी होता है।

एक दूसरा दृष्टांत ग्रंथकार घटित करते हैं कि कोई व्यक्ति अज्ञान की अवस्था में दूध, दही, शक्कर को मिलाकर बनाई गई शिखरणी को पी रहा था, उसे ही गाय का दूध समझ रहा था। मिश्रित स्वाद की गृद्धता से उसे पी रहा है। उसे उन चीजों का भेदज्ञान नहीं है। वह यह विवेक नहीं कर पाता कि इस शिखरणी में दही की खटास तथा शक्कर की मिठास है, इस भेदज्ञान के अभाव में दूध पी रहा हूँ, ऐसा मानता है। इसी प्रकार अज्ञानी शरीर तथा कर्मोदय जन्य विकारों को और अपने ज्ञायक स्वभाव को भिन्न-भिन्न पहिचानता नहीं, किन्तु सबको मिलाकर एक मानकर उसमें ही रागी बना है। अज्ञान का बहुत बड़ा महात्म्य है। जिससे जीव अपने स्वरूप को, जो आपमें है, अपने से भिन्न है उसे तो भूल रहा है और जो अपने से भिन्न अतदात्मक शरीरादि हैं - तो भी अपनी स्थिति को उससे या तो अभिन्न मानता है अथवा उसे ही मैं हूँ ऐसा मानता है।

इसके अज्ञान के विलास को दृष्टांत द्वारा समर्थन करते हैं -

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगाः
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ।। ५८ ।।

अन्वयार्थ - **(अज्ञानात्)** जल और तपाई रेत की चमक में भेदज्ञान के अभाव से जनित अज्ञान के कारण **(मृगाः)** हरिण **(पातुं)** पानी पीने के लिए **(जलधिया)** जल समझकर **(मृगष्णिकाम्)** तप्तरेत की चमकती हुई आभा के प्रति **(धावन्ति)** दौड़ते हैं तथा **(अज्ञानात्)** रस्सी और सर्प का भेद ज्ञात न होने से **(तमसि)** अंधेरे में **(रज्जौ)** रस्सी में **(भुजगाध्यासेन)** सर्प का बोधकर **(जनाः)** अज्ञानी जन **(द्रवन्ति)** भयभीत होते हैं।

इसी तरह **(स्वयम् अमी)** यह जीव स्वयं **(शुद्ध ज्ञानमया अपि)** यद्यपि अपने शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप हैं तथापि **(अज्ञानात्)** स्वरूप के प्रति अज्ञान भाव के कारण **(वातोत्तरङ्गाब्धिवत्)** वायु के निमित्त को पाकर उछलने वाले समुद्र की तरह **(विकल्पचक्रकरणात्)** नाना विकल्पों में उलझते हुए **(आकुलाः)** व्याकुल होकर **(कर्त्रीभवन्ति)** उनके कर्ता बनने की भावना करते हैं।

भावार्थ - संसारी प्राणी मृग मरीचिका की तरह भ्रम से विषयों के प्रति यह समझकर दौड़ लगाता है

कि मेरी अन्तर्दाह मिट जायेगी, पर वह तो मिटती नहीं, तथापि ऐसी दौड़ से विषय के चाह कि दाह बढ़ती जाती है और यह अंत में उनका दास बना हुआ आकुल-व्याकुल हो प्राण छोड़ देता है।

दूसरा दृष्टांत है कि अंधेरे में न सूझ पड़ने से किसी सर्पाकार में पड़ी हुई रस्सी को सर्प समझकर लोग भयभीत होकर भागते हैं। यद्यपि वहाँ भय का कोई कारण नहीं है। वह तो मात्र रस्सी है तथापि अज्ञान के कारण उसे मिथ्या अध्यवसाय से सर्प मानकर लोग भयभीत होते हैं। उन्हें यदि रस्सी का स्पर्श हो जाये तो मुझे सर्प ने डस लिया ऐसे भय से प्राण भी त्याग कर देते हैं। इसी प्रकार वस्तु स्वरूप का अज्ञानी प्राणी अपने दुःख दूर करने के वास्तविक उपायभूत निज के कर्तृत्व और पर के अकर्तृत्व का ज्ञान न होने से पर को संग्रह करने, उसे अपने अनुकूल बनाकर उसके आलंबन से दुःख दूर करने के भ्रम से पर के कर्तापने का व्यर्थ प्रयास करता है।

जो ज्ञानी होते हैं वे क्या करते हैं इस प्रश्न का समाधान निम्न पद्य से आचार्य कहते हैं -

ज्ञानाद् विवेचकतया तु परात्मनोर्यो जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम् ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो जानीत एव हि करोति न किंचनापि ।। ५९ ।।

अन्वयार्थ - (**यः**) जो पुरुष (**ज्ञानात् विवेचकतया**) ज्ञान के विवेक से (**हंसः**) जैसे हंस (**वाः पयसोः विशेषम् इव**) जल और दूध का भेद करता है उस प्रकार (**परात्मनोः**) स्व-पर का भेद (**जानाति**) जानता है (**सः**) वह ज्ञानी (**सदा**) हमेशा (**अचलं**) निश्चल रूप से (**चैतन्यधातुं अधिरूढ़ः**) अपने चैतन्योपादान शक्ति पर आलम्बित होकर पर को (**जानीत एव**) जानता ही है (**न किंचन अपि करोति**) किन्तु पर का जरा भी कर्ता नहीं होता।

भावार्थ - जैसे अज्ञानी स्व-पर भेद को न जानकर और अपने को पर का कर्ता मानकर (उस अज्ञान के कारण) पर में प्रयत्न करता है किन्तु वस्तु स्थिति के विपरीत उसे न कर पा सकने के कारण दुःखी होता है। वैसा स्व-पर भेद विज्ञानी दुःखी नहीं होता। किन्तु वह स्व-पर का लक्षण भेद, गुण भेद, सत्ता भेद आदि से भेद जानकर जैसे हंस पानी मिले हुए दूध को चोंच डूबोने मात्र से दूध पानी को भिन्न कर दूध-दूध पी लेता है, पानी छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञानी शरीरादि परद्रव्यों को छोड़कर निजज्ञायक स्वभाव को ग्रहण करता है। वह सदा के लिये अपने चैतन्य धातुमय सत्ता का अवलम्बन कर स्व से भिन्न पदार्थों को मात्र अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाता है अर्थात् मात्र उनको जानने का कार्य करता है किन्तु उनका कर्ता नहीं होता।

ज्ञान की महिमा ही श्रेष्ठ है -

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदो भिन्दती कर्तृभावम् ।। ६० ।।

अन्वयार्थ - (**ज्वलनपयसोः**) अग्नि और जल में (**औष्ण्यशैत्यव्यवस्था**) अग्नि उष्ण है, जल शीतल है, ऐसा निर्णय (**ज्ञानादेव**) ज्ञान से ही होता है [ज्ञान के द्वारा ही] (**लवणस्वादभेद व्युदासः**) व्यंजन से नमक के स्वाद भेद की व्यवस्था (**उल्लसति**) प्रकट होती है। इसी प्रकार (**स्वरस विकसत्**) अपने निज चैतन्य रस से विकास को प्राप्त (**नित्यचैतन्यधातोः**) सदा चैतन्य रूप द्रव्य का तथा (**क्रोधादेश्च**)

क्रोधादि विकारों के **(भिदा)** भेद से **(कर्तृभावम् भिन्दती)** आत्मा के पर कर्तृत्व के भाव को भेद करती हुई **(ज्ञानादेव प्रभवति)** ज्ञान से ही उत्पन्न होती है।

भावार्थ – ज्ञान पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ रूप में देखता है, अत: ज्ञान के द्वारा ही अग्नि द्वारा गर्म पानी के स्पर्श में यह गर्मी अग्नि की है, जल का स्वभाव तो शीतल है, ऐसे भेद की भासना होती है। इसी प्रकार भोजन करने वाला नाना व्यंजनों का आस्वाद लेता हुआ भी ज्ञान के द्वारा यह भेद जानता है कि इसमें नमक का यह स्वाद है, यह व्यंजन स्वाद इससे भिन्न है। इसी प्रकार निज रस से अर्थात् अपने चैतन्य स्वभाव से जो परिपूर्ण है वह चेतन द्रव्य है, तथा क्रोधादि भाव शुद्ध चैतन्य रस से परिपूर्ण नहीं है, चेतन भाव के स्वरूप से उसके स्वरूप में सर्वथा भिन्नता है, ऐसी भेद की भासना सम्यक्त्वी जीव को स्वानुभवाश्रित भेद विज्ञान के द्वारा ही होती है।

यद्यपि गरम जल की उष्णता की तरह व्यंजन भी नमक संयोग से खारा ही स्वाद में आता है, तथापि ज्ञानी दोनों को ज्ञान के बल से भिन्न-भिन्न आस्वाद रूप पहिचानता है। ऐसे ही क्रोधादि, रागादि के साथ ज्ञान की एकता देखी जाती है, तथापि सम्यक् दृष्टि जीव निज रस का तथा क्रोधादि का भेद अपनी भेद विज्ञानजन्य स्वानुभूति के बल पर कर लेता है।

प्रश्न – यहाँ कोई प्रश्न करे कि ज्ञान भाव और क्रोध भाव का भेद ज्ञानी जानता है और इसी से ज्ञान भाव का कर्ता है, तब रागादि भाव का कर्ता क्या जीव नहीं है ?

इस प्रश्न का समाधान निम्न पद्य से होता है –

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ।। ६१ ।।

अन्वयार्थ – **(एवं)** इस प्रकार **(आत्मा)** जीव **(आत्मानं)** अपने को **(ज्ञानं अज्ञानम् अपि)** ज्ञान और अज्ञान रूप **(कुर्वन्)** करता हुआ **(अञ्जसा आत्मभावस्य)** यथार्थ में आत्म भाव का **(कर्ता स्यात्)** कर्ता होता है **(परभावस्य)** पर द्रव्य की पर्याय का कर्ता **(क्वचित्)** कभी नहीं होता।

भावार्थ – ज्ञानरूप परिणति भी आत्मा की है और अज्ञान रूप अर्थात् रागादि रूप परिणति भी यथार्थ में आत्मा की ही है, जड़ की नहीं। अतएव आत्मा अपनी दोनों प्रकार की परिणतियों का कदाचित् कर्ता है किन्तु आत्मा पर द्रव्य अर्थात् शरीरादि पुद्गल द्रव्य का कर्ता कदाचित् भी नहीं होता।

प्रश्न – रागादि भाव को पुद्गल के भाव कहा गया था, यहाँ उन्हें आत्मभाव कहा गया है। वहाँ रागादि का कर्ता पुद्गल को कहा था, यहाँ आत्मा को ही यथार्थ कर्ता कहा गया। ऐसा विरोध क्यों ?

समाधान – जहाँ रागादि को पुद्गल कहा गया है, वहाँ शुद्ध निश्चय से आत्मा का व उसके कर्तृत्व का वर्णन है अत: उस दृष्टि से आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य का कर्ता है। रागादिक शुद्ध चैतन्य रूप नहीं है, अत: इनका कर्तृत्व अशुद्धात्मा के है। इसीलिये ऊपर 'कदाचित्' कर्ता लिखा है, सर्वथा और सर्वदा नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि जीव जब मोह रागादि अज्ञान भाव रूप परिणत होता है तब वह अज्ञानी है, और उस अज्ञान भाव को कर रहा है। अत: अशुद्धोपादान से वह उस अज्ञान भाव का कर्ता अशुद्ध निश्चय नय से है किन्तु ज्ञानी जीव ज्ञान भाव ही करता है, रागादि नहीं करता अत: यह शुद्ध नय से ज्ञान भाव का कर्ता है, रागादि का कर्ता नहीं है। इस प्रकार नय विभाग से दोनों वर्णन समझ लेने चाहिये, विरोध नहीं है। अज्ञान भी ज्ञान की

विकारी परिणति है। रागादि से युक्त होने पर उसी ज्ञान की 'अज्ञान' संज्ञा होती है। किसी भी दशा में हो आत्मा तो ज्ञान स्वरूप ही है। रागादि होने पर भी रागादि स्वभावी नहीं है।

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ।। ६२ ।।

अन्वयार्थ – **(आत्मा ज्ञानं)** आत्मा ज्ञान स्वरूप वाला है **(स्वयं ज्ञानं)** अथवा आत्मा स्वयं ज्ञान ही है **(ज्ञानात् अन्यत्)** ज्ञान से भिन्न **(किम् करोति)** और क्या करता है ? **(परभावस्य)** ज्ञानावरणादि या घटादि कर्म का **(कर्ता आत्मा)** कर्ता आत्मा है **(अयम्)** यह **(व्यवहारिणाम्)** व्यवहारीजनों का **(मोहः)** मोह है अथवा भ्रम है।

भावार्थ – आत्मा उपयोग लक्षण वाला है, अतः स्वयं ज्ञान रूप है, ज्ञानमय है। सदाकाल चैतन्योपयोग रूप रहता है। शुद्ध दशा में शुद्ध ज्ञानोपयोग रूप है और अशुद्ध रागादि युक्त दशा में अशुद्ध ज्ञानोपयोग रूप है। ज्ञानरूपता का परित्याग कभी हो सकता नहीं है।

अनादिकाल से जब जीव निगोद जैसी क्षुद्र पर्याय में रहा तब भी अक्षरानंत भाग ज्ञान उसमें था। उस समय भी ज्ञान में अनंतांश थे। फिर अन्यान्य पर्यायों में भी पर्याय-समास, अक्षर-अक्षर समास, पद-पद समास आदि रूप से ज्ञान वृद्धि को प्राप्त होता गया। अंत में वही केवलज्ञान रूप में प्रगट होता है।

इस तरह सदाकाल ही यह आत्मा अपनी चैतन्य पर्यायों में जगमगाता रहता है। जैसे अग्नि एकमात्र स्फुलिंग रूप में हो या दावानल रूप में सारे वन में फैल रही हो, किन्तु उसका जो स्वरूप है वह छोटी-बड़ी सब अवस्थाओं में है, इसी प्रकार यह आत्मा सभी पर्यायों में चैतन्य ज्योति से जगमगाता हुआ उस चैतन्य भाव का कर्ता है किन्तु शरीरादि व ज्ञानावरणादि पुद्गल भावों का कर्ता कदाचित् भी नहीं होता यह निष्कर्ष है।

जैसे लौकिकजन घट-पट आदि का कर्ता कुम्भकार या पटकार है ऐसा शब्द द्वारा बतलाकर उनका कर्ता कुम्भकार या जुलाहा को कहते हैं परन्तु ऐसा उनका कथन यथार्थ नहीं है, मात्र उपचार है। इसी प्रकार आत्मा इन्द्रियों का, शरीर का तथा ज्ञानावरणादि का कर्ता है ऐसा कथन उपचार मात्र है। निमित्तकारण से ऐसा उपचार करने में आता है पर वह परमार्थ से भिन्न है। जब जीव पुद्गल में अपने गुण ज्ञानादि नहीं दे सकता तथा पुद्गल जीव में अपने गुण रूप, रसादि नहीं दे सकता तब उनका कर्ता कैसे कहा जा सकता है ? जीव के परिणाम रागादि के रूप में जब होते हैं तब पुद्गल कार्मण-वर्गणा स्वयं ज्ञानावरणादि रूप परिणत हो जाता है तथा पुद्गल कर्म की जब उदयावस्था रूप निमित्त हो तब जीव स्वयं रागादि रूप परिणत हो जाता है। ऐसी अवस्था में परस्पर के निमित्त मात्र से कर्ता कहना उपचार मात्र है, परमार्थ नहीं है। व्यवहार नय ऐसा उपचरित कथन करता है। यहाँ पर प्रश्नोत्तर रूप कलश आचार्य स्वयं उपस्थित करते हैं –

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव, कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव ।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय, संकीर्त्यते श्रृणुत पुद्गलकर्म कर्तृ ।। ६३ ।।

अन्वयार्थ – **(यदि जीवः पुद्गलकर्म नैव करोति)** यदि जीव पुद्गलकर्म नहीं करता **(तर्हि कस्तत् कुरुते)** तो कौन उसे करता है ? **(इत्यभिशङ्कयैव)** ऐसी आशंका से ही अब **(एतर्हि तीव्ररय मोहनिवर्हणाय)** प्रश्नकर्ता के तीव्र वेग वाले मोह को दूर करने के लिए **(संकीर्त्यते)** कहते हैं **(श्रृणुत)** सुनो **(पुद्गलकर्म कर्तृ)** पुद्गल ही ज्ञानावरणादिका कर्ता है अन्य द्रव्य उसका कर्ता नहीं है।

भावार्थ – जीव ही घट–पटादि का कर्ता है क्योंकि वह चेतन है। इसी प्रकार वही कर्म का कर्ता भी है। अचेतन द्रव्य अचेतन होने से ही कर्ता नहीं बनता इस विभ्रम को दूर करने को आचार्य कहते हैं कि कर्म का कर्ता जीव है, पुद्गल नहीं है।

कहा जा चुका है कि जीव चार कारणों से बंध को प्राप्त होता है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग यह चारों बंध के कारण हैं। यह चार सामान्य प्रत्यय हैं। इनके विशेष भेद ०१ से लेकर १३ गुणस्थान हैं।

प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व की मुख्यता के कारण बंध करता है। दो, तीन, चार गुणस्थानों में अविरति की मुख्यता है, यद्यपि मिथ्यात्व भाव नहीं है तथा दो, तीन गुणस्थान में सम्यक्त्व भाव भी नहीं है तथापि व्रत के अभाव से अविरति परिणाम मुख्यता से बंध का कारण है। पंचम गुणस्थान देशविरति रूप है। षष्ठादि गुणस्थानों की गणना कषायाधीन गुणस्थानों में की है, दशम गुणस्थान तक कषायोदय बंध का कारण है। बारहवाँ, तेरहवाँ गुणस्थान योग के कारण बंध कर्ता है, इस तरह उन सामान्य चार के भेद इन तेरह रूप होते हैं।

द्रव्य शुद्ध का अर्थ है कि जीव द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है। पर्याय शुद्ध का अर्थ है कि वर्तमान अशुद्ध पर्याय को मिटाकर निरुपाधि स्वभाव प्रगट हो जाने पर मुक्तावस्था हो। जैसे द्रव्यदृष्टि यथार्थ है वैसे ही पर्यायदृष्टि भी यथार्थ है, अत: दोनों नय यथार्थता का ही प्रतिपादन करते हैं तथापि जो नय पर्याय निरपेक्ष अर्थात् पर्याय पर दृष्टि न रखकर गौण कर स्वभाव को देखता है वह द्रव्य दृष्टि है और जो नय स्वभाव को गौणकर वर्तमान पर्याय को देखता है उसे पर्याय दृष्टि या व्यवहार दृष्टि कहते हैं।

व्यवहार दृष्टि को (स्वभाव दृष्टि से) असत्यार्थ कहा जाता है क्योंकि व्यवहार या तत्कालीन पर्याय जीव का त्रैकालिक स्वभाव नहीं है। फलत: अशुद्ध जीव के विकारी भाव मिथ्यात्व–कषायादि भाव हैं, जिन्हें बंध का कारण कहते हैं, चूंकि वे पर्याय हैं, सोपाधि हैं, अत: वह बंध कर्ता हैं। जीव द्रव्य बंध कर्ता नहीं है, इसका तात्पर्य इतना ही है कि जीव का त्रैकालिक स्वरूप बंध का कर्ता नहीं है। अत: जीव बंध कर्ता नहीं है, ऐसा कहने में कुछ बाधा नहीं है। मिथ्यात्व आदि प्रत्यय बंध के कारण हैं और स्वभाव भाव न होने से चेतन से भिन्न अचेतन हैं। ऐसा कथन करने में कुछ बाधा नहीं है।

अत: यह स्थित हुआ कि –

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ।। ६४ ।।

अन्वयार्थ – **(पुद्गलस्य परिणामशक्तिः स्वभावभूता)** पुद्गल द्रव्य में परिणमन योग्यता स्वाभाविक रूप में है **(इति अविघ्ना स्थिता)** यह वार्ता निर्बाध सिद्ध है **(तस्यां स्थितायाम्)** इस बात के स्थित हो जाने पर **(सः यम् आत्मनः भावं करोति)** पुद्गल द्रव्य अपनी जिस पर्याय रूप परिणमता है **(स एव तस्य कर्ता)** उस समय उस पर्याय का कर्ता वही पुद्गल द्रव्य है।

भावार्थ – द्रव्यों में परिणमन की योग्यता स्वयं होती है। स्वयं की परिणमनशीलता के बिना वे पर निमित्त के रहने पर भी परिणमन नहीं कर सकते। इस सामान्य नियम का सद्भाव छहों द्रव्यों में है। अत: पुद्गल द्रव्य में भी है। पुद्गल द्रव्य के कर्मरूप परिणमन में मिथ्यात्वादि प्रत्यय निमित्त रूप हैं। पर–प्रत्ययों को यथार्थ कारणता नहीं है किन्तु यथार्थ कारणता उस पुद्गल द्रव्य की परिणमनशीलता को है। पर्याय की प्राप्ति

पुद्गल द्रव्य को होती है, अत: पर्याय का कर्ता पुद्गल द्रव्य है और पर्याय उस कर्ता का यथार्थ कर्म है। चूंकि उस पर्याय का भोग भी पुद्गल करता है, यदि वह कर्ता न होता तो भोक्ता भी न होता। जो कर्ता सो भोक्ता होता है।

प्रश्न – कर्म बंध का फल तो जीव ही भोगता है, अत: जीव को उसका कर्ता कहना चाहिये।

समाधान – नहीं, जीव तो कर्म बंध की उदयावस्था होने पर उसके निमित्त से अपने में जो पर्याय सुख–दु:ख, रागादिरूप प्रकट करता है, उस अपने भाव का कर्ता होता है, कर्मरूप पर्याय का कर्ता तो कर्म पुद्गल ही होता है।

प्रश्न – जीव ही तो अपने मिथ्यात्व आदि भावों से उन्हें कर्मरूप परिणमाता है अत: जीव को कर्ता कहना चाहिये ?

समाधान – जीव के मिथ्यात्व आदि भाव उन्हें कर्मरूप परिणमाते हैं ऐसा कथन करने पर यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि अपरिणमनशील पुद्गलों को कर्मरूप परिणमाते हैं ? या परिणमनशील को ? यदि अपरिणमनशील को परिणमन कराता हो तो उसमें अपरिणमनशीलता कहाँ रही ? जो पर निमित्त से परिणम गया उसमें अपरिणमनशीलता की बात कहना गलत है।

यदि कहो कि पुद्गल परिणमनशील तो है, तो कहना होगा कि इसी स्वभाव के कारण परिणमता है, जीव के परिणाम उस परिणमन को नहीं कराते। वे निमित्त मात्र अवश्य हैं।

यदि जीव के मिथ्यात्व आदि भाव ही पुद्गल को परिणमनशीलता के अभाव में भी परिणमन करा सकते तो शास्त्रकार ऐसा न लिखते कि 'कार्माण वर्गणाएँ अर्थात् जिनमें कर्मरूप परिणमन की योग्यता है वे ही ज्ञानावरणादि कर्मरूप बनती हैं।' तब तो वचन वर्गणा, मनो वर्गणा आदि २३ प्रकार की वर्गणाएँ वे सब मिथ्यात्व आदि भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि रूप बन जाती हैं। पर शास्त्रीय नियम इसके विरुद्ध है।

शास्त्रीय नियमों के अनुसार केवल कार्माण वर्गणा ही कर्मरूप बन सकती है। वे मन या वचन रूप नहीं बन सकती। इसी प्रकार मनो वर्गणा ही मनरूप परिणमन कर सकती हैं, वे कर्म या वचन नहीं बन सकतीं। वचन वर्गणाएँ वचनरूप परिणमन कर सकती हैं, वे ज्ञानावरणादि कर्मरूप या मनरूप नहीं बन सकती। इससे सिद्ध है कि तेईस प्रकार की वर्गणाएँ अपनी–अपनी स्वजातिरूप पर्याय को ही प्राप्त हो सकती हैं, अन्य पर्यायारूप नहीं। उनको पर्याय परिवर्तन के लिये वे ही निमित्तकारण बन सकेंगे जो उनके अनुकूल परिणमन को प्राप्त होंगे। अत: सिद्ध है कि निमित्त कारण किसी दूसरे द्रव्य को बलात् परिणमन नहीं करा सकता, किन्तु अपनी योग्यतानुसार परिणमनशील द्रव्य को मात्र उससे स्वयं सहायता प्राप्त हो जाती है।

सहायता का अर्थ कर्तृत्व नहीं है। उसका व्युत्पत्ति अर्थ 'सह असंयते' इति सहायक: ऐसा है। अर्थात् जो परिणमन शील पदार्थ के अपनी परिणतिरूप परिणमन के काल में उसके साथ–साथ चलें अर्थात् अनुकूलरूप परिणमन अपना करें (पर का नहीं) उसे सहायक कहते हैं।

परिणमनशीलता प्रत्येक पदार्थ में स्वयं के कारण स्वयं सिद्ध है। जो नियम पुद्गल द्रव्य के लिये हैं वे ही जीव द्रव्य के लिये भी हैं। जीव भी परिणमनशील द्रव्य है। परिणमन करना उसका भी स्वभावभूत धर्म है। यदि ऐसा न हो तो क्रोधादिरूप कौन परिणमन करावे ?

प्रश्न – कर्मोदय जीव को क्रोधादि परिणमन कराता है ऐसा क्यों नहीं मानते ?

उत्तर – जीव परिणमन स्वभाव वाला है। अपने इस स्वभाव के कारण ही कर्मोदय के निमित्त को पाकर क्रोधी बनता है। द्रव्य सर्वथा नित्य होता तो निमित्त के सहयोग से परिणमन भी नहीं कर सकता था।

इस निम्न पद्य द्वारा प्रतिपादन करते हैं –

स्थितेति जीवस्य निरंतराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत् स कर्ता ।। ६५ ।।

अन्वयार्थ – **(जीवस्य परिणामशक्तिः स्वभावभूता)** जीव द्रव्य में भी परिणमन स्वभाव स्वतः से ही है यह बात **(निरंतराया इति स्थिता)** निर्बाध रूप से सिद्ध हुई **(तस्यां स्थितायाम्)** इस बात के सिद्ध होने पर **(यं स्वस्य भावम्)** अपने जिस भाव को **(स करोति)** वह जीव करता है **(तस्यैव)** उस भाव का **(स एव कर्ता भवेत्)** वही कर्ता होता है।

भावार्थ – जीव द्रव्य भी जिस–जिस समय जो–जो भाव करता है अर्थात् शुभ, अशुभ, शुद्ध रूप परिणमन करता है, उस काल में उस–उस भाव का कर्ता होता है क्योंकि जीवद्रव्य भी पुद्‌गल की तरह स्वयं परिणमन स्वभाव वाला है।

ज्ञानी सदा अपने ज्ञानमय भाव को करता है, अतः उनका वह कर्ता है और ज्ञानमय भाव उसका कर्म है। अज्ञानी अज्ञानमय भाव करता है, वह उन भावों का कर्ता है और अज्ञानमय भाव उसके कर्म हैं। जीव पर द्रव्य का कर्ता त्रिकाल में नहीं है।

यहाँ प्रश्न –

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ।। ६६ ।।

अन्वयार्थ – **(ज्ञानिनः)** ज्ञानी पुरुष के **(ज्ञानमय एव भावः)** ज्ञानमय भाव ही **(भवेत्)** होता है **(न पुनः अन्यः)** दूसरे भाव नहीं होते **(इति कुतः)** ऐसा किस कारण से है ? **(अज्ञानमयः सर्वः)** तथा सम्पूर्ण अज्ञानमय भाव **(अज्ञानिनः)** अज्ञानी जीव के होते हैं **(नान्यः)** अन्य भाव नहीं होते **(इत्यपि कुतः)** ऐसा भी क्यों है ?

भावार्थ – ज्ञानी के भाव ज्ञानरूप हों इसमें आपत्ति नहीं है, परन्तु सदा ज्ञानरूप ही होवें, कभी भी अन्य रूप न हों, ऐसा किस कारण से कहा जाता है ? अज्ञानी के अज्ञानमय भाव ही हों कभी भी ज्ञानमय भाव न हों इसका भी क्या कारण है ? ऐसा प्रश्न है।

इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है –

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ताः भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ।। ६७ ।।

अन्वयार्थ – **(ज्ञानिनः सर्वे भावाः)** ज्ञानी के सभी भाव सदाकाल **(ज्ञाननिर्वृत्ताः)** ज्ञान द्वारा रचित **(हि भवन्ति)** ही होते हैं **(अज्ञानिनस्तु ते)** वे भाव अज्ञानी जीव के **(अज्ञान निर्वृत्ताः एव सर्वे)** सभी अज्ञान रचित ही **(भवन्ति)** होते हैं।

भावार्थ – ज्ञानी जीव का ज्ञानोपयोग शुद्ध चैतन्य से रचित है, अतः उसमें जो–जो भाव होंगे वे सब

शुद्ध चैतन्य की परिणति रूप होंगे तथा अज्ञानी के अज्ञानमय ही भाव होंगे। जैसे – किसी नदी का बहता हुआ पानी जब ऐसी भूमि पर से निकलता है जिसका रक्तवर्ण हो तब वह जल लाल वर्ण का होकर बहता है। वही जल जब कंकरीली स्वच्छ भूमि पर बहता है तब स्वच्छ रहता है। लाल मिट्टी घुलनशील है अत: उसका रंग पानी में घुल जाने से जल लाल होकर प्रवाहित होता है। रेत या कंकड़ घुलनशील नहीं है, अत: वहाँ का जल स्वच्छ होकर ही बहता है। इसी प्रकार जो मिथ्यादृष्टि जीव हैं, वे मिथ्यात्व की भूमिका पर स्थित हैं अत: उनका परिणाम मोह, राग-द्वेष के रंग से रंगा हुआ ही होता है, इससे यह जीव मोह, राग-द्वेषादि अपने अज्ञान भाव का ही कर्ता होता है।

ज्ञानी जीव के मिथ्यात्व का नाश हो गया है, अत: वह सदा ज्ञान भाव की भूमिका में स्थित होने से अपने को मोह रागादि रूप नहीं करता अत: जिस ज्ञान भाव रूप उसका परिणमन है वह उस भाव का कर्ता होता है, अन्य भावों का नहीं।

अज्ञानी जीव के कर्तव्य का स्पष्टीकरण करते हैं –

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ।। ६८ ।।

अन्वयार्थ – **(अज्ञानी)** मिथ्यादृष्टि **(अज्ञानमयभावानाम् भूमिकां व्याप्य)** अज्ञानमय भावों की धरणी को प्राप्त कर **(द्रव्यकर्मनिमित्तानाम् भावानाम्)** द्रव्यकर्म के बंध के लिए निमित्त कारणभूत **(भावानाम्)** परिणामों की **(हेतुताम्)** उपादान कारणता को **(एति)** प्राप्त होता है।

भावार्थ – जिस प्रकार ज्ञानी ज्ञानमय भाव में तन्मय होने के कारण ज्ञान भाव का कर्ता होने से अबंधक है, उसी प्रकार अज्ञानी अज्ञानमय भावों से तन्मय होने से कर्म बंध का कर्ता है। कर्म बंध में आत्मा के मिथ्यात्व रागादि परिणाम बाह्य निमित्त हैं तथा पुद्गल द्रव्य की परिणमनशीलता मुख्य या अंतरंग कारण है। जीव के मिथ्यात्व रागादि रूप परिणमन में कर्म का उदय बाह्य निमित्त है और आत्मा की परिणमनशीलता मुख्य या अंतरंग कारण है।

प्रश्न – मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव मिथ्यात्वी होता है, यह आगम में प्रसिद्ध है, क्या इसे आप स्वीकार नहीं करते ?

समाधान – आगम में जो लिखा है उसका तात्पर्य मिथ्यात्व के भाव की उत्पत्ति में बाह्य कारण क्या है उसको दिखाना है। अंतरंग कारण का निषेध करना उसका अर्थ नहीं है। वह तो मुख्य है।

प्रश्न – यह कैसे जाना जाये ?

समाधान – यह ऐसे जानना चाहिये कि आगम पर कर्तृत्व का निषेध करता है अत: कर्म को कर्ता स्वीकार करना उपचरित है। मुख्य कर्तापना वस्तु की परिणमनशीलता रूप स्वभाव को है।

दोनों नय केवल वस्तु के वर्णन में दो पक्ष हैं, किन्तु नयों द्वारा वस्तु के स्वरूप को जानकर पक्षपात रहित होना ही श्रेयस्कर है, इसी तथ्य को निम्न पद्य प्रकट करता है –

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशान्तचितास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ।। ६९ ।।

अन्वयार्थ – **(यो)** जो सम्यग्दृष्टि वीतरागी पुरुष **(नयपक्षपातं मुक्तवा)** नय पक्षों के विकल्पों की

चर्चा को छोड़कर **(नित्यम् एव)** सदा ही **(स्वरूपगुप्ता निवसन्ति)** अपने निज स्वरूप में ही निवास करते हैं। **(विकल्पजालच्युतशान्तचिताः)** नय पक्षों के विविध विकल्पों के समूह से भिन्न, निर्विकल्प रूप शान्त चित्त वाले **(ते एव)** वे पुरुष ही **(साक्षात् अमृतं पिबन्ति)** साक्षात् अमृत पीने वाले हैं अर्थात् वे ही जन्म – मृत्यु से रहित साक्षात स्वरूपानन्द के भोक्ता होते हैं।

भावार्थ – नयों का उपयोग वस्तु के स्वरूप के परिज्ञान तक ही है। शुद्ध नय का विषयभूत जो शुद्धात्मा 'वह उपादेय है' इसमें संदेह नहीं है तथापि उस नय द्वारा जो वस्तु का स्वरूप फलित होता है उसे समझकर 'वैसा स्वरूप मेरा है' उसे अनुभव करें तथा व्यवहार से जो परोपाधि निमित्तक दशा मेरी है वह 'है' इसमें संदेह नहीं है। वह गलत है ऐसी भी बात नहीं है तथापि मेरा वह स्वभाव अब नहीं है। विकारी भाव है, अत: वह अनुपादेय है वह अपनी त्याज्य दशा को त्यागकर तथा उपादेय स्वरूप को ग्रहण कर, दोनों नयों के पक्षपात रूप विकल्पों को भी छोड़कर, अपने उपादेय निज स्वरूप में ही जो निवास करना है अर्थात् सदाचरण रूप प्रवृत्ति करना है वही श्रेयस्कर है।

ऐसा करने वाले ही अपनी आत्मा को स्वरूप रूप अखण्ड आनन्दमय बनाते हैं। इसके विपरीत जो इन्हीं विकल्पों में पड़े रहते हैं कि अमुक नय की अपेक्षा मैं ऐसा हूँ और अमुक नय की अपेक्षा मैं ऐसा हूँ, वे नय जाल में ही पड़े रह जाते हैं। करणीय को करते नहीं हैं, अत: वे मुक्त नहीं होते, इसी सत्य का उद्घाटन आचार्य निम्नानुसार २० पद्यों में करते हैं –

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७० ।।
एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७१ ।।
एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७२ ।।
एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७३ ।।
एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७४ ।।
एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७५ ।।
एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७६ ।।
एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७७ ।।
एकस्य हेतुर्न न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७८ ।।

एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७९ ।।
एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८० ।।
एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८१ ।।
एकस्य सान्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८२ ।।
एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८३ ।।
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८४ ।।
एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८५ ।।
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८६ ।।
एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८७ ।।
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८८ ।।
एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८९ ।।

अन्वयार्थ - **(एकस्य बद्धः)** व्यवहार नय का पक्ष है कि जीव कर्मबद्ध है **(न तथा परस्य)** किन्तु शुद्ध निश्चय नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से बद्ध नहीं है **(चिति)** चैतन्य स्वरूप आत्मा के विषय में **(द्वयोः)** इन दो नयों के **(द्वौ पक्षपातौ)** दो प्रकार के अपने-अपने पक्ष हैं **(यः तत्त्ववेदी)** किन्तु जो तत्त्व को जानता है **(च्युतपक्षपातः)** वह इन दोनों नयों के पक्ष में पतन नहीं करता **(तस्य)** उसके ज्ञान में **(खलु)** निश्चय से दृढ़तापूर्वक **(चित् चित् एव)** चैतन्य केवल चैतन्य रूप भासता है।

भावार्थ - परस्पर विरोधी जैसे दिखाई देने वाले दो धर्मों को अपने-अपने विभिन्न दृष्टिकोणों से पदार्थ में देखने वाले दो नय अपना-अपना पक्ष सामने लाते हैं।

संसारी अपेक्षा से देखें तो यह जीव अष्ट कर्मों के बंधन से अनादिकाल से ही बंधा हुआ है, यह व्यवहार नय की दृष्टि का कथन है। वर्तमान अवस्था संसारी प्राणी की ऐसी ही है, इसी से उसे मोक्षमार्ग का उपदेश दिया गया है। यदि वह सर्वथा निर्बंध हो तो समस्त शास्त्रों में उसे मुक्त होने का जो उपदेश दिया है वह

सब शास्त्रों का उपदेश निष्फल हो जायेगा। श्री केवलज्ञानी भगवान ने समस्त संसारी जीवों पर करुणा करके उनके हित रूप तत्त्वरूप उपदेश दिया है तथा गणधर देवादि से आज तक समस्त आचार्यों ने भी भव्य प्राणियों के कल्याण की भावना से मौखिक या लिखित उपदेश दिये हैं। जिनके लिये यह उपदेश हैं वे सभी संसारी प्राणी कर्मबद्ध हैं ऐसा व्यवहार नय का पक्ष है।

निश्चय और व्यवहार नय अपने-अपने दृष्टिकोण से चैतन्य तत्त्व को अबद्ध और बद्ध रूप में देखते हैं, अत: दोनों के दो पक्ष हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि दोनों पक्षों को छोड़कर वस्तु को देखें तो यथार्थ में 'चैतन्य तो चैतन्य मात्र है।' इनमें नयों के नाना विकल्प वस्तु को खण्ड-खण्ड देखते हैं, परन्तु वस्तु तो अखण्ड चैतन्य स्वरूप है, उसमें बद्ध या अबद्धता के विकल्प ही नहीं लाना चाहिये, वह तो स्वयं निर्विकल्प तत्व है। विकल्प दृष्टियाँ उसमें अनेक भेद खड़ा करती हैं। यही बात श्लोक संख्या ७० से ७९ तक में बताई गई है, वे नयों के विकल्प निम्न प्रकार हैं -

एक नय जीव को बद्ध कहता है, तो दूसरा नय उसे अबद्ध कहता है। (श्लोक ७०)

एक नय जीव को मोही कहता है, तो दूसरा नय उसे निर्मोही कहता है। (श्लोक ७१)

अशुद्ध नय जीव को रागी कहता है, तो शुद्ध नय उसे वीतरागी कहता है। (श्लोक ७२)

एक नय जीव को द्वेषी कहता है, तो दूसरा नय उसे वीतद्वेषी कहता है। (श्लोक ७३)

एक नय जीव को रागादि विकार का कर्ता मानता है, तो शुद्ध नय उसे अकर्ता मानता है। (श्लोक ७४)

व्यवहार नय जीव को कर्म फल भोक्ता मानता है, तो निश्चय नय उसे अभोक्ता मानता है। (श्लोक ७५)

व्यवहार नय जीव को प्राणादिमान कहता है, तो निश्चय नय उसे शुद्ध ज्ञान प्राण वाला कहता है। (श्लोक ७६)

व्यवहार नय सूक्ष्म नाम कर्म के उदय के कारण, सूक्ष्म शरीरी जीवों को सूक्ष्म कहता है, जबकि शुद्ध नय जीव को शरीर रहित स्वीकार करने से उसे सूक्ष्म नहीं मानता। (श्लोक ७७)

व्यवहार जीव को हेतु रूप मानता है क्योंकि वह जब रागादि रूप होता है तब कर्म बंध का कारण बनता है और जब कर्मोदय के कारण नाना रूप धारण करता है तब कार्य रूप बनता है। शुद्ध नय का कथन है कि चैतन्य स्वभावी जीव न कारण रूप है और न कार्य रूप है, वह तो पर से सर्वथा भिन्न है, तब उनके कारण से कहा जाने वाला कारण कार्य भाव उसमें नहीं है। (श्लोक ७८-७९)

एक नय उसे स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि से भावात्मक कहता है, तो दूसरा नय पर द्रव्य, क्षेत्र आदि की अपेक्षा उसे नास्तिरूप अभावात्मक कहता है। (श्लोक ८०)

शुद्ध नय से आत्मा एक है, पर से असंयुक्त है। दूसरा नय उसे पर से संयुक्त अनेक रूप में देखता है। (श्लोक ८१)

व्यवहार नय आत्मा को सान्त अर्थात् पर्यायों की विनश्वरता के कारण नाशवान मानता है, तो शुद्ध नय आत्मा को अनंत अविनाशी मानता है। किसी प्रति में सान्तो के शान्तो ऐसा भी पाठ मिलता है तो उसका

अर्थ यह समझना चाहिये कि शुद्ध नय की दृष्टि से जीव राग रहित, विकल्प रहित शांत है, तो दूसरे नय की दृष्टि से, वर्तमान पर्याय में युक्त होने से अशांत है। (श्लोक ८२)

शुद्ध नय आत्मा को नित्य मानता है, तो व्यवहार नय उसे अनित्य मानता है। (श्लोक ८३)

एक नय आत्मा को शब्दों द्वारा वर्णन करने योग्य वाच्य कहता है, तो शुद्ध नय उसे वचन अगोचर अवाच्य मानता है। (श्लोक ८४)

व्यवहारनय जीव को एकेन्द्रिय आदि नर-नारकादि, गुणस्थान, मार्गणास्थान नाना रूप मानता है। शुद्ध नय जीव को नाना रूप नहीं किन्तु एक मात्र शुद्ध स्वरूपी मानता है। (श्लोक ८५)

एक नय आत्मा को चेत्य अर्थात् विचारने योग्य मानता है तो दूसरा नय उस अचेत्य अर्थात् अचिंत्य स्वरूप मानता है। (श्लोक ८६)

एक नय आत्मा को दृश्य मानता है तो दूसरा नय उसे दृश्य नहीं मानता है। (श्लोक ८७)

एक नय आत्मा को ज्ञान का विषय होने से ज्ञेय मानता है, दूसरा नय उसे ज्ञेय नहीं मानता किन्तु स्वयं ज्ञायक स्वरूप मानता है। (श्लोक ८८)

एक नय उसे भात अर्थात् आत्मा प्रतिभासित है ऐसा कहता है, तो दूसरा नय उसे अभात अर्थात् अप्रतिभासित मानता है। (श्लोक ८९)

इस प्रकार विविध नय बद्ध-अबद्ध, मोही-निर्मोही, रागी-वीतरागी, द्वेषी-अद्वेषी आदि विभिन्न विकल्पों के द्वारा जीव को विविध रूप कहते हैं परन्तु दोनों ही प्रकार के नय विकल्पात्मक होने से अग्राह्य हैं। वस्तु न तो निश्चयात्मक है और न व्यवहारात्मक है। शुद्धात्मा का अनुभव समस्त विकल्पों से परे है।

जो आत्म तत्व का अनुभव करने वाले ज्ञानी पुरुष हैं वे दोनों नयों के पक्षपात से रहित होकर आत्मा को मात्र चैतन्य स्वरूप अनुभव करते हैं। आत्मा उस अनुभव के समय प्रमाण, नय, निक्षेप आदि जो पदार्थ के जानने के उपाय मात्र हैं, उन उपायों की कक्षा से ऊपर 'उपेय' भाव को स्वयं प्राप्त होकर, स्वयं का अनुभव करता है। अत: वे अनुभवी जन नये पक्ष सम्बंधी विकल्पों से रहित आत्म स्वरूप के अनुभवी हैं।

अनुभूति मात्र तत्त्व निर्विकल्प है -

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ।। ९० ।।

अन्वयार्थ - **(एवं)** इस प्रकार **(स्वेच्छा समुच्छलत्)** वक्ता की इच्छानुसार उठने वाले **(अनल्प विकल्पजालाम्)** नाना प्रकार के विकल्प के जालों से पूर्ण **(महतीं नयपक्षकक्षाम्)** बड़ी भारी नय पक्षों की श्रेणी को **(व्यतीत्य)** पार करके वह तत्त्ववेदी **(अन्तः बहिः समरसैकरसस्वभावम्)** भीतर और बाहर दोनों में समता रस रूप एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे **(अनुभूतिमात्रम् एकं स्वं भावम्)** अनुभव मात्र अपने निज भाव को **(उपयाति)** प्राप्त होता है।

भावार्थ – विभिन्न दृष्टिकोणों से पदार्थ विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है। समुदाय रूप में यह नय विकल्प भी एक जाल है, जिससे ज्ञाता विकल्पों में उलझ जाता है। जब तक पूर्ण वस्तु का बोध न हो तब तक तो इन विकल्पों की आवश्यकता रहती है। इनके बिना वस्तु स्वरूप भी समझ में नहीं आता तथापि वस्तु का स्वरूप समझ लेने पर इन नयों की आवश्यकता नहीं रह जाती। स्वरूप जानने के लिये नय केवल साधन हैं। साध्य प्राप्ति हो जाने पर साधनों की आवश्यकता नहीं रह जाती। साध्य की उपलब्धि के बिना यदि साधन अनुपयोगी मान लिये जायें तो भी साध्य की प्राप्ति नहीं होती तथा साधनों में उलझा रहे, उनका उपयोग कर वस्तु को न पकड़े तब भी साध्य की उपलब्धि नहीं होती। इस नियम के अनुसार ही ज्ञानी जीव नय पक्ष के द्वारा आत्म वस्तु के स्वरूप को उपलब्ध करता है, और फिर आत्मानुभूति मात्र निज भाव को, जो समता रस से भरा है, उसका अनुभव करता है तब अनुभव के समय प्रमाण, नय, निक्षेप आदि भी अप्रतिभासित हो जाते हैं।

मैं केवल चैतन्य तेज हूँ –

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्-
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ।। ९१ ।।

अन्वयार्थ – **(तत् चिन्महः अस्मि)** मैं वह शुद्ध चैतन्य मात्र तत्त्व हूँ कि **(यस्य विस्फुरणमेव)** जिसके प्रकट होने से **(तत्क्षणम्)** तत्काल **(पुष्कलोच्चल विकल्पवीचिभिः)** पुष्ट चंचल विकल्प रूपी तरंगों से **(उच्छलत्)** उछलने वाला नय विकल्प रूप **(इदमेव इन्द्रजालम्)** यह सम्पूर्ण इन्द्रजाल **(अस्यति)** नष्ट हो जाता है।

भावार्थ – जब वीतरागी पुरुष सबसे भिन्न अपने चैतन्य मात्र आत्म तत्त्व का अनुभव करता है उस समय तत्त्वोपलब्धि के लिये श्रुतज्ञान के जितने नय, प्रमाण, निक्षेपात्मक भेद-प्रभेद साधन रूप थे, उनको पार कर जाता है। उस काल में उपयोग में एक चैतन्य तेज ही ठहरता है। जैसे – रात्रि के अंधकार में वस्तु को देखने-जानने के लिये विविध प्रकार के प्रकाशकारक पदार्थों का लोग उपयोग करते हैं, परन्तु उनका उपयोग उन्हें देखने के लिये नहीं है, किन्तु उनके प्रकाश में वस्तु देखने-जानने के लिये ही होता है।

दीपक के देखने को दीपक नहीं जलाया जाता, वस्तु को देखने को दीपक जलाया जाता है। प्रभात में सूर्योदय हो जाने पर दीपक का तेज स्वयं लुप्त हो जाता है, इसी प्रकार आत्म सूर्य के उदित होने पर नय विकल्प समूह स्वयं नष्ट हो जाते हैं, उन्हें मिटाने का कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

स्वानुभूति समस्त पुरुषार्थ का फल है। जैसे बने वैसे जिन साधनों से बने उन साधनों से आत्मा की उस स्वानुभूति को अपने में प्रकट करना चाहिये। उसके होने पर अन्य अनुभूतियाँ स्वयं लुप्त हो जाती हैं।

मैं अपार समयसार का ही चिंतन करता हूँ –

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ।। ९२ ।।

अन्वयार्थ – **(चित्स्वभावभरभावितभावाऽभावभावपरमार्थतया)** चैतन्य स्वभाव से परिपूर्ण

तथा भाव अर्थात् उत्पाद, अभाव अर्थात् व्यय, तथा फिर भाव अर्थात् ध्रौव्य रूप होने से परमार्थ दृष्टि से **(एकम्)** एक स्वतन्त्र द्रव्य है, वही **(अपारं समयसारम्)** अनन्त गुणात्मक आत्म तत्त्व है, उसे **(समस्तां बन्धपद्धतिम् अपास्य)** कर्म बन्ध के मार्ग रूप जो रागादि विकल्प जाल उन्हें दूर करके **(चेतये)** मैं अनुभव करता हूँ।

भावार्थ – आत्म तत्त्व चैतन्य स्वभाव से भरा हुआ है, परमार्थ वस्तु है। उत्पाद, व्यय, धौव्यात्मक लक्षण वाला सत्तावान द्रव्य है। नय पक्ष को अतिक्रांत करके उसको अनुभव करता हूँ, उस काल में ज्ञान के विकल्प दूर हो जाते हैं तथा कर्मबंध के कारण रागादि विकल्प भी दूर हो जाते हैं। कर्मबंध का मार्ग दूर होकर आत्मा निर्बन्ध हो जाता है। अतः अनुभव में चैतन्य स्वभाव से भिन्न जो जड़रूप रागादि भाव उनके अभाव स्वरूप ही आत्म तत्त्व है। बंध के कारण रागादि के अभाव से वह बंध के मार्ग से सर्वथा दूर है। इस प्रकार अनंत समय सत् का अनुभव ही संसार दशा को छुड़ाकर जीव को मुक्त दशा में पहुँचाता है।

समयसार ही पुराण पुरुष है, भगवान है –

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां बिना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम् ।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ।। ९३ ।।

अन्वयार्थ – **(नयानां पक्षैर्बिना)** नय पक्ष रूप विकल्पों के बिना जो **(अचलं अविकल्पभावं आक्रामन्)** निश्चल निर्विकल्प भाव को प्राप्त **(समयस्य यः सारः)** जो आत्म तत्त्व का रहस्य है **(निभृतैः स्वयं आस्वाद्यमानः)** वह निश्चल रूप से स्वयं अनुभव रूप स्वाद में **(भाति)** प्रतिभासित होता है, वह **(विज्ञानैकरसः)** विज्ञान रूप जो एक रस तत्स्वरूप है, **(स एष भगवान्)** यही तो भगवान् है, **(पुण्यः पुराणः पुमान्)** यही पवित्र है इसे ही पुराण पुरुष कहते हैं, **(ज्ञानदर्शनम् अपि अयम्)** यही दर्शनात्मक और ज्ञानात्मक है **(किम् अथवा)** अथवा हम उसे किन शब्दों में कहें ? **(एकः अपि अयं)** यह स्वयं सब एक ही **(यत् किचन)** जो कुछ है सो है।

भावार्थ – स्वानुभव कैसे होता है, और स्व क्या है ? यह इस कलश में आचार्य प्रतिपादन करते हैं। नय का लक्षण किया गया है – 'वस्तु स्वरूप प्रतिपादन कुशल प्रयोगो नयः' अर्थात् वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन करने में जो कुशल प्रयोग है उसे नय कहते हैं। इसका सारांश यह हुआ कि नयात्मक वस्तु नहीं है, वह तो उसे जानने का प्रयोग मात्र है। वह प्रयोग ज्ञानात्मक है। श्री आचार्य उमास्वामी ने भी 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र द्वारा तत्त्वार्थसूत्र में यही प्रतिपादित किया है कि प्रमाण और नय दोनों वस्तु के जानने के उपाय हैं, उनसे वस्तु स्वरूप जाना जाता है।

अनुभव अनुभवात्मक या मात्र रसात्मक है। आत्मा को अपने स्वरूप का स्वाद आता है। उस समय ज्ञान के सन्मुख केवल आत्मस्वरूप ही एक मात्र ज्ञेय रहता है। अन्य सम्पूर्ण ज्ञेय ज्ञान के सामने से दूर हट जाते हैं। ज्ञेय स्वरूप आत्मा के सन्मुख रहते हुए भी उसे यह भी विकल्प नहीं होता कि मैं ज्ञाता हूँ और आत्मा ज्ञेय है किन्तु वह स्वरूप में डूब जाता है।

उस समय आत्मा ज्ञाता–ज्ञेय रूप होते हुए भी ज्ञान एक रस रूप है। ज्ञान एक रस रूप आत्मा ही भगवान है, परमात्मा है क्योंकि आत्मा की परमोत्कृष्टता अपने स्वरूप की उपलब्धि में ही है। वही उसका वैभव है। अपने स्वरूप में निमग्न आत्मा ही पुण्य रूप अर्थात् पवित्र रूप है। प्रत्येक पवित्र पदार्थ का स्वरूप केवल स्वरूप निमग्नता ही है। परसम्पर्क ही अपवित्रता का हेतु बनता है।

आत्मा अनिर्वचनीय है, उसे शब्दों से नहीं कहा जा सकता, उसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है, यही अंतिम निष्कर्ष है –

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनाम् आत्मानमात्माहरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ।। ९४ ।।

अन्वयार्थ – **(अयम्)** यह आत्मा **(निजौघाच्च्युतः)** अपने निज स्वरूप से च्युत हुआ **(दूरं)** अनादिकाल से निज स्वरूप से दूर **(भूरिविकल्पजालगहने)** अनेक विकल्प के जालों से गहन स्थानों में **(भ्राम्यन्)** भ्रमण करता आया है, अतः **(दूरात् एव)** अनंतकाल के बाद **(विवेकनिम्नगमनात्)** विवेकरूपी गंभीर स्थान को प्राप्त कर **(तोयवत्)** जल की तरह **(बलात्)** पुरुषार्थ पूर्वक **(निजौघं नीतः)** अपने स्वरूप में लाया गया **(तदेकरसिनाम् विज्ञानैकरसः)** आत्मानुभव के आस्वादन करने वाले रसिया पुरुषों को वह ज्ञानैकरसात्मक आत्मा **(आत्मनि)** अपने में **(आत्मानम् हरन्)** अपने को खींचकर **(सदा)** हमेशा फिर **(गतानुगतिताम् आयाति)** शुद्ध परम्परा को ही प्राप्त होता है।

भावार्थ – जैसे किसी नदी का जल अपने स्थान से च्युत होकर गहन वन में घूमता फिरता, आड़े-तिरछे विविध रूपों को अपने में धारण करता हुआ चक्कर लगाता हुआ फिरता है। वही जल किसी गम्भीर ढाल वाले स्थान को पाकर वहीं आकर मिल जाता है और स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार अनादिकाल से यह आत्मा अपने स्वभाव से च्युत हुआ, संसार रूपी जंगल में चार गति चौरासी लाख योनियों में विविध आकार प्रकार को धारण करता हुआ, विभावों के चक्रजाल में घूमता हुआ दुःखी था। सम्यक्दृष्टि जीव ने अपने उपयोग को उन विकल्प जालों से निकाल कर पुरुषार्थ पूर्वक अपने इस रूप में स्थित किया तब जो उपयोग रागादि भावों में प्रवृत्त था वह उनसे निवृत होकर अखण्ड विज्ञान घन, अनन्त प्रकाशमान स्वभाव का निर्विकल्प होकर अनुभव करता है।

यथार्थ कर्ता और कर्म कौन है –

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ।। ९५ ।।

अन्वयार्थ – **(विकल्पकः)** अपने अंतर में विकल्प रूप परिणाम करने वाला **(परं)** केवल **(कर्ता)** कर्ता है, **(विकल्पः केवलम् कर्म)** और जो विकल्परूप परिणमन वह करता है केवल वह विकल्प ही उसका कर्म है **(सविकल्पस्य)** विकल्प करने वाले जीव के **(कर्तृकर्मत्वं)** इस प्रकार का कर्ताकर्मपना **(न जातु नश्यति)** कभी मिटता नहीं है। सदा कर्ताकर्मपना रहता है।

भावार्थ – यह संसारी जीव पर के कर्तृत्व का अभिमान करता है तथा अपने परिणमन का कर्ता भी अन्य व्यक्ति को या ज्ञानावरणादि जड़ कर्म को मानता आ रहा है। यह दोनों बातें सत्य नहीं हैं। सत्य यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव भी 'मैं पर को करूँ' ऐसा मात्र विकल्प कर सकता है तथापि पर का कुछ कर नहीं सकता, अत: वह विकल्प मात्र का कर्ता अवश्य है तथा जो-जो विकल्प उसे विविध प्रकार के समय-समय पर उत्पन्न होते हैं, वे सब विकल्प उसी के परिणमन स्वरूप होने से उसके 'कर्म' हैं।

'कर्ता जिसे करे वह कर्म' कहलाता है। इस व्याख्या के अनुसार वह केवल विकल्प मात्र करता है, अत: वे विकल्प ही उसके 'कर्म' हैं तथा 'जो कर्म करे वह कर्ता है' इस व्याख्या के अनुसार विकल्प रूप परिणमन करने वाला जीव ही उन विकल्पों का कर्ता सिद्ध होता है। अन्य कोई द्रव्य अन्य किसी द्रव्य की पर्याय रूप परिणमन नहीं करता अत: अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य के परिणमन का कर्ता नहीं होता इसलिये किसी द्रव्य का परिणमन किसी अन्य द्रव्य का कर्म भी नहीं बन सकता। अपने द्रव्य का परिणमन ही अपने द्रव्य का कर्म है, उसका वह स्वयं कर्ता है, ऐसी वस्तु स्थिति है, ऐसा ही जिनागम में प्रतिपादित है।

जो जीव इस यथार्थ वस्तु स्थिति के ज्ञाता नहीं है, वे पर के कर्तृत्व का दम भरते हैं। वे सारे संसार को अपने अनुसार परिणमाने का अपने में सामर्थ्य समझते हैं। प्रयत्न भी उसी प्रकार का करते हैं। वस्तु स्थिति के विपरीत किया गया यह सम्पूर्ण प्रयत्न सफल नहीं होता, तब यह जीव दु:खी होता है। इसके दु:खी होने का कारण एक मात्र यह भ्रम ज्ञान है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, यह भ्रम ज्ञान विकल्प रूप है। जब तक ऐसा विकल्प है तब तक यह उस विकल्प के साथ कर्ता-कर्म भाव रखता है, वस्तु स्थिति का बोध होने पर यह छूट जाता है।

कर्ता और वेत्ता में अंतर –

य: करोति स करोति केवलं, यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
य: करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ।। ९६ ।।

अन्वयार्थ – **(य: करोति)** जो विकल्प का कर्ता है **(स तु केवलं करोति)** वह केवल कर्ता ही है ज्ञाता नहीं **(य: तु वेत्ति)** जो ज्ञाता है **(स तु केवलं वेत्ति)** वह केवल ज्ञाता ही है कर्ता नहीं है **(य: करोति)** जो कर्ता है **(स: न क्वचित् वेत्ति)** वह वस्तुत: कुछ नहीं जानता **(यस्तु वेत्ति)** जो जानता है **(स क्वचित् न करोति)** वह कभी कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही होता है।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु तत्त्व का ज्ञाता है, अत: पर के कर्तृत्व का विकल्प भी उसे नहीं है। जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह 'पर का कर्ता हूँ' ऐसा विकल्प करने से केवल विकल्प का करता है पर का कर्ता वह भी नहीं है।

जो विकल्प का कर्ता है, वह वस्तु स्थिति का ज्ञाता नहीं है अथवा मिथ्यादृष्टि जीव रागादि विकारों का कर्ता है। सम्यग्दृष्टि जीव कर्ता नहीं केवल ज्ञाता है अथवा पुद्गल द्रव्य ही कर्म नोकर्म का कर्ता है, वेत्ता नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानोपयोगी आत्मा वेत्ता है, कर्म नोकर्म का कर्ता नहीं है, ऐसा अर्थ भी घटित होता है और जो वस्तु स्थिति का ज्ञाता है वह विकल्प का कर्ता नहीं है।

जानने और करने में भेद है –

ज्ञप्तिः करोतौ नहि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ।। ९७ ।।

अन्वयार्थ – **(करोतौ)** करोति अर्थात् करता है इस क्रिया में **(ज्ञप्तिः)** जानने रूप क्रिया **(न हि अन्तः भासते)** अन्तः प्रतिभासित नहीं होती, इसी प्रकार **(ज्ञप्तौ)** जानने रूप क्रिया में **(करोतिश्च)** करने रूप क्रिया का **(न हि भासतेऽन्तः)** अन्तः प्रतिभास नहीं होता **(ततो ज्ञप्तिः करोतिश्च विभिन्ने)** इससे यह बात सिद्ध होती है कि ये दोनों क्रियायें भिन्न –भिन्न हैं **(ततः स्थितं)** इससे यह भी स्वयं सिद्ध है कि **(ज्ञाता न कर्ता इति)** जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं होता।

भावार्थ – एक क्रिया अपने कार्य का प्रतिपादन करती है वह कभी अन्य क्रिया रूप नहीं होती। इस समान्य नियम के अनुसार करना और जानना दो विभिन्न क्रियाएँ हैं। करने में जानने रूप क्रिया गर्भित नहीं है। उसका उसमें प्रतिभास नहीं होता, इसी प्रकार जानने रूप क्रिया में करने रूप क्रिया गर्भित नहीं है क्योंकि उसमें उसका प्रतिभास नहीं होता।

सिद्ध है कि ज्ञानी रागादि कर्म का कर्ता नहीं होता, जबकि अज्ञानी का अध्यवसान भाव कर्म बंध का निमित्त कर्ता होता है। अध्यवसान भाव ही स्वयं उसके यथार्थ कर्म हैं, पुद्‌गल कर्म का तो वह कर्ता हो भी नहीं सकता। इसी बात को कहते हैं –

कर्ता कर्मणि नास्ति, नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा, का कर्तृ-कर्मस्थितिः ।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा, व्यक्तेति वस्तुस्थितिः
नैपथ्ये बत नानटीति रभसा, मोहस्तथाप्येष किम् ।। ९८ ।।

अन्वयार्थ – **(कर्ता कर्मणि नास्ति)** कर्ता कर्म में नहीं है **(नियतं)** यह निश्चय है **(कर्म अपि कर्तरि नास्ति)** कर्म भी कर्ता में नहीं है **(द्वंद्वं)** दोनों का द्वन्द्व **(यदि विप्रतिषिध्यते)** यदि निषिद्ध है तो **(तदा का कर्तृ-कर्मस्थितिः)** उस समय दोनों में कर्ता–कर्म भाव की स्थिति कैसे हो सकती है **(ज्ञाता ज्ञातरि)** ज्ञाता सदा अपने में रहता है **(कर्म कर्मणि)** कर्म सदा कर्म रूपता में रहता है **(इति वस्तु स्थितिः)** ऐसी वस्तु की व्यवस्था **(सदा व्यक्ता)** सदा प्रकट है **(तथापि एष मोहः)** तो भी यह एकत्व का मोह **(बत)** खेद की बात है कि **(रभसा)** अपने वेग के साथ **(नैपथ्ये)** रंगभूमि में **(नानटीति)** नृत्य करता है **(इति किम्)** ऐसा क्यों हैं ?

भावार्थ – संसारी जीव कर्म का कर्ता कहा जाता है परन्तु संसारी जीव तो अपने ही पर्याय रूप रहता है, जड़कर्म रूप परिणमन नहीं करता अतः यह फलित हुआ कि कर्ता में कर्म नहीं रहता और न कर्म में कर्ता रहता है। कर्ता जीव, सचेतन है और कर्म जड़ पुद्‌गल है। निश्चय नय की दृष्टि से दोनों द्रव्यों की अपनी–अपनी भिन्न–भिन्न स्थिति है, यद्यपि संसारी अवस्था में एक से दिखाई देते हैं, तथापि वे एक नहीं हैं। लक्षणभेद–सत्ता भेद से दोनों में बहुत अंतर है।

दोनों का द्वंद अर्थात् जड़–चेतन में एकत्व भाव वस्तु स्थिति से ही निषिद्ध है, इसलिये दोनों में कर्ता–कर्म भाव भी परस्पर में नहीं हो सकता।

ज्ञानभाव में स्थित सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि ज्ञाता सदा ज्ञाता ही रहेगा, वह उपयोगात्मक चैतन्य पिण्ड कभी जड़ पुद्गल रूप न बना है, न है, न होगा। इसी प्रकार जड़ पुद्गल कर्म सदा जड़ पुद्गल रूप ही रहा है और रहेगा। वह कभी चैतन्य रूप परिणत नहीं होगा।

जब वस्तु की मर्यादा ही इस प्रकार है तब संसार रूपी रंगमंच पर यह एकत्व का मोह क्यों नृत्य करता है ?

आचार्य कहते हैं कि संसारी जीव वस्तु स्थिति को मोह के कारण समझ नहीं पाते, अतएव जड़-चेतन की एकता रूप अपने परिणाम उत्पन्न कर व्यर्थ ही बंधन में पड़कर दु:ख उठाते हैं।

अथवा यदि मोह जगत रूपी रंगमंच पर नृत्य करता है, तो करे। वस्तु की स्थिति तो जैसी है वैसी ही रहेगी। किसी को रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाये तो वह भयभीत होता है। जानकार तो जानता है कि यह मात्र रस्सी है, सर्प नहीं है, उसे उस भ्रमित व्यक्ति के भयभीत होने पर खेद होता है परन्तु वह उसका भ्रम कैसे दूर करे ? इसी प्रकार आचार्य मोहीजनों की परिणति पर खेद प्रकट करते हुए भी यह निर्देश करते हैं कि मोह नाचता है तो नाचे, वस्तु तो जैसी है वैसी ही है। इसी आशय को व्यक्त करने वाला है यह कलश –

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चैः
चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ।। ९९ ।।

अन्वयार्थ – **(एतत् ज्ञानज्योतिः)** आत्म ज्ञान की यह ज्योति **(चित् शक्तीनां)** अपनी समस्त चैतन्य शक्ति की **(निकरभरतः)** समग्रता के भाव से युक्त **(अत्यन्तगम्भीरम्)** जिसका अंत नहीं इस प्रकार की गंभीरता को लिए **(एतत् अचलं)** यह अविचलित रूप में **(उच्चैः अन्तः व्यक्तम्)** उच्च रूप से अंतरङ्ग में प्रकट **(ज्वलितम्)** प्रकाशमान हुई है, इस स्थिति में **(यथा कर्ता कर्ता न भवति)** जो अपने अज्ञानभाव में जीव कर्म का कर्ता था, वह अब कर्ता नहीं रहा **(कर्म कर्म अपि नैव)** जो अज्ञान भाव के निमित्त को पाकर पुद्गल ज्ञानावरणादि रूप परिणत होता था, अब कर्म रूप नहीं परिणमता किन्तु ज्ञानज्योति के प्रकट होने पर **(यथा च ज्ञानं ज्ञानं भवति)** जैसे ज्ञान का ज्ञान रूप परिणमन होता है वैसे ही **(पुद्गलः अपि पुद्गलः)** पुद्गल का भी पुद्गल रूप ही परिणमन होता है।

भावार्थ – जब तक जीव में आत्मज्ञान नहीं था तब तक पर में एकत्व बुद्धि थी। पर को निज मानकर उनसे रागादि भाव करता था अत: अज्ञानी था। उस अज्ञान भाव के कारण पुद्गल रूप कर्म वर्गणा, ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन करती थीं। जब जीव को आत्मज्ञान हुआ, तब स्व-पर भेदविज्ञान के कारण पर को पर मानकर उससे रागादि छोड़ दिया तब वह ज्ञानी हुआ।

इस स्थिति में यह ज्ञानी ज्ञान भाव का कर्ता रहा, पर निमित्त से जो रागादि भाव करता था उनका कर्तापना छूट गया। जब उसने रागादि भाव नहीं किये तो पुद्गल वर्गणाएँ ज्ञानावरणादि कर्म रूप भी परिणत नहीं हुईं, तब उनका पौद्गलिक रूप में परिणमन तो होगा परंतु ज्ञानावरणादि रूप नहीं होगा। इस स्थिति में कर्ता अब कर्ता नहीं रहा और पुद्गल भी कर्म नहीं रहा। अब तो ज्ञान, ज्ञानरूप ही परिणमन करेगा तथा जड़,

जड़रूप परिणमन करेगा।

सारांश यह हुआ कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही परिणमन का कर्ता है, अन्य के परिणमन का नहीं। भले ही अन्य द्रव्यों की परिणतियाँ उस समय निमित्त मात्र पड़ें। इस नियम के अनुसार जीव द्रव्य भी अपने ही स्वभाव का अथवा विभाव का कर्ता है, अन्य द्रव्य के परिणमन का नहीं। शुद्ध निश्चय नय से तो जीव अपने स्वभाव का ही कर्ता है। विभाव का कर्ता मात्र व्यवहार से या अशुद्ध निश्चय से है। पर द्रव्य की परिणतियों का कर्ता त्रिकाल में भी नहीं है। इसी प्रकार पुद्‌गल कर्म भी निश्चय से त्रिकाल में भी जीव की स्वभाव तो क्या, विभाव परिणति का भी कर्ता नहीं है। आगम ग्रन्थों में लिखा गया है – जीव, कर्म का कर्ता है या कर्म जीव में रागादि उत्पन्न करता है वह व्यवहार नय के आश्रय से लिखा गया है ऐसा जानना चाहिये।

प्रश्नोत्तर –

प्रश्न ०१ – अध्यात्म अमृत कलश के रचयिता कौन हैं एवं इसमें कितने कलश हैं ?

उत्तर – अध्यात्म अमृत कलश के रचयिता आचार्य श्री अमृतचन्द्राचार्य हैं। अध्यात्म अमृत कलश में २७८ कलश हैं।

प्रश्न ०२ – अध्यात्म अमृत कलश में कितने और कौन से अधिकार हैं एवं कर्ता कर्म अधिकार की कलश संख्या कितनी है ?

उत्तर – अध्यात्म अमृत कलश में १२ अधिकार हैं – १. जीवाजीवाधिकार (पूर्वरंग), २. जीवाजीवाधिकार (अन्तर रंग) ३.कर्ताकर्माधिकार, ४. पुण्यपापाधिकार, ५.आस्रवाधिकार, ६. संवराधिकार, ७. निर्जराधिकार, ८. बंधाधिकार, ९. मोक्षाधिकार, १०. सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार, ११. स्याद्वाद अधिकार, १२. साध्य-साधक अधिकार। कर्ताकर्म अधिकार में ५४ कलश हैं।

प्रश्न ०३ – जीव दु:खी क्यों है ?

उत्तर – जीव अपने अज्ञानवश संयोग दशा को प्राप्त कर्म, नोकर्म तथा पंचेन्द्रियों के राग को पुष्ट करने में निमित्तभूत पर पदार्थों को अपने अनुकूल परिणमाने की कर्तृत्वपने की मिथ्या मान्यता के कारण दु:खी होता है।

प्रश्न ०४ – ज्ञान ज्योति कैसी है ?

उत्तर – परम उदात्त, अत्यंत धीर, कर्मोपाधि से रहित, सम्पूर्ण द्रव्यों को उनके गुण पर्यायों सहित जानने वाली है।

प्रश्न ०५ – ज्ञान ज्योति कब प्रगट होती है ?

उत्तर – ज्ञान ज्योति तब प्रगट होती है जब जीव पर के कर्तृत्व की भूल को दूर करता है।

प्रश्न ०६ – जीव पूर्ण ज्ञानी कब बनता है ?

उत्तर – गुणस्थान क्रम से जैसे-जैसे रागादि भावों का अभाव होता जाता है, वैसे-वैसे जीव ज्ञानी बनता जाता है और जब रागादि भाव सर्वथा छूट जाते हैं तब वह पूर्ण ज्ञानी बन जाता है।

प्रश्न ०७ – जीव की अनादिकालीन मोहजन्य एकत्व परिणति कब छूटती है ?

उत्तर – परद्रव्य के संयोगजन्य विकारी परिणति को त्यागकर अभेद रूप ज्ञान जब जीव में उदित होता है,

तब जीव की शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा रागादि भावकर्म के साथ अनादिकालीन मोहजन्य एकत्व परिणति छूटती है।

प्रश्न ०८ - दुःखरूप संसार अवस्था से छूटने का क्या उपाय है ?

उत्तर - अपने ज्ञानानंद स्वभाव की पहचान कर निरंतर यह चिंतन करना कि 'मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य स्वरूप अनंत गुणों का भंडार जीवद्रव्य हूँ। मैं रागादि विकार रहित शुद्ध स्वरूप वाला हूँ। अन्य वस्तुओं से मेरा कोई सम्बंध नहीं है। मेरी निधि तो मेरे ज्ञान, दर्शन आदि गुण हैं।' ऐसा विचार कर अपनी मर्यादा में रहना, उसी में अपने उपयोग को स्थिर करना यही दुःख रूप संसार अवस्था से छूटने का उपाय है।

प्रश्न ०९ - व्याप्य व्यापक किसे कहते हैं ?

उत्तर - द्रव्य को व्यापक और द्रव्य की पर्यायों को व्याप्य कहते हैं।

प्रश्न १० - स्वभाव और विभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो स्वाधीन हो उसे स्वभाव कहते हैं। जो पर के आधीन हो उसे विभाव कहते हैं।

प्रश्न ११ - क्या आत्मा राग-द्वेष आदि अंतरंग विकारों और शरीर के परिणामों का कर्ता है ?

उत्तर - आत्मा राग-द्वेष आदि अंतरंग विकारों का तथा शरीर आश्रित गौर-कृष्ण आदि व सुन्दर-असुन्दर रूप शरीर के परिणामों का कर्ता नहीं है क्योंकि वे पर द्रव्याश्रित हैं, स्वभावाश्रित नहीं हैं।

प्रश्न १२ - जीव का पुद्गल द्रव्य के साथ क्या सम्बंध है और क्यों ?

उत्तर - जीव का पुद्गल द्रव्य के साथ केवल ज्ञेय-ज्ञायक सम्बंध है, क्योंकि पुद्गल द्रव्य जीव की निज वस्तु नहीं है। चैतन्य स्वरूप यह आत्मा जगत का साक्षी मात्र है।

प्रश्न १३ - क्या ज्ञानी विकार रूप परिणत होता है, क्या वह भाव कर्म और द्रव्य कर्म का कर्ता है ?

उत्तर - आत्मस्वरूप का अनुभव करने वाला ज्ञानी कर्मोदय की स्थिति में भी विकार रूप परिणत नहीं होता। इस प्रकार विकार रूप परिणत न होने से वह रागादि भाव कर्म का कर्ता नहीं होता। ज्ञानी भाव कर्म का कर्ता नहीं होता इसलिये द्रव्य कर्म का कर्ता भी नहीं होता।

प्रश्न १४ - रागादि विभाव रूप परिणमन किसमें होता है ?

उत्तर - रागादि विभाव रूप परिणमन जीव में होता है।

प्रश्न १५ - क्या अज्ञानी द्रव्य कर्म का कर्ता होता है ?

उत्तर - द्रव्य कर्म का कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं होता क्योंकि वह भी ज्ञान स्वभावी आत्मा है। वह अपने स्वरूप को नहीं जानता, केवल 'मैं पर का कर्ता हूँ' ऐसी मिथ्या मान्यता के कारण वह अपने को द्रव्य कर्म आदि का कर्ता मानता है।

प्रश्न १६ - कर्ता, कर्म, क्रिया क्या हैं, तीनों भिन्न हैं या एक रूप ही हैं ?

उत्तर - जो द्रव्य अपनी पर्यायों से तन्मय होकर परिणमता है वह कर्ता है। द्रव्य में जो परिवर्तन होता है

वह उस द्रव्य का अर्थात् कर्ता का कर्म है। द्रव्य के परिणमित होते समय उसकी जो परिणति होती है उसे क्रिया कहते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में निश्चय नय की अपेक्षा से कर्ता, कर्म, क्रिया भिन्न-भिन्न नहीं हैं, तीनों एक द्रव्य रूप ही हैं।

प्रश्न १७ - क्या जीव और पुद्गल एक-दूसरे की पर्याय के कर्ता हैं ?

उत्तर - जीव और पुद्गल अपने-अपने में परिणमित होते हैं यह उनका स्वभाव है। अतः वे दोनों अपनी-अपनी पर्यायों के कर्ता हैं। उनमें एक द्रव्य की पर्याय में दूसरा अर्थात् जीव की राग पर्याय में पुद्गल कर्म का उदय, और पुद्गल की कर्म रूप पर्याय में जीव का राग परिणाम निमित्त मात्र अवश्य हैं परन्तु परस्पर वे एक दूसरे के कर्ता नहीं हैं। प्रत्येक द्रव्य अपना कर्ता स्वयं है क्योंकि उसकी पर्याय उसमें ही होती है।

प्रश्न १८ - क्या दो द्रव्यों की एक क्रिया हो सकती है ?

उत्तर - नहीं, दो द्रव्यों की एक क्रिया नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के परिणमन के समय उसकी परिणति उसी में होती है इसलिये दो द्रव्यों की एक क्रिया होना संभव नहीं है। दोनों द्रव्यों की क्रिया भिन्न-भिन्न होती है।

प्रश्न १९ - जीव अपने परिणामों के विकार के कारण पापी है अथवा शरीर की क्रिया के कारण ?

उत्तर - जीव अपने परिणामों के विकार के कारण पापी है, शरीर की क्रिया के कारण नहीं, क्योंकि शरीर की क्रिया तो बाद में होती है, भावों में विकार रूप पाप पहले ही हो चुका होता है।

प्रश्न २० - दो द्रव्य मिलकर किसी एक पर्याय के कर्ता क्यों नहीं होते ?

उत्तर - हर द्रव्य अपनी पर्याय का कर्ता स्वयं ही होता है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है और उसमें होने वाली पर्याय स्वतंत्र है इसलिये दो द्रव्य मिलकर किसी एक पर्याय के कर्ता नहीं होते। यदि दो द्रव्य एक पर्याय के कर्ता होते तो जीव में जो रागादि विकार होते हैं वैसे ही रागादि विकार पुद्गल द्रव्य में भी होते। अतः एक पर्याय का एक ही द्रव्य कर्ता है, दो द्रव्य एक पर्याय के कर्ता नहीं होते।

प्रश्न २१ - एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता है, ऐसा उपचार कथन किसलिये किया जाता है ?

उत्तर - एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का वस्तुतः कर्ता इसलिये नहीं होता क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कोई नवीन गुणों का उत्पादन नहीं कर सकता। जो द्रव्य जिस गुण स्वभाव वाला है, वह अपने गुण स्वभाव रूप ही रहता है, अन्य द्रव्य के गुण स्वभाव रूप में बदलता नहीं है।

जब जीव, पुद्गल में अपने ज्ञानादि गुण नहीं दे सकता, तथा पुद्गल, जीव में अपने रूप, रस आदि गुण नहीं दे सकता तब एक दूसरे को कर्ता कैसे कहा जा सकता है। जीव के परिणाम जब रागादि रूप होते हैं, तब पुद्गल कार्माण वर्गणा स्वयं ज्ञानावरणादि रूप परिणत हो जाती हैं। इसी प्रकार पुद्गल कर्म की जब उदयावस्था होती है, तब जीव स्वयं रागादि रूप परिणत हो जाता है। ऐसी अवस्था में परस्पर निमित्त होने से इन्हें कर्ता उपचार मात्र से कहा गया है, परमार्थ से कर्ता नहीं है।

प्रश्न २२ - आत्म भिन्न पर पदार्थों का संग्रह जीव क्यों करता है ?

उत्तर - अपने एक अखंड अविनाशी ज्ञानघन स्वरूप आत्मा से भिन्न मकान, दुकान, बाग-बगीचा आदि पर पदार्थों का संग्रह मोही जीव अपने विषय-कषाय रूप विकारों के वशीभूत होकर करता है।

प्रश्न २३ - मिथ्यात्व रागादि परिणाम जीव में होते हैं, ऐसा क्यों कहा जाता है ?

उत्तर - मिथ्यात्व रागादि परिणाम जीव में होते हैं यह अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से कहा जाता है। शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से जीव में कोई भी रागादि परिणाम नहीं होते।

प्रश्न २४ - जीव ज्ञान स्वभावी है तो इसे अज्ञानी क्यों कहा जाता है ?

उत्तर - जीव स्वभाव से त्रिकाल ज्ञान स्वरूप है परन्तु इसे अपने ज्ञान स्वभाव का बोध नहीं है। शरीर आदि संयोगों में आसक्त रहते हुए अपने ज्ञान स्वभाव को नहीं जानता इसलिये जीव को अज्ञानी कहा जाता है।

प्रश्न २५ - संसारी प्राणी विषय भोगों में सुख है, ऐसा मानकर किस प्रकार भ्रमित रहता है, उदाहरण से समझाइये ?

उत्तर - एक मृग प्यास से आकुलित होकर रेगिस्तान में दौड़ रहा है। दोपहर में सूर्य के तेज के कारण चमकती हुई रेत दूर से उसे ऐसी प्रतीत होती है कि वहाँ पानी भरा हुआ है। तृषातुर मृग उसे पीने के लिये दौड़ता है। वहाँ यथार्थ में पानी तो है नहीं, तथापि अज्ञान के कारण मृग ने भ्रम से उसे पानी समझ लिया। रेत की इस चमक का नाम लोक में मृगतृष्णा पड़ गया है।

गर्मी के ताप से व्याकुल और पिपासा से दुःखी मृग उस मृग मरीचिका को पानी समझकर दौड़ लगाता है। भीतर प्यास की दाह, ऊपर सूर्य का तेज तथा नीचे तपी हुई रेत का कष्ट, यह सब सहन करके भी उसे जल नहीं मिलता और तृषित होकर हाँफने लगता है। वह जैसे-जैसे आगे बढ़ता है रेत की चमक भी आगे-आगे बढ़ती जाती है। मृग दौड़ता जाता है क्योंकि उस चमक को देखकर उसे लगता है कि आगे तालाब भरा हुआ है। मृग दौड़ते-दौड़ते थक जाता है, शरीर सुस्त पड़ जाता है, गिर पड़ता है और अंतर्दाह की अतिवृद्धि होने से तथा पानी नहीं मिलने के कारण वह प्राण त्याग देता है।

इसी प्रकार यह संसारी प्राणी भी भ्रम से विषयों से सुख प्राप्त होगा, मुझे शांति मिलेगी ऐसे भ्रम से माया मोह में आसक्त होकर दौड़ लगा रहा है। वह सोचता है कि मेरी अंतर्दाह मिट जायेगी पर वह मिटती नहीं, किन्तु संयोगी पदार्थों में सुख है ऐसी भावना रूप मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने से विषयों की चाह की दाह बढ़ती जाती है। अंत में, यह उनका दास बना हुआ आकुल-व्याकुल होकर प्राण छोड़ देता है।

(विशेष समझने के लिये अध्यात्म अमृत कलश ५८ की टीका का अध्ययन करें।)

प्रश्न २६ - ज्ञानी की दृष्टि कैसी होती है और वह किसको ग्रहण करता है ?

उत्तर - ज्ञानी की दृष्टि क्षीर-नीर विवेक जैसी होती है। जिस प्रकार हंस पानी मिले हुए दूध में चोंच डालकर पानी-पानी छोड़ देता है और दूध-दूध पी लेता है, उसी प्रकार ज्ञानी कर्मसंयोगी दशा

होते हुए भी सम्यग्ज्ञान के बल से परद्रव्यों को पर जानकर छोड़ देता है, अपने ज्ञायक स्वभाव पर दृष्टि रखता है और उसको ही ग्रहण करता है।

प्रश्न २७ - आत्मा अपनी सभी पर्यायों में कैसा रहता है, उदाहरण से समझाइये ?

उत्तर - जिस प्रकार अग्नि की मात्र एक कणिका हो या कि दावानल रूप में अग्नि सारे वन में फैल रही हो। अग्नि का जो दाहकत्वपने का स्वभाव है वह छोटी-बड़ी सभी अवस्थाओं में रहता है। उसी प्रकार यह आत्मा सभी पर्यायों में चैतन्य ज्योतिर्मय रूप से जगमगाता रहता है।

प्रश्न २८ - प्रथम गुणस्थान में किस कारण से बंध होता है ?

उत्तर - प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व की मुख्यता के कारण बंध होता है।

प्रश्न २९ - दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान में जीव किस कारण से बंध करता है ?

उत्तर - दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थानों में अविरति की मुख्यता है। इनमें मिथ्यात्व भाव नहीं है। दूसरे व तीसरे गुणस्थान में सम्यक्त्व भाव भी नहीं है, तथापि इन तीनों में अविरत परिणाम की मुख्यता से जीव बंध करता है।

प्रश्न ३० - पंचम गुणस्थान कौन सा है ?

उत्तर - पंचम गुणस्थान देश विरत है।

प्रश्न ३१ - पंचम गुणस्थान को देशविरत, संयमासंयम, संयतासंयत, विरताविरत आदि नाम से क्यों कहा जाता है ?

उत्तर - पंचम गुणस्थान में श्रावक एक देशव्रतों का पालन करता है। इस गुणस्थान में त्रस जीवों की हिंसा का त्याग है इसलिये व्रत है किन्तु उसी समय स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं है, यह अविरति है। इस गुणस्थान में एक ही समय में त्रस जीवों की हिंसा के त्यागरूप व्रत और उसी समय में स्थावर जीवों की हिंसा के त्याग न होने रूप अविरत है। इसलिये इस गुणस्थान को देशविरत, संयमासंयम, संयतासंयत, विरताविरत आदि नामों से जाना जाता है।

प्रश्न ३२ - छटवें से दसवें गुणस्थान तक बंध का कारण किसको कहा है ?

उत्तर - छटवें से दसवें गुणस्थान तक कषायोदय को बंध का कारण कहा है।

प्रश्न ३३ - ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में बंध का कारण किसको कहा है ?

उत्तर - ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में योग को बंध का कारण कहा है।

प्रश्न ३४ - ज्ञानोपयोग कहाँ पाया जाता है ?

उत्तर - ज्ञानोपयोग जीव की सत्ता है, वह सदैव जीव में ही पाया जाता है।

प्रश्न ३५ - क्रोधादि व रागादि भाव भी तो जीव की सत्ता में पाये जाते हैं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर - क्रोधादि व रागादि भाव जीव के निज भाव नहीं है। यद्यपि वे जीव की सत्ता में ही पाये जाते हैं। क्योंकि वे जीव की सत्ता में कर्म के उदय के निमित्त से होते हैं। रागादि भाव आत्मा में सदैव नहीं पाये जाते तथा रागादि भाव पुद्गल पदार्थ में भी नहीं होते।

प्रश्न ३६ - जब क्रोधादि व रागादि भाव जीव में सदैव नहीं पाये जाते तो जीव को उनका कर्ता-भोक्ता क्यों माना जाता है ?

उत्तर - क्रोधादि व रागादि भाव का जीव कर्ता-भोक्ता है, ऐसा अशुद्ध निश्चय नय या व्यवहार नय से माना जाता है। यदि ऐसा न माना जाये तो कर्म बंध रूप संसार के अभाव होने का प्रसंग आवेगा।

प्रश्न ३७ - आत्मा को कर्मों से बद्ध और अबद्ध आदि किस अपेक्षा से कहा है ?

उत्तर - व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा को कर्मों से बद्ध, मोही, रागी, द्वेषी, कर्ता, भोक्ता, प्राणादिमान, अनित्य, वाच्य आदि कहा जाता है। निश्चय नय की अपेक्षा से अबद्ध, निर्मोही, वीतरागी, वीतद्वेषी, अकर्ता, अभोक्ता, शुद्ध ज्ञान प्राण वाला, नित्य, अवाच्य आदि कहा जाता है।

प्रश्न ३८ - द्रव्य दृष्टि व पर्याय दृष्टि किसे कहते हैं ?

उत्तर - पर्याय पर दृष्टि न रखकर, उसे गौण कर स्वभाव को देखना इसे द्रव्य दृष्टि कहते हैं। स्वभाव को गौण कर, वर्तमान पर्याय को देखना, उसे पर्याय दृष्टि या व्यवहार दृष्टि कहते हैं।

प्रश्न ३९ - क्या द्रव्यों में परिणमन की योग्यता होती है ?

उत्तर - हाँ, समस्त द्रव्यों में परिणमन की योग्यता स्वयं ही होती है।

प्रश्न ४० - क्या निमित्त परिणमन करा सकते हैं ?

उत्तर - नहीं, स्वयं की उपादान की योग्यतानुरूप परिणमनशीलता के बिना पर निमित्त किसी भी द्रव्य का परिणमन नहीं करा सकते।

प्रश्न ४१ - कर्मबंध का फल तो जीव भोगता है, अतः क्या जीव को उसका कर्ता कहना चाहिये ?

उत्तर - नहीं, जीव तो कर्मबंध की उदयावस्था होने पर उसके निमित्त से अपने में जो सुख-दुःख रागादि रूप पर्याय प्रकट करता है, उस अपने भाव का कर्ता-भोक्ता होता है। कर्म पर्याय रूप परिणति तो कर्म पुद्गल ही करता है।

प्रश्न ४२ - कर्मोदय जीव को क्रोधादि रूप परिणमन कराता है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

उत्तर - जीव परिणमन स्वभाव वाला है। अपने इस स्वभाव के कारण ही कर्मोदय का निमित्त पाकर वह क्रोधादि रूप परिणमन स्वयं अपनी अज्ञानता से करता है। कर्मोदय उसे क्रोधादि रूप परिणमन नहीं कराता। इसीलिये कर्म जीव को क्रोधादि रूप परिणमन कराता है, ऐसा नहीं मानते।

प्रश्न ४३ - क्या ज्ञानी के सभी भाव सदाकाल ज्ञान रूप ही होते हैं ?

उत्तर - हाँ ज्ञानी जीव की परिणति शुद्ध चैतन्य से रचित है, इस कारण ज्ञानी के जो-जो भी भाव होते हैं वे सभी ज्ञान रूप ही होते हैं।

प्रश्न ४४ - ज्ञानी जीव के भाव ज्ञानमय और अज्ञानी जीव के भाव अज्ञानमय ही होंगे इसका क्या कारण है, उदाहरण द्वारा समझाइये ?

उत्तर - किसी नदी का पानी बहता हुआ जब ऐसी भूमि पर से निकलता है जो भूमि रक्तवर्ण हो, उस रक्तवर्ण भूमि के ऊपर से बहने के कारण सम्पूर्ण जल लाल वर्ण का होकर ही बहता है। उसी नदी का जल स्वच्छ कंकरीली या रेतीली भूमि पर बहता है तब स्वच्छ रहता है। लाल मिट्टी

घुलनशील है अत: उसका रंग पानी में घुल जाने से वह लाल होकर ही प्रवाहित होता है। रेत या कंकड़ घुलनशील नहीं है, अत: वहाँ का जल स्वच्छ होकर ही बहता है।

इसी प्रकार जो जीव मिथ्यादृष्टि हैं वे मिथ्यात्व की भूमिका पर स्थित हैं अत: उनके परिणाम मोह, राग, द्वेष के रंग से रंगे हुए होने के कारण वे जीव मोह रागादि अपने अज्ञान भाव के ही कर्ता होते हैं। इसके विपरीत ज्ञानी जीव के मिथ्यात्व का नाश हो गया है। वह सदा ज्ञानभाव की भूमिका में स्थित होने से अपने को मोह, रागादि रूप नहीं करता अत: जिस ज्ञानभाव रूप उसका परिणमन है वह, उस भाव का ही कर्ता होता है, अन्य भावों का नहीं।

प्रश्न ४५ - नय किसे कहते हैं ?

उत्तर - **वस्तु स्वरूप प्रतिपादन कुशलप्रयोगो नयः** अर्थात् वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करने में जो कुशल प्रयोग है उसे नय कहते हैं।

प्रश्न ४६ - नयों का उपयोग क्यों किया जाता है ?

उत्तर - वस्तु स्वरूप का परिज्ञान कराने के लिये नयों का उपयोग किया जाता है।

प्रश्न ४७ - क्या दोनों नयों के पक्षपात रूप विकल्पों में पड़कर अपने स्वरूप में स्थिर हुआ जा सकता है ?

उत्तर - नहीं, नय सम्यग्ज्ञान के विकल्प हैं। यह वस्तु स्वरूप को यथार्थ समझने के लिये साधन हैं। साध्य तो निज शुद्धात्म स्वरूप है और नयों के पक्षपात रूप समस्त विकल्पों को छोड़कर ही अपने शुद्धात्म स्वरूप में स्थिर हुआ जा सकता है।

प्रश्न ४८ - जीव कर्मों से बंधा है, यह किस नय का कथन है ?

उत्तर - संसारी दशा की अपेक्षा से देखें तो यह जीव अनादिकाल से अष्टकर्मों के बंधन में बंधा है, यह व्यवहार नय का कथन है।

प्रश्न ४९ - क्या वस्तु भेद रूप है ?

उत्तर - नहीं, आत्म वस्तु तो अखण्ड चैतन्य स्वरूप है परन्तु नयों के नाना विकल्प वस्तु को खण्ड-खण्ड अर्थात् भेद रूप देखते हैं।

प्रश्न ५० - जब आत्मा स्वयं निर्विकल्प तत्त्व है तो विकल्प दृष्टि उसमें भेद क्यों खड़ा करती है ?

उत्तर - आत्मा स्वभाव से निर्विकल्प तत्व है परन्तु नय अपेक्षा के कारण आत्मा के सम्बंध में नित्य-अनित्य, बद्ध-अबद्ध आदि विकल्प सम्यग्ज्ञान के अंश रूप में उत्पन्न होते हैं। नयों की इस भेद विवक्षा का वर्णन श्लोक ७० से ७९ तक किया गया है।

प्रश्न ५१ - कलश ७० से ७६ तक व्यवहार नय से जीव को कैसा कहा है ?

उत्तर - कलश ७० से ७६ तक जीव को व्यवहार नय से क्रमश: कर्मों से बद्ध, मोही, रागी, द्वेषी, रागादि विकार का कर्ता, कर्मफल का भोक्ता और प्राणादिमान कहा है।

प्रश्न ५२ - कलश ७० से ७६ तक निश्चय नय से जीव को कैसा कहा है ?

उत्तर - कलश ७० से ७६ तक निश्चय नय से जीव को निर्मोही, वीतरागी, वीतद्वेष, अकर्ता, अभोक्ता

एवं शुद्ध ज्ञान प्राण वाला कहा है।

प्रश्न ५३ - आत्मा नित्य-अनित्य किस नय की अपेक्षा है ?

उत्तर - आत्मा निश्चय नय की अपेक्षा नित्य और व्यवहार नय की अपेक्षा अनित्य है।

प्रश्न ५४ - क्या आत्मा नयात्मक है ?

उत्तर - आत्मा न निश्चय नयात्मक है और न व्यवहार नयात्मक है। आत्मा नयातीत है।

प्रश्न ५५ - शुद्धात्मा का अनुभव क्या विकल्पात्मक है ?

उत्तर - नहीं, शुद्धात्मा का अनुभव नय के समस्त विकल्पों से परे है।

प्रश्न ५६ - आत्मानुभवी ज्ञानी अपने आत्म स्वरूप का कैसा अनुभव करते हैं ?

उत्तर - आत्मानुभवी ज्ञानी दोनों नयों के पक्षपात से रहित होकर आत्मा को मात्र चैतन्य रूप ही अनुभव करते हैं।

प्रश्न ५७ - प्रमाण, नय, निक्षेप क्या हैं ?

उत्तर - प्रमाण, नय, निक्षेप पदार्थ को जानने के उपाय हैं।

प्रश्न ५८ - नयों की आवश्यकता कब तक रहती है ?

उत्तर - जब तक वस्तु स्वरूप का पूर्ण बोध न हो तब तक नयों की आवश्यकता रहती है। इनके बिना वस्तु स्वरूप समझ में नहीं आता।

प्रश्न ५९ - क्या वस्तु स्वरूप समझ लेने पर नयों की आवश्यकता नहीं रहती ?

उत्तर - वस्तु स्वरूप जानने के लिये नय केवल साधन हैं, और साध्य की प्राप्ति हो जाने पर साधनों की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रश्न ६० - क्या आत्म सूर्य के उदय होने पर नय विकल्प रहते हैं ?

उत्तर - जैसे सूर्योदय हो जाने पर दीपक का तेज स्वयं लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्म सूर्य के उदय होने पर नय विकल्प समूह स्वयं ही अस्त हो जाता है।

प्रश्न ६१ - आत्म तत्त्व कैसा है ?

उत्तर - आत्मा एक अखण्ड अविनाशी चैतन्य तत्त्व है, वह मोह रागादि विकारी भावों से रहित, उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक सत्तावान द्रव्य है।

प्रश्न ६२ - ज्ञानी कौन है ?

उत्तर - सम्यक्‌दृष्टि सभी जीव ज्ञानी हैं। चतुर्थ गुणस्थान और उससे ऊपर के सभी जीव सम्यक्‌ज्ञानी माने गये हैं।

प्रश्न ६३ - आत्म स्वरूप का आस्वादन करने पर कैसा प्रतीत होता है ?

उत्तर - आत्म स्वरूप का आस्वादन करने पर आत्मा जन्म-मरण रहित, पर से भिन्न, संकल्प-विकल्पों से रहित, संयोग-वियोग, देह, कर्म तथा रागादि भावों से सर्वथा भिन्न ज्ञान सिंधु स्वरूप अनुभव में प्रतीत होता है।

प्रश्न ६४ - जो विकल्प का कर्ता है, वह ज्ञाता भी होता है क्या ?

उत्तर - जो विकल्प का कर्ता है वह केवल कर्ता ही है ज्ञाता नहीं, और जो ज्ञाता है वह केवल ज्ञाता ही

है कर्ता नहीं।

प्रश्न ६५ - जिन्हें आगम ज्ञान है वे क्या सम्यग्ज्ञानी हैं ?

उत्तर - जिन्हें आगम ज्ञान है वे सम्यक्ज्ञानी नहीं हैं। वे मात्र आगम ग्रंथों के ज्ञाता हैं, वे आचार्यों के मंतव्य के ज्ञानी हैं कि आगम में अमुक-अमुक आचार्यों ने क्या-क्या लिखा है अर्थात् वे सम्यक्ज्ञानी नहीं हैं।

प्रश्न ६६ - आगम ज्ञान के ज्ञानी को सम्यक्ज्ञानी क्यों नहीं कहा, कारण सहित स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर - जो ज्ञान रागादि आस्रव भावों में प्रवृत्त है, वह ज्ञान नहीं अज्ञान ही है तथा जो ज्ञान रागादि भावों से निवृत्त है वही यथार्थ में ज्ञान है, अत: जब तक आगम ज्ञान के ज्ञाता पुरुष रागादि भाव से भिन्न होकर अपने उपयोग को ज्ञानमय नहीं बनाते, तब तक वे रागी हैं ज्ञानी नहीं। यही कारण है कि आगम ज्ञान के ज्ञानी को सम्यक्ज्ञानी नहीं कहा जाता।

प्रश्न ६७ - बंध का मूल कारण क्या है ?

उत्तर - बंध का मूल कारण अज्ञान जन्य कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है। जब तक इस कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति से निवृत्ति नहीं होगी तब तक कर्म का बंध नहीं रुकेगा।

प्रश्न ६८ - क्या आस्रव भाव आत्मा है ?

उत्तर - जिस प्रकार काई जल का मैल है, कलुषता है, उसी प्रकार आस्रव भाव भी आत्मा का मैल है, विकार है। यह कर्म के उदय के निमित्त से होने वाला विकार भाव है। अत: आस्रव भाव आत्मा नहीं है।

प्रश्न ६९ - रागादि भावों में प्रवृत्त उपयोग आत्मानुभव कैसे करता है, उदाहरण सहित समझाइये ?

उत्तर - जैसे किसी नदी का जल अपने स्थान से च्युत होकर गहन वन में घूमता फिरता, आड़े-तिरछे विविध रूपों को अपने में धारण करता हुआ चक्कर लगाता हुआ फिरता है। वही जल किसी गम्भीर ढाल वाले स्थान को पाकर वहीं आकर मिल जाता है और स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार अनादिकाल से यह आत्मा अपने स्वभाव से च्युत हुआ, संसार रूपी जंगल में चार गति चौरासी लाख योनियों में विविध आकार प्रकार को धारण करता हुआ, विभावों के चक्रजाल में घूमता हुआ दु:खी था। सम्यक्दृष्टि जीव ने अपने उपयोग को उन विकल्प जालों से निकाल कर पुरुषार्थ पूर्वक अपने इस रूप में स्थित किया तब जो उपयोग रागादि भावों में प्रवृत्त था वह उनसे निवृत होकर अखण्ड विज्ञान घन, अनन्त प्रकाशमान स्वभाव का निर्विकल्प होकर अनुभव करता है।

प्रश्न ७० - सम्यक्दृष्टि को रागादि भाव होने पर भी बंध नहीं होता, ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तर - सम्यक्दृष्टि को रागादि भाव पाये जाते हैं, वह उनका कर्ता नहीं बनता, उन्हें अपने नहीं मानता, उनमें उसे कर्तृत्व बुद्धि और ममत्व बुद्धिरूप अज्ञान नहीं है। मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी राग भी नहीं है, इस कारण वह उनका कर्ता भी नहीं है और उसे तत्सम्बंधी बंध भी नहीं होता है। उसके अप्रत्याख्यानावरणादि सम्बंधी रागादि विद्यमान हैं और उस सम्बंधी बंध होता है पर वह रागादि भाव व बंध अनंत संसार का कारण न होने से उन्हें यहाँ बंध नहीं माना गया है।

प्रश्न ७१ - तो क्या चारित्रमोह सम्बंधी बंध भी सम्यक्दृष्टि को नहीं होता ?

उत्तर - जहाँ चारित्रमोह सम्बंधी बंध की चर्चा होती है वहाँ उन रागादि भावों को बंध का कारण माना जाता है। वह ज्ञानी-अज्ञानी दोनों पर ही समान रूप से घटित होता है।

प्रश्न ७२ - शुद्धात्मा में भले ही रागादि न हों तो क्या अशुद्धात्मा में उनका अस्तित्व है ?

उत्तर - अवश्य है, और उस दृष्टि से वह सब सत्य ही है, असत्य नहीं है किन्तु जड़ कर्म के निमित्त से उत्पन्न विकार आत्मस्वभाव न होने से आत्मद्रव्य की गणना में नहीं आता। अत: शुद्ध नय के द्वारा अपनी आत्मा को रागादि विकारों से भिन्न देखने पर ही लक्ष्य की प्राप्ति होगी।

प्रश्न ७३ - जब आत्मा वर्तमान में प्रत्यक्ष संसारी, सदेही, कर्म-नोकर्म भाव से संयुक्त है तब इसे असत्य कैसे माना जाये ?

उत्तर - यह असत्य नहीं है, परन्तु यह जीव की पर्याय मात्र है, स्वभाव नहीं है। संसारी दशा कर्म निमित्त जन्य होने से नैमित्तिक विकारी दशा है। स्वाभाविक दशा तो इन संयोगों के दूर होने पर प्रकट होगी, अन्यत्र से नहीं आयेगी।

प्रश्न ७४ - जब बिना कर्मोदय के विकार उत्पन्न नहीं होता तब उसका कारण तो कर्मोदयरूप पर पदार्थ ही है। यदि स्वयं के कारण हो तो सिद्ध भगवान में भी विकारी भाव उत्पन्न होना चाहिये, ऐसा है क्या ?

उत्तर - ऐसा नहीं है। कर्म जड़ पुद्‌गल द्रव्य है। उसकी उदय रूप अवस्था कर्म में ही होती है अत: कर्म में ही उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि भेद होते हैं। यदि कर्म का उदय जीव स्वरूप ही हो तो कर्म का क्षय होने से जीव का भी क्षय हो जावेगा। अत: सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्य में अपनी-अपनी पर्याय स्वयं की, उस समय की योग्यता से होती है तथापि उन पर्यायों में पर की अनुकूलता निमित्त होती है। उस कर्मोदय रूप अनुकूल निमित्त का अवलम्बन कर, जीव अपने में विकारी पर्याय उत्पन्न करता है, यह उसका विपरीत पुरुषार्थ है। निमित्त विकार उत्पन्न करता है, यह कथन, उपचरित व्यवहार नय का कथन है।

प्रश्न ७५ - नय ज्ञान, आत्मानुभव और आत्मानुभवी का परस्पर क्या सम्बंध है ?

उत्तर - विवेकवान भव्य जीव निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा वस्तु स्वरूप को यथार्थ रूप से जानता है। निश्चय और व्यवहार नय की वस्तु स्वरूप के कथन करने की शैली अपनी-अपनी है। व्यवहार नय आत्मा को बद्ध, मोही, रागी, द्वेषी आदि कहता है, वहीं निश्चय नय आत्मा को अबद्ध, निर्मोही, वीतरागी और वीतद्वेषी मानता है। ज्ञानी जानता है कि दोनों नय विकल्पात्मक होने से अग्राह्य हैं। नय, वस्तु को जानने के साधन मात्र हैं, साध्य तो स्वानुभूति है। वस्तु स्वरूप यह है कि आत्म वस्तु न निश्चयनयात्मक है और न व्यवहार नयात्मक है। आत्मानुभव नयों के समस्त विकल्पों से परे है।

जो आत्म तत्त्व का अनुभव करने वाले ज्ञानी पुरुष हैं वे दोनों नयों के पक्षपात से रहित होकर आत्मा को मात्र चैतन्य स्वरूप अनुभव करते हैं। आत्मा उस अनुभव के समय प्रमाण, नय,

निक्षेप आदि जो पदार्थ के जानने के उपाय मात्र हैं, उन उपायों की कक्षा से ऊपर 'उपेय' भाव को स्वयं प्राप्त होकर, स्वयं का अनुभव करता है। अत: वे अनुभवीजन नय पक्ष सम्बंधी विकल्पों से रहित आत्म स्वरूप के अनुभवी हैं।

....

निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न – नय पक्ष में निर्विकल्पता कैसे होती है ? श्लोक ७० से ८७ के आधार पर लिखिये।

उत्तर – अध्यात्म प्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचंद्राचार्य ने सिद्धांत और व्यवहार का समन्वय किया है। निश्चय और व्यवहार की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं – जो केवल व्यवहार को जानता है वह देशना का पात्र नहीं होता। निश्चय को न जानने वाला व्यवहार को ही निश्चय जान लेता है। निश्चय को उपादेय मानकर व्यवहार की अपेक्षा भी ठीक नहीं है। अध्यात्म गुरु अमृतचंद्राचार्य जी कहते हैं कि व्यवहार और निश्चय को जानकर जो दोनों में मध्यस्थ रहता है – एक से राग दूसरे से द्वेष नहीं करता वही उपदेश का सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है।

आचार्य कुन्दकुन्द विरचित समयसार और आचार्य अमृतचंद्राचार्य विरचित अध्यात्म अमृतकलश के कर्ता–कर्म अधिकार में क्रमपूर्वक जीव के कर्ता और कर्म का निषेध किया गया है ताकि आत्मा को अकर्ता जानकर निर्विकल्पता का अभ्यास किया जा सके। सिद्धांत पक्ष उपस्थित करते हुए आचार्य कहते हैं – 'व्यवहार से निमित्त मात्र होने से जीव भाव का कर्म कर्ता है और कर्म का भी जीव भाव कर्ता है।' किन्तु निश्चय से न जीव भावों का कर्म कर्ता है और न कर्म का कर्ता जीव भाव है किन्तु वे कर्ता के बिना भी नहीं होते अत: निश्चय से जीव के भावों का कर्ता जीव है और कर्म भाव का कर्ता कर्म है। इस तरह निश्चय से जीव अपने भावों का कर्ता और पुद्गल कर्मों का अकर्ता है यह जिनागम है। मोक्षमार्ग की दृष्टि से यह प्रकरण महत्वपूर्ण है। प्रकरण का सारांश जानना अपेक्षित है।

जीव के परिणाम का निमित्त पाकर पुद्गल कर्म वर्गणाएँ कर्मरूप में परिणमन करती हैं और पुद्गल कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव के परिणाम होते हैं। यह सिद्धांत सर्वमान्य है। फिर भी जीव और पुद्गल में परस्पर कर्ता–कर्म भाव नहीं है। कारण यह है कि न तो जीव कर्म के गुणों को करता है और न कर्म जीव के गुणों को करता है किन्तु इन दोनों के निमित्त–नैमित्तिकपना होने से परिणाम होता है। दोनों में निमित्त–नैमित्तिक भाव मात्र का निषेध नहीं है क्योंकि परस्पर में निमित्त मात्र होने से ही दोनों का परिणाम होता है। इस निमित्त–नैमित्तिक सम्बंध के कारण व्यवहार नय से जीव पुद्गल कर्म का कर्ता भोक्ता और पुद्गल जीव भाव का कर्ता कहा जाता है। परमार्थ में जीव न तो पुद्गल कर्म को करता है और न पुद्गल कर्म को भोगता है। यदि जीव पुद्गल कर्म को भी करे और भोगे तो वह दो द्रव्यों की क्रिया का कर्ता बन जायेगा क्योंकि उनसे अपने परिणाम को भी किया, भोगा और पुद्गल कर्म को भी किया और

भोगा। एक द्रव्य दो द्रव्य की क्रिया का कर्ता नहीं होता। जो ऐसा नहीं मानता वह सम्यक्दृष्टि नहीं हो सकता। सम्यक्दृष्टि जीव जानते हैं कि व्यवहार नय से जीव कर्म से बद्ध है और निश्चय नय से जीव शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा जीव कर्मबद्ध नहीं है।

जो सम्यक्दृष्टि वीतरागी पुरुष नय पक्षों की विकल्प चर्चा छोड़कर सदा निज स्वभाव में ही निवास करते हैं, ऐसे नय पक्षों के विविध विकल्प समूह से भिन्न निर्विकल्प शांत चित्त वाले पुरुष ही साक्षात् अमृत पीने वाले हैं। अर्थात् वे ही जन्म-मृत्यु से रहित साक्षात स्वरूपानंद के भोक्ता होते हैं।

आचार्य श्लोक ७० से ८९ में इसी सत्य का उद्घाटन किया है। व्यवहार नय का पक्ष है कि जीव कर्म बद्ध है और शुद्ध निश्चय नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से बद्ध नहीं है, चैतन्य स्वरूप आत्मा के विषय में इन दो नयों के दो पक्ष भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु जो तत्त्व को जानता है वह इन दोनों नय के पक्षपात से रहित उसके ज्ञान में निश्चय से दृढ़ता पूर्वक केवल चैतन्य स्वरूप भासता है।'न तथा परस्य' इस शब्द द्वारा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से कहा गया है कि जीव द्रव्य सदा से अपने चैतन्य उपयोग लक्षणात्मक पुद्गलादि परद्रव्यों से भिन्न है। उसमें कभी पर द्रव्य का, उसके गुण पर्यायों का प्रवेश नहीं होता। वह अपने से ही गुण पर्यायों में सदा रहा है और सदा रहेगा। पर द्रव्य का एक भी परमाणु जीव नहीं बन सकता और जीव का कोई प्रदेश, कोई गुण, कोई पर्याय पुद्गल नहीं बन सकती तब जीव कर्म से बद्ध नहीं है।'अबद्ध है और सदा से है, सदाकाल रहेगा' ऐसा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का कथन है। संसारी अपेक्षा देखें तो वह जीव अष्ट कर्मों के बंधन से अनादिकाल से ही बंधा है अत: व्यवहार दृष्टि से वह बद्ध है। दोनों नय अपने-अपने दृष्टिकोण से चैतन्यमात्र तत्त्व को बद्ध-अबद्ध देखते हैं अत: दोनों नयों के दो पक्ष हैं। आचार्य कहते हैं यदि दोनों पक्षों को छोड़कर वस्तु को देखें तो 'चैतन्य तो चैतन्यमात्र है।' नय विकल्प से उसे खंड-खंड देखते हैं किन्तु वह अखंड चैतन्य स्वरूप है उसमें बद्धता-अबद्धता का कोई विकल्प ही नहीं है। विकल्प दृष्टि भेद खड़ करती है। ये विकल्प नय इस प्रकार हैं -

- एक नय यदि जीव को मोही कहता है तो दूसरा नय निर्मोही कहता है।
- एक नय उसे रागी कहता है तो शुद्ध नय उसे वीतरागी कहता है।
- एक नय जीव को द्वेषी कहता है तो शुद्ध नय उसे वीतद्वेषी कहता है।
- एक नय उसे रागादि विकार का कर्ता मानता है तो शुद्ध नय उसे अकर्ता मानता है।
- व्यवहार नय उसे कर्म फल भोक्ता मानता है तो निश्चय नय उसे अभोक्ता मानता है।
- व्यवहार नय उसे प्राणादिमान जीव कहता है तो शुद्ध नय में वह ऐसा नहीं है, शुद्ध ज्ञान प्राण वाला है।
- व्यवहार नय सूक्ष्म नामकर्म के उदय के कारण सूक्ष्म शरीरी जीवों को सूक्ष्म जीव कहता है। शुद्ध नय जीव को शरीर रहित स्वीकार करने से उसे सूक्ष्म नहीं मानता।

- व्यवहार जीव को हेतुरूप मानता है क्योंकि वह जब रागादिरूप होता है तब कर्मबंध का कारणरूप बनता है और जब कर्मोदय के कारण नाना रूप धरता है तब कार्यरूप बनता है। शुद्ध नय का कथन है कि चैतन्य स्वभावी जीव न कारणरूप है और न कार्यरूप है, वह तो पर से सर्वथा भिन्न है तब उनके कारण कहा जाने वाला 'कारण-कार्य भाव' उसके नहीं हैं।
- एक नय उसे स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि से 'भावात्मक' कहता है तो दूसरा नय उसे 'परसंयुक्त' अनेक रूप में देखता है।
- व्यवहार नय उसे 'सान्त' पर्यायों की विनश्वरता के कारण नाशवान मानता है, तो शुद्ध नय की दृष्टि आत्मा को अनंत अविनाशी ही मानती है।
- शुद्ध नय उसे नित्य रूप तो व्यवहार नय उसे परिवर्तनशील अनित्य मानता है।
- व्यवहार नय उसे 'वाच्य' कहता है तो शुद्ध नय उसे 'अवाच्य' मानता है।
- व्यवहार नय जीव को एकेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, नर-नारकादि विविध गुणस्थानरूप, अनेक मार्गणा स्थानादि रूप नाना रूप मानता है तो शुद्ध नय उसे एक शुद्ध स्वरूपी मानता है।
- एक नय 'चेत्य' तो दूसरा नय 'अचेत्य-अचिंत्य' मानता है।
- एक नय आत्मा को 'दृश' तो दूसरा 'अदृश' मानता है।
- एक नय जीव को ज्ञान का विषय होने 'ज्ञेय' तो दूसरा नय उसे 'ज्ञायक' मानता है।
- एक नय उसे भाव अर्थात् आत्मा से प्रतिभासित है ऐसा कहता है तो दूसरा नय उसे अभाव अर्थात् अप्रतिभासित मानता है।

इस तरह विविध नय विकल्पों द्वारा जीव को विभिन्न रूप कहते हैं, पर दोनों कथन विकल्पात्मक होने से अग्राह्य हैं। वस्तु न तो निश्चयात्मक है न व्यवहारात्मक है। शुद्ध वस्तु मात्र का अनुभव विकल्पों से रहित है। जो तत्त्वाभ्यासी हैं वे दोनों नयपक्षों के पक्षात्मक उपयोग से रहित आत्मा को 'एक चैतन्य रूप' अनुभव करते हैं। आत्मा इस अनुभव के समय प्रमाण, नय, निक्षेपादि जो पदार्थ को जानने के उपाय मात्र हैं, उन उपायों की कक्षा से ऊपर 'उपेय' भाव को स्वयं प्राप्त हो, उसका अनुभव करता है। अत: वे नय पक्षों या नय विवक्षा के विकल्पों से रहित निर्विकल्प आत्मा के अनुभवी हैं।

वे तत्त्ववेदी भीतर और बाहर दोनों में समता रसरूप एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे अनुभव मात्र अपने निज भाव को प्राप्त होता है। मैं वह शुद्ध चैतन्य मात्र तत्त्व हूँ, जिसके प्रगट होने पर तत्काल नय विकल्प का सम्पूर्ण इन्द्रजाल नष्ट हो जाता है। चैतन्य स्वभावी, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षण वाला सत्तावान द्रव्य का अनुभव करने पर ज्ञान के, कर्मबंध के, राग के विकल्प दूर हो जाते हैं, आत्मा निर्बंध हो जाता है। ऐसा सत् का अनुभव ही जीव को मुक्त दशा में पहुँचाता है।

....

शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति -

व्यवहार नय स्वद्रव्य-परद्रव्य को तथा उनके भावों को तथा कारण-कार्य आदि को किसी के किसी में मिलाकर निरूपण करता है, और ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, इसलिये उसका त्याग करना चाहिये। और निश्चय नय उन्हीं का यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को किसी में नहीं मिलाता, और ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्न - यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण ?

उत्तर - जिनमार्ग में कहीं तो निश्चय नय की मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' - ऐसा जानना, तथा कहीं व्यवहार नय की मुख्यता से व्याख्यान है उसे 'ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है' - ऐसा जानना, और इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। किन्तु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'इस अनुसार भी है और इस अनुसार भी है' -ऐस भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों को ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्न - यदि व्यवहार नय असत्यार्थ है तो जिनमार्ग में उसका उपदेश किसलिये किया गया है ? एक निश्चय का ही निरूपण करना था ?

उत्तर - ऐसा ही तर्क श्री समयसार में किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है कि - जिसप्रकार किसी अनार्य - म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना अर्थ ग्रहण कराने के लिये कोई समर्थ नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश असंभव है, इसलिये व्यवहार का उपदेश है। और उसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि - इस प्रकार निश्चय को अंगीकार कराने के लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं किन्तु व्यवहार नय है, वह अंगीकार करने योग्य नहीं है।

अनुयोगों के व्याख्यान की पद्धति -

अब, इन अनुयोगों में कैसी पद्धति की मुख्यता पाई जाती है, सो कहते हैं - प्रथमानुयोग में तो अलंकार शास्त्र की व काव्यादि शास्त्रों की पद्धति मुख्य है, क्योंकि अलंकारादिक से मन रंजायमान होता है, सीधी बात कहने से ऐसा उपयोग नहीं लगता जैसा अलंकारादि से युक्ति सहित कथन से उपयोग लगता है। तथा परोक्ष बात को कुछ अधिकता पूर्वक निरूपण किया जाये तो उसका स्वरूप भलीभांति भासित होता है।

तथा करणानुयोग में गणित आदि शास्त्रों की पद्धति मुख्य है, क्योंकि वहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की प्रमाणादिक का निरूपण करते हैं, सो गणित ग्रन्थों की आम्नाय से उसका सुगम जानपना होता है।

तथा चरणानुयोग में सुभाषित नीति शास्त्रों की पद्धति मुख्य है, क्योंकि वहाँ आचरण कराना है इसलिये लोक प्रवृत्ति के अनुसार नीति मार्ग बतलाने पर वह आचरण करता है।

तथा द्रव्यानुयोग में न्याय शास्त्रों की पद्धति मुख्य है, क्योंकि वहाँ निर्णय करने का प्रयोजन है तथा न्याय शास्त्रों में निर्णय करने का मार्ग दिखाया है। इस प्रकार इन अनुयोगों में मुख्य पद्धति है और भी अनेक पद्धति सहित व्याख्यान इनमें पाये जाते हैं। यहाँ कोई कहे - अलंकार, गणित, नीति, न्याय का ज्ञान तो पंडितों के होता है, तुच्छबुद्धि समझे नहीं, इसलिये सीधा कथन क्यों नहीं किया।

उत्तर - शास्त्र हैं सो मुख्य रूप से पंडितों और बुद्धिमानजनों के अभ्यास कराने के योग्य हैं, यदि

अलंकार आदि आम्नाय सहित कथन हो तो उनका मन लगे। तथा जो तुच्छबुद्धि हैं उनको पंडित समझा दें, और जो नहीं समझ सकें तो उन्हें मुँह से सीधा ही कथन कहें। परन्तु ग्रन्थों में सीधा कथन लिखने से विशेष बुद्धि जीव उनके अभ्यास में विशेष नहीं प्रवर्ते, इसलिये अलंकारादि आम्नाय सहित करते हैं।

इस प्रकार इन चार अनुयोगों का निरूपण किया है।

तथा जैन मत में बहुत शास्त्र तो इन चारों अनुयोगों में गर्भित हैं।

तथा व्याकरण, न्याय, छंद, कोषादिक शास्त्र व वैद्यक, ज्योतिष मंत्रादि शास्त्र भी जिनमत में पाये जाते है, उनका क्या प्रयोजन है, सो सुनो –

व्याकरण, न्याय आदिक शास्त्रों का प्रयोजन –

व्याकरण, न्याय आदि का अभ्यास होने पर अनुयोगरूप शास्त्रों का अभ्यास हो सकता है, इसलिये व्याकरण आदिक शास्त्र कहे हैं।

कोई कहे – भाषारूप सीधा निरूपण करते तो व्याकरण आदिक का क्या प्रयोजन था ?

उत्तर – भाषा तो अपभ्रंशरूप अशुद्ध वाणी है, देश–देश में और–और है, वहाँ महन्त पुरुष शास्त्रों में ऐसी रचना कैसे करें ? तथा व्याकरण–न्यायादि द्वारा जैसे यथार्थ सूक्ष्म अर्थ का निरूपण होता है वैसा सीधी भाषा में नहीं हो सकता, इसलिये व्याकरणादि आम्नाय से वर्णन किया है। सो अपनी बुद्धि के अनुसार थोड़ा – बहुत इनका अभ्यास करके अनुयोगरूप प्रयोजनभूत शास्त्रों का अभ्यास करना।

तथा वैद्यकादि चमत्कार से जिनमत की प्रभावना हो व औषधादिक से उपकार भी बने, अथवा जो भी लौकिक कार्यों में अनुरक्त हैं वे वैद्यकादि चमत्कार से जैनी होकर पश्चात् सच्चा धर्म प्राप्त करके अपना कल्याण करें – इत्यादि प्रयोजन सहित वैद्यकादि शास्त्र कहे हैं। यहाँ इतना है कि ये भी जैन शास्त्र हैं ऐसा जानकर इनके अभ्यास में बहुत नहीं लगना। यदि बहुत बुद्धि से इनका सहज जानना हो और इनको जानने से अपने रागादिक विकार बढ़ते न जाने, तो इनका भी जानना होओ। अनुयोगशास्त्रवत् ये शास्त्र बहुत कार्यकारी नहीं हैं, इसलिये इनके अभ्यास का विशेष उद्यम करना योग्य नहीं है।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो गणधर आदिक ने इनकी रचना किसलिये की ?

उत्तर – पूर्वोक्त किंचित् प्रयोजन जानकर इनकी रचना की। जैसे – बहुत धनवान कदाचित् अल्प कार्यकारी वस्तु का भी संचय करता है, परन्तु थोड़े धन वाला उन वस्तुओं का संचय करे तो धन तो वहाँ लग जाये, फिर बहुत कार्यकारी वस्तु का संग्रह काहे से करे ? उसी प्रकार बहुत बुद्धिमान गणधर आदिक कथंचित् अल्प कार्यकारी वैद्यकादि शास्त्रों का भी संचय करते हैं, परन्तु थोड़ा बुद्धिमान उनके अभ्यास में लगे तो बुद्धि तो वहाँ लग जाये फिर उत्कृष्ट कार्यकारी शास्त्रों का अभ्यास कैसे करे ?

तथा जैसे – मंद रागी तो पुराणादि में श्रंगार आदि का निरूपण करे तथापि विकारी नहीं होता, परन्तु तीव्र रागी वैसे श्रंगारादि का निरूपण करे तो पाप ही बांधेगा। उसी प्रकार मंद रागी गणधरादिक हैं वे वैद्यकादि शास्त्रों का निरूपण करें तथापि विकारी नहीं होते, परन्तु तीव्र रागी उनके अभ्यास में लग जायें तो रागादिक बढ़ाकर पाप कर्म को बांधेंगे – ऐसा जानना। इस प्रकार जैनमत के उपदेश का स्वरूप जानना।

[पं. श्री टोडरमल जी द्वारा रचित श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ से – साभार]

अध्याय ४

: श्री त्रिभंगी सार जी :
आचार्य तारण स्वामी जी

[अ] श्री त्रिभंगीसार जी - आचार्य तारण स्वामी जी
श्री त्रिभंगीसार जी - भूमिका -श्री त्रिभंगीसार जी ग्रन्थ

[ब] श्री छद्मस्थवाणी जी - आचार्य तारण स्वामी जी
[भूमिका, ग्रन्थ, सारांश, निबंधात्मक प्रश्न सहित]

श्री त्रिभंगीसार जी - भूमिका

श्री त्रिभंगीसार जी सारमत का ग्रंथ है। इस ग्रंथ में दो अध्याय हैं। जिनमें ७१ गाथाएँ हैं। त्रिभंगी का अर्थ है तीन भंग अर्थात् तीन भेद। इस ग्रंथ में आचार्य देव ने तीन-तीन भंग अर्थात् भेदों के समूह द्वारा आस्रव और संवर का निरूपण किया है। आत्म स्वभाव की साधना का विधान, आस्रव और संवर के भेद-प्रभेदों का वर्णन त्रिभंगीसार ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय है।

प्रथम अध्याय में ३६ त्रिभंग के द्वारा आस्रव और बन्ध में कारणभूत परिणामों का विवेचन किया गया है। ३६ त्रिभंग के १०८ भेद होते हैं, जिनसे जीव निरंतर कर्मास्रव करता है। आगम के अनुसार कर्मास्रव के १०८ भेद इस प्रकार हैं - समरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, कृत, कारित, अनुमोदना, मन, वचन, काय, क्रोध, मान, माया, लोभ इनके आपस में योग करने पर १०८ आलाप (भेद) होते हैं। इनसे जीव कर्मास्रव करता है। आचार्य श्री जिन तारण तरण स्वामी जी ने आगम सम्बंधी १०८ भेदों को समाहित करते हुए दैनिक जीवन में जो-जो परिणाम जीव करता है आस्रव में कारणभूत उन सभी वैभाविक अवस्थाओं को प्रथम अध्याय के ३६ त्रिभंगों में निरूपित किया है। द्वितीय अध्याय में संवर में हेतुभूत ३६ त्रिभंगों का वर्णन है। जिन परिणामों से कर्म के आस्रव का निरोध होता है, उन परिणामों को १०८ भेद रूप निरूपित किया गया है। देव, गुरु, धर्म तीन भाव, व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र सम्यक् तप, परिनै-आत्मचिंतन, उपादेय, शाश्वत, संमत्त, वंदना, स्तुति-दर्शनाचार, न्यानाचार, तपाचार आदि ३६ त्रिभंग हैं। व्रत, संयम, तप आदि किसी क्रिया से संवर नहीं होता। वास्तविकता यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना आस्रव का निरोध और संवर की प्रगटता नहीं होती। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में भूमिकानुसार विकास होता जाता है उसी प्रमाण शुद्धोपयोग की वृद्धि और व्रत समिति आदि का आचरण होता है वहाँ ऐसा जानना चाहिये कि व्रत समिति आदि का पालन व्यवहार है उसमें छिपा हुआ शुद्धोपयोग संवर का कारण है परन्तु वह बिना आचरण के प्रसिद्ध नहीं होता है इसलिये व्रत, समिति, तप आदि को संवर का कारण कहा गया है।

आस्रव - विशेष कथन

मन, वचन, काय योग हैं। आत्मा की एक स्वाभाविक शक्ति परिस्पंदन रूप योग जो कर्म एवं नोकर्म वर्गणाओं को आकर्षित करने में कारण है, यही आस्रव का मूल है। जिस समय मन, वचन, काय के द्वारा कोई कार्य होता है उस समय आत्मा के प्रदेश सकम्प होते हैं तथा उसी समय पुद्गल कार्मण वर्गणायें आस्रवित होती हैं और बन्ध हो जाता है। वस्तुतः आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन होना ही योग है। इसी से आस्रव होता है। मन, वचन, काय उसमें निमित्त मात्र हैं।

योग के मुख्य रूप से दो भेद हैं - भाव योग और द्रव्य योग।

आत्मा की परिस्पंदन रूप शक्ति भाव योग है। यह भाव योग वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम एवं शरीर नाम कर्म के उदय के निमित्त से कार्य करता है। करणानुयोग के ग्रंथों के अनुसार आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदन, हलन-चलन होना द्रव्य योग है। मन, वचन, काय का हलन-चलन आत्म प्रदेशों के परिस्पंदन में निमित्त कारण है।

(अ)
श्री त्रिभंगीसार जी

नमस्कृतं महावीरं, भवोद्धय विनासनं ।
त्रिभंगी दलं प्रोक्तं च, आस्रव निरोध कारनं ।। १ ।।

अन्वयार्थ - (भवोद्धय विनासनं) भव के उदभव् का नाश और **(आस्रव निरोध कारनं)** आश्रव के कारणों का निरोध करने के लिये । **(नमस्कृतं महावीरं)** भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार करके **(त्रिभंगी दलं प्रोक्तं च)** त्रिभंगी दल [तीन तीन दल] के समूह को कहता हूँ।

विशेषार्थ - श्री जिन तारण स्वामी अन्तिम तीर्थंकर श्री भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार करते हैं जिन्होंने संसार के जन्म-मरण का नाश कर दिया है, अर्थात् जिन्होंने शाश्वत सिद्ध पद प्राप्त कर लिया है, जहाँ से पुनः संसार में आना नहीं होता। इस प्रकार श्री गुरु नमस्कार करके कहते हैं कि संसार चक्र कर्मास्रव से ही चलता है। इन कर्मों के आस्रव का निरोध करने के लिए संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूटने के लिए मैं यह त्रिभंगीसार ग्रंथ कहता हूँ। इसमें तीन-तीन पदों के समूह से कर्मास्रव और संवर-निर्जरा का स्वरूप बताया गया है।

प्रश्न - संसार के भय से छूटने का उपाय क्या है ?

समाधान - स्व-पर का भेदज्ञान ही संसार के भय से छूटने का एकमात्र उपाय है।

प्रश्न - मृत्यु क्या है ?

समाधान - मृत्यु केवल देह परिवर्तन है। वर्तमान जीवन में प्राप्त संयोग का छूट जाना ही मृत्यु है। मर्त्य देह में जो बैठा है, वह मर्त्य नहीं है।

कर्मास्रव के सम्बंध में विशेष -

मिथ्यात्व गुणस्थान में संसारी जीव को निरंतर कर्मास्रव और बन्ध होता है। जीव की पर पर्याय की तरफ दृष्टि होना ही कर्मास्रव है। आत्मा के अनन्त गुणों में से एक गुण योग है यह अनुजीवी गुण है। इस गुण की पर्याय के दो भेद होते हैं -

१. परिस्पंदन रूप अर्थात् आत्म प्रदेशों के कंपन रूप।

२. आत्म प्रदेशों की निश्चलता रूप-निष्कंप रूप।

प्रथम, योग गुण की पर्याय अशुद्ध होती है और दूसरे, योग गुण की पर्याय शुद्ध होती है। योग गुण की अशुद्ध पर्याय को योग कहा है जिससे कर्मास्रव होता है। इसमें मन, वचन, काय का निमित्त सहकारी होने से योग के १५ भेद हो जाते हैं। इनमें जीव का रत रहना अथवा राग-द्वेष रूप रहना कषाय है। योग से कर्मास्रव होता है और कषाय से कर्मों का बन्ध होता है। चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक कर्मास्रव और बन्ध होता है, जिसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान से तेहरवें गुणस्थान तक ईर्यापथ आस्रव होता है, वहाँ कषाय न होने से स्थिति और अनुभाग बन्ध नहीं होता, शेष प्रकृति और प्रदेश बन्ध, कषाय का अभाव होने से सहज निकलते चले जाते हैं।

जब तक जीव संसार में शरीरादि संयोग में है तब तक कर्मोदय का और जीव के भाव का निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध है। अज्ञान-मिथ्यात्व दशा में तो वह एक रूप ही रहता है, कर्मादि से भिन्नत्व का बोध ही नहीं है। भेदज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन होने पर भिन्नत्व भासित होता है। चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक योग और कषाय के उदयानुसार कर्मास्रव बन्ध होता है। इनसे ऊपर उठने पर ही कर्मास्रव का निरोध और संसार से मुक्ति होती है। मिथ्यादृष्टि संसारी जीव को तो निरंतर कर्मों का आस्रव बन्ध होता है। सम्यग्दर्शन होने पर चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक जितने अंश में वीतरागता होती है उतने अंश में आस्रव और बन्ध नहीं होते तथा जितने अंश में राग-द्वेष होता है, उतने अंश में आस्रव और बन्ध होता है।

प्रश्न - दसवें गुणस्थान तक कर्मों का आस्रव बन्ध किस प्रकार होता है ?

समाधान - आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदन रूप जो योग है वह क्रिया है। इसमें मन, वचन, काय निमित्त होते हैं, यह क्रिया सकषाय योग से दसवें गुणस्थान तक होती है। पौद्गलिक मन, वचन, काय की कोई भी क्रिया आत्मा की नहीं है और न ही आत्मा को लाभदायक या हानिकारक है। जब आत्मा सकषाय योग रूप से परिणमे और नवीन कर्मों का आस्रव हो तब आत्मा का सकषाय योग उन पुद्गल आस्रव में निमित्त है और पुद्गल स्वयं उस आस्रव का उपादान कारण है। भावास्रव का उपादान कारण आत्मा की उस अवस्था की योग्यता है और निमित्त पूर्वबद्ध कर्मों का उदय है।

प्रश्न - यह आयुबन्ध कब और कैसे होता है ?

समाधान - इस प्रश्न के समाधान में आचार्य श्री तारण स्वामी जी आगे गाथा कहते हैं -

त्रिभंगी दल अस्मूहं, जिन उक्तं जिनागमं ।
आयु त्रिभागं कृत्वा, त्रिभंगी त्रिति अस्तितं ।। २ ।।

अन्वयार्थ - (जिन उक्तं जिनागमं) जिनेन्द्र परमात्मा ने जिनागम में **(त्रिभंगी दल अस्मूहं)** त्रिभंगी (तीन-तीन भेद) दल के समूह को कहा है **(आयु त्रिभागं कृत्वा)** आयु का त्रिभाग में जीव को **(त्रिभंगी त्रिति अस्तितं)** अंतिम तीसरे भाग में स्थित होने पर आयु बन्ध का प्रसंग बनता है।

विशेषार्थ - जिनेन्द्र कथित जिनवाणी में त्रिभंगी अर्थात् तीन-तीन बातों की बड़ी विशेषता है और अनेक त्रिभाग समूह हैं। उन त्रिभाग में यह आयु का त्रिभाग भी निरूपित है जिससे आयुबन्ध होता है। यह आठ त्रिभाग में होता है जिसका स्पष्टीकरण अगली गाथा में किया गया है। इस आयु के त्रिभाग में आयु का बन्ध उस समय की लेश्या के अनुसार होता है।

कषाय सहित योग आस्रव का कारण है, इसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं। कषाय शब्द में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद इन तीनों का समावेश हो जाता है, इसलिये अध्यात्म में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद तथा योग को आस्रव का भेद गिना जाता है। यदि उन भेदों को बाह्य रूप में स्वीकार करें और अंतरंग में उन भावों की यथार्थ पहिचान न करे तो वह मिथ्यादृष्टि हैं। यदि मात्र बाह्य क्रोध को कषाय समझें तथा अभिप्राय में रहने वाले राग-द्वेष जो मूल क्रोध है को न समझें तो मिथ्या मान्यता दूर नहीं होती। बाह्य चेष्टा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को योग समझें और शक्तिभूत आत्मप्रदेशों के परिस्पंदन रूप योग को न जानें तो मिथ्या मान्यता दूर नहीं होती इसलिये अपने अंतरंग भाव के अभिप्राय पहिचान कर उस सम्बंधी मान्यता दूर करना चाहिए।

प्रश्न – आयुबंध और गतिबंध में क्या भेद है ?

समाधन – आयुबंध – आठ द्रव्य कर्म के भेद में आयुकर्म है, इसलिये आयुकर्म का ही बंध होता है। आयुकर्म के भी चार भेद हैं – नरक, तिर्यंच, देव, मनुष्य। गति – द्रव्य कर्म के एक भेद, नामकर्म की, गति नाम की प्रकृति है, इसके भी चार भेद हैं – नरक, तिर्यंच, देव, मनुष्य, परन्तु यह प्रकृति है, जिसके अनुसार शरीरादि की रचना होती है। यह परिणामों के अनुसार बदलती भी रहती है। आयुकर्म बदलता नहीं है।

प्रश्न – आयुबंध कर्म का बंध लेश्या से ही क्यों होता है ? शारीरिक क्रिया भाव आदि के अनुसार क्यों नहीं होता है ?

समाधान – शारीरिक क्रिया भाव आदि के अनुसार शेष सात कर्मों का आस्रव बंध होता है। आयुकर्म की विशेषता यह है कि आयुबंध हुए बिना जीव एक आयु पूर्ण होने के पश्चात् कहाँ जायेगा ? दूसरे भव में जाने के पूर्व उसका आयुबंध होना आवश्यक है। यह लेश्या के आधार पर इसलिये होता है क्योंकि नरक-निगोदादि के जीवों की क्रिया और भाव तो अवक्तव्य हैं, वहाँ तो लेश्या के आधार पर ही आयुबंध होता है, इसलिये आयुबंध का सम्बंध लेश्या से ही है।

आयुयं जिनं उक्तं, वर्ष षष्टानि निस्चयं ।
भव्यात्मा हृदये चिंते, त्रिभंगी दल स्मृतं ।। ३ ।।
तस्यास्ति त्रिविधिं क्रित्वा, दसास्ति त्रितिय उच्यते ।
मुहूर्तं जिनं प्रोक्तं, समयादि त्रितिय स्तितं ।। ४ ।।

अन्वयार्थ – (आयुयं जिनं उक्तं) जिनेन्द्र भगवान ने आयु बन्ध का स्वरूप [त्रिभाग के अन्तर्गत] कहा है, यदि किसी की आयु **(वर्ष षष्टानि निस्चयं)** ६० वर्ष निश्चित की जाय तो वह **(भव्यात्मा हृदये चिंते)** भव्यात्मा जीव अपने हृदय में चिंतन करता है **(त्रिभंगी दल स्मृतं)** कि किस त्रिभाग में आगामी आयु का गति बन्ध होगा।

(तस्यास्ति त्रिविधिं क्रित्वा) उस ६० वर्ष की आयु के तीन भाग करें **(दसास्ति त्रितिय उच्यते)** दो भाग बीतने पर तीसरे भाग में जीव को आयु का बन्ध होता है ऐसा कहा है **(तस्यास्ति समयं त्रियं)** यदि इन आठ त्रिभागों में भी आयु का बन्ध नहीं हुआ तो **(मुहूर्तं जिनं प्रोक्तं)** अन्तर्मुहूर्त में आगामी आयु का बन्ध होगा ही ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

विशेषार्थ – आयु बन्ध का विधान जिनेन्द्र परमात्मा के कहे अनुसार होता है। कर्म भूमि के मनुष्य एवं तिर्यंच की आयु का बन्ध जितनी आयु उसका तीसरा भाग शेष रहने पर होता है। यदि उसमें नहीं हुआ तो शेष आयु के त्रिभाग पर फिर आयु बन्ध का समय आता है इस प्रकार आठ बार ऐसा त्रिभाग काल आता है। इसमें आयु बन्ध न हो तो मृत्यु के अन्तर्मुहूर्त पहले आयु बन्ध अवश्य ही होता है, तब ही यह जीव आगामी पर्याय में जाता है। जो मोक्षगामी जीव होते हैं उनका आयुबन्ध नहीं होता, आयुबन्ध होने से संसार में जन्म-मरण करना पड़ता है, इसलिए जिनेन्द्र परमात्मा कहते हैं कि हमेशा अपने शुद्धात्म स्वरूप का स्मरण रखना चाहिए। आयु साठ वर्ष होने पर आठ अपकर्ष काल का विधान निम्न प्रकार आयेगा-

पहला त्रिभाग –	२० वर्ष शेष रहने पर
दूसरा त्रिभाग –	६वर्ष ८ माह शेष रहने पर

तीसरा त्रिभाग –	२ वर्ष २ माह २० दिन शेष रहने पर
चौथा त्रिभाग –	८ माह २६ दिन १६ घण्टे शेष रहने पर
पाँचवा त्रिभाग –	२ माह २८ दिन २१ घण्टे २० मिनिट शेष रहने पर
छटवाँ त्रिभाग –	२९ दिन १५ घण्टे ६ मिनिट ४० सेकेण्ड शेष रहने पर
सातवाँ त्रिभाग –	९ दिन २१ घण्टे २ मिनिट १३$\frac{१}{३}$ सेकेण्ड शेष रहने पर
आठवाँ त्रिभाग –	३ दिन ७ घण्टे ४४$\frac{४}{९}$ सेकेण्ड शेष रहने पर

यदि आठों त्रिभाग कालों में आयु कर्म न बंधे तो मरण के अन्तर्मुहूर्त पहले अवश्य ही आयु कर्म का बंध हो जाता है। एक त्रिभाग में बन्ध हो जाने पर आगे के त्रिभागों में आयु बन्ध तो वही रहेगा परन्तु स्थिति कम या अधिक हो सकती है।

त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं, समयादि त्रितिय स्तितं ।
भव्यात्मा चिंतनं भावं, सुद्धात्मा सुद्धं परं ।। ५ ।।

अन्वयार्थ – (त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं) त्रिभंगी प्रवेश के स्वरूप को कहता हूँ **(समयादि त्रितिय स्तितं)** अज्ञानी जीव उस समय तीन-तीन के भेद रूप इस त्रिभंग के भाव में स्थित होता है और **(भव्यात्मा चिंतनं भाव)** भव्यात्मा जीव अपना चिंतन करता है, [विचार करता है] कि मेरा **(सुद्धात्मा सुद्धं परं)** शुद्धात्म स्वरूप तो परम [उत्कृष्ट] शुद्ध है।

विशेषार्थ – शुभभाव और अशुभभाव दोनों कषाय हैं, जिनसे कर्म बंध होता है इसलिए यह संसार के ही कारण हैं, शुभ भाव बढ़ते-बढ़ते उससे शुद्ध भाव नहीं हो सकता। शुद्ध के अभेद आलम्बन पूर्वक अर्थात् ''मैं ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा हूँ परम पारिणामिक मात्र परम शुद्ध चेतन सत्ता हूँ '' इस स्थिति में रहने पर सब कर्मास्रव आयुबन्ध आदि से बचा जा सकता है। जितने अंश में शुद्धता प्रगट होती है उतने अंश में धर्म है, यही मुक्ति मार्ग है। शुभ-अशुभ भाव से कर्मास्रव, कर्मबन्ध होता है, ऐसा विचार भव्य जीव को करना चाहिए और कर्मास्रव के कारणों से बचकर अपने शुद्धात्मा के परम शुद्ध स्वभाव में रहना चाहिये, इसी से कर्मास्रव, आयुबन्ध से बचा जा सकता है।

आस्रव बन्ध में विशेषता का कारण-तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्य विशेष से कर्मास्रव में विशेषता, हीनाधिकता होती है। आयुकर्म के अतिरिक्त अन्य सातकर्मों का आस्रव प्रति समय हुआ करता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में रत रहना ही कर्मास्रव से बचने का उपाय है।

प्रश्न – यह कर्मास्रव कैसे होता है?

समाधान – इस प्रश्न के समाधान में श्री गुरु आगे की गाथा कहते हैं-

१०८ जीवाधिकरण

त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं, भावं सय अठोत्तरं ।
मिथ्यात मय सम्पूर्नं, रागादि मल पूरितं ।। ६ ।।

अन्वयार्थ – (त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं) त्रिभंगी प्रवेश के स्वरूप को कहा है कि जीव स्वयं अपने

विभाव परिणाम के निमित्त से **(मिथ्यात मय सम्पूर्नं)** मिथ्यात्व से परिपूर्ण **(रागादि मल पूरितं)** रागादि मल से तन्मय [लिप्त] होता हुआ निरंतर **(भावं सय अठोत्तरं)** जीवाधिकरण के एक सौ आठ भावों के द्वारा कर्मास्रव करता है ।

विशेषार्थ - आत्मा के साथ जो कर्मास्रव होता है, उसमें दो प्रकार का निमित्त होता है। एक जीव और दूसरा अजीव जीव-अजीव का पर्यायी निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध होता है। जीव-अजीव का सामान्य अधिकरण (निमित्त) नहीं किन्तु जीव-अजीव के विशेष (पर्याय) अधिकरण होते हैं।

१. जीवाधिकरण आस्रव-समरम्भ-समारम्भ-आरम्भ, मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना तथा चार कषाय क्रोध-मान-माया-लोभ की विशेषता से ३×३×३×४ = १०८ भेद रूप है।

समरम्भादि तीन भेद हैं। प्रत्येक में मन-वचन-काय यह तीन भेद लगाने से नौ भेद हुए। इन प्रत्येक भेद में कृत-कारित-अनुमोदना तीन भेद लगाने से २७ भेद हुए और इन प्रत्येक में क्रोध-मान-माया-लोभ यह चार भेद लगाने से १०८ भेद होते हैं। यह सब भेद जीवाधिकरण आस्रव के हैं।

अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यात्व को अनंत कहा जाता है। उसके साथ जिस कषाय का बन्ध होता है उसे अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं। कषाय के चार भेद होते हैं - अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन।

अनंतानुबंधी कषाय - जिस कषाय से जीव, स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट न कर सके उसे अनंतानुबंधी कषाय कहते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय - जिस कषाय से जीव एकदेश रूप संयम (सम्यग्दृष्टि श्रावक के व्रत) किंचित् मात्र भी धारण न कर सके उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

प्रत्याख्यानावरण कषाय - जिस कषाय से जीव सम्यग्दर्शन पूर्वक सकल संयम को ग्रहण न कर सके उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

संज्वलन कषाय - जिस कषाय से जीव का संयम तो बना रहे परन्तु शुद्ध स्वभाव में, शुद्धोपयोग में पूर्णरूप से लीन न हो सके उसे संज्वलन कषाय कहते हैं।

समरम्भ - किसी भी विकारी कार्य के करने के संकल्प करने को समरम्भ कहा जाता है। संकल्प दो तरह का होता है। १. मिथ्यात्व रूप संकल्प २. अस्थिरता रूप संकल्प

समारम्भ - किये गये निर्णय या संकल्प के अनुसार साधन मिलाने के भाव को समारम्भ कहा जाता है।

आरम्भ - संकल्प अनुसार कार्य के प्रारम्भ करने को आरम्भ कहते हैं।

कृत - कार्य स्वयं करने के भाव को कृत कहते हैं।

कारित - कार्य को दूसरों से कराने के भाव को कारित कहते हैं।

अनुमोदना- दूसरों के द्वारा किये गये विकारी कार्य को भला समझना ही अनुमोदना करना है।

मिथ्यात्व रागादि भाव सहित १०८ प्रकार से कर्मों का आस्रव होता है। यह संसार वर्धक पाप बन्ध का कारण है। जीव का अज्ञान मिथ्यात्व ही कर्मास्रव का मूल कारण है जिससे वह अनादि से संसार में परिभ्रमण

कर रहा है।

प्रश्न- जीव का अज्ञान मिथ्यात्व कर्मास्रव का कारण है तो कर्मास्रव के निरोध का उपाय क्या है?

समाधान - इसके समाधान में श्री गुरु तारण स्वामी आगे की गाथा कहते हैं।

सम्यग्दर्शन की भावना आस्रव निरोधक है

त्रिभंगी निरोधनं क्रित्वा, संमिक्त सुद्ध भावना ।
भव्यात्मा चेतना रूपं, संमिक् दर्सनमुत्तमं ।। ७ ।।

अन्वयार्थ - (त्रिभंगी निरोधनं क्रित्वा) त्रिभंगी दल का निरोध करने के लिये **(भव्यात्मा)** भव्य जीव **(संमिक्त सुद्ध भावना)** शुद्ध सम्यक्त्व की भावना भाते हैं और **(चेतना रूपं)** चैतन्य स्वरूप का अनुभवन करते हैं **(संमिक् दर्सनमुत्तमं)** उत्तम सम्यग्दर्शन को धारण करते हैं। कर्मास्रव के निरोध का कारण है सम्यग्दर्शन का प्रगट होना है।

विशेषार्थ - मिथ्यार्दशन सहित सभी भाव संसार के कारण कर्मबन्ध के कारक हैं, इसलिए मिथ्यात्व सहित सर्व भावों का निरोध करके सम्यग्दर्शन की भावना करना चाहिए। तत्त्व का श्रद्धान एवं निज शुद्धात्मा का अनुभव होना ही निश्चय या उत्तम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का होना ही कर्मास्रव के निरोध का मूल है।

प्रश्न - इतना सब जानते हुए भी कर्मास्रव क्यों होता है?

समाधान - इसके समाधान में प्रथम अध्याय में ३६ त्रिभंग द्वारा कर्मास्रव के कारण बताये हैं जिनमें जुड़ने पर, उन भावों में बहने पर कर्मास्रव होता है।

प्रथम अध्याय - त्रिभंगी भाव

१. सुभ, असुभ, मिस्र : तीन भाव

सुहस्य भावनं क्रित्वा, असुहं भाव तिस्टते ।
मिस्र भावं च मिथ्यात्वं, त्रिभंगी दल संजुत्तं ।। ८ ।।

अन्वयार्थ - (सुहस्य भावनं क्रित्वा) यह जीव कभी शुभ की भावना करता है **(असुहं भाव तिस्टते)** कभी अशुभ भावों में तिष्टता है **(च)** और **(मिस्र भावं मिथ्यात्वं)** मिथ्यात्व सहित मिश्र भावों को करता हुआ **(त्रिभंगी दल संजुत्तं)** तीन-तीन भंगों के समूह से संयुक्त होकर कर्मास्रव करता है।

विशेषार्थ - शुभ-अशुभ और मिश्र यह तीन भाव कर्मास्रव के कारण हैं। इन भावों द्वारा आत्मप्रदेशों का सकम्प होना ही आस्रव है। योग (आत्मप्रदेशों के परिस्पंदन) में शुभ या अशुभ ऐसा भेद नहीं है, किन्तु आचरण रूप उपयोग में (चारित्र गुण की पर्याय में) शुभोपयोग और अशुभोपयोग ऐसा भेद होता है।

सम्यक्त्व पूर्वक जो मंद कषाय रूप भाव होते हैं उनको शुभ भाव कहते हैं, वे शुद्धात्मा की भावना सहित हैं, शुद्ध स्वरूप में रुचि रूप हैं, वे भाव यद्यपि पुण्य बन्ध के कारण हैं तथापि मोक्षमार्ग में साधक नहीं हैं।

मिथ्यादृष्टि के भी मन्दकषाय रूप शुभ भाव होते हैं वे इन शुभ भावों से इतना पुण्य बांधते हैं कि उसके फलस्वरूप द्रव्यलिंगी मुनि नव ग्रैवेयक तक जाकर अहमिन्द्र हो जाते हैं तथापि वह पुनः साधारण

मनुष्य होकर भव भ्रमणकारी भावों में फँस जाते हैं इसलिए वह वास्तव में अशुभ भाव ही है।

मिथ्यादृष्टि पापानुबंधी पुण्यकर्म बांधता है जो परम्परा से पाप का कारण है। सराग सम्यग्दृष्टि पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म बांधता है जो कि परम्परा से मोक्ष में सहकारी है।

मिथ्यात्व कर्म के उदय सहित जितने भाव हैं वे सब वास्तव में अशुभ हैं। सराग सम्यग्दृष्टि के भी निचली श्रेणी में कभी अशुभ लेश्या से पाप कर्म का बन्ध होता है, अशुभोपयोग हो जाता है। तीव्र कषाय की अपेक्षा अशुभ है परन्तु सम्यक्त्व सहित होने से शुभ है। तीसरा मिश्र भाव, मिश्र गुणस्थान में होता है जहाँ सम्यक्त्व मिथ्यात्व मिश्र मोहनीय कर्म का उदय होता है, जो अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं ठहरता है फिर वह जीव इन भावों से या तो मिथ्यात्व में आता है या फिर सम्यक्त्व में चला जाता है। मिथ्यात्व व सासादन गुणस्थान के सर्व भाव मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषाय के उदय सहित होने से अशुभभाव हैं।

तीसरे मिश्र गुणस्थान के भाव मिश्र हैं, चौथे अविरत गुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्म लोभ गुणस्थान तक शुभ भावों का सद्भाव है जिनसे कर्मों का आस्रव, बन्ध होता है। इस प्रकार शुभभाव, अशुभभाव, मिश्रभाव इन तीनों से कर्मास्रव होता हैं। कर्मों के आस्रव व बन्ध में योग व मोह कारण है।

२. मन, वचन, काय : तीन भाव

मनस्य चिंतनं क्रित्वा, वचनं विपरीत उच्यते ।
कर्मनं क्रित मिथ्यात्वं, त्रिभंगी दल स्मृतं ।। ९ ।।

अन्वयार्थ - **(मनस्य चिंतनं क्रित्वा)** मन से जीव विपरीत चिंतन करता है **(वचनं विपरीत उच्यते)** वाणी से विपरीत वचन बोलता है और **(कर्मनं क्रित मिथ्यात्वं)** काय से मिथ्यात्वादि विपरीत आचरण रूप परिणमन करता है **(त्रिभंगी दल स्मृतं)** यह त्रिभंगी दल [मन, वचन, काय] कर्मास्रव का कारण जानो।

विशेषार्थ - कर्म वर्गणाओं के आस्रव का मूल कारण योग है। योग के दो भेद हैं - भावयोग और द्रव्ययोग। आत्मा की एक स्वाभाविक शक्ति परिस्पंदन रूप योग जो कर्म एवं नोकर्म पुद्गल वर्गणाओं को आकर्षित करती है, उसको भावयोग कहते हैं। यह भावयोग वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम एवं शरीर नामकर्म के उदय से काम करता है। आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदन या हिलना, द्रव्य योग है। मन, वचन, काय का हलन-चलन, आत्मा के प्रदेश परिस्पंदन का निमित्त कारण है। जिस समय मन, वचन, काय के द्वारा कुछ कार्य होता है उसी समय आत्मा के प्रदेश सकम्प होते हैं तथा उसी समय पुद्गल कर्म वर्गणाएँ आस्रवित होती हैं जिससे कर्म बन्ध हो जाता है। यदि कषाय भाव होता है तो साम्परायिक आस्रव होता है तथा स्थिति अनुभाग बन्ध हो जाता है। कषाय सहित योग को ही लेश्या कहते हैं। मन, वचन, काय तीनों से एक साथ कार्य नहीं होते। एक समय में एक योग कार्य करता है। योगों का पलटना भी शीघ्र हो जाता है । इन तीनों योगों के १५ भेद हैं चार मनोयोग, चार वचन योग, सात काय योग।

सत्य, असत्य, उभय, अनुभय-चार मनोयोग हैं।

सत्य, असत्य, उभय, अनुभय-चार वचनयोग हैं।

औदारिक काय, औदारिक मिश्र काय, वैक्रियक काय, वैक्रियक मिश्र काय, आहारक काय, आहारक

मिश्र काय और कार्माण काय-यह सात काय योग हैं। यद्यपि भाव योग एक ही प्रकार का है तथापि निमित्त की अपेक्षा से उसके १५ भेद होते हैं। जब योग मन की ओर झुकता है तब उसमें मन निमित्त होने से योग और मन का निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध दर्शाने के लिए उस योग को मनोयोग कहा जाता है। इस प्रकार जब वचन की ओर झुकाव होता है तब वचन योग कहा जाता है और जब काय की ओर झुकाव हो तब काय योग कहा जाता है।

सत्य को मन से विचारना व सत्य ही कहना, सत्य मन वचन हैं।
असत्य ही विचारना व असत्य ही कहना, असत्य मन व वचन हैं
सत्य व असत्य मिश्रित को विचारना व कहना, उभय मन व वचन हैं।

जिस बात को सत्य या असत्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता, वह अनुभय मन व वचन है। जैसे- ''उसने क्या कहा था ?''

मनुष्य और तिर्यंच को पर्याप्त दशा में औदारिक व अपर्याप्त दशा में औदारिक मिश्र काय योग होता है। कार्माण व औदारिक के मिश्र को औदारिक मिश्र कहते हैं। देव और नारकी को पर्याप्त दशा में वैक्रियक व अपर्याप्त दशा में वैक्रियक मिश्र काय योग होता है। आहारक समुद्घात के समय छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के आहारक मिश्र काय योग होता है। औदारिक के साथ आहारक मिश्र होता है। विग्रहगति में एवं केवली समुद्घात में प्रतरद्वय व लोक पूर्ण में कार्माण योग होता है, जब तक यह जीव चौदहवें गुणस्थान में न पहुँचे अर्थात् सिद्ध गति के निकट न पहुँचे तब तक हर एक जाग्रत व सुप्त दशा में कोई न कोई योग होता है जिससे कर्म या नोकर्म का आस्रव हुआ करता है। विग्रह गति में केवल कार्माण व तैजस वर्गणाओं का ही ग्रहण होता है।

एकेन्द्रिय को केवल काय योग होता है। दो इन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक काय और वचन योग होता है। सैनी पंचेन्द्रियों के काय, वचन, मन तीनों योग होते हैं। मंद कषाय सहित मन, वचन, काय का परिणमन, शुभ योग कहलाता है तथा तीव्र कषाय सहित मन, वचन, काय का परिणमन अशुभ योग कहलाता है।

३. क्रित, कारित, अनुमति : तीन भाव

क्रितं असुद्ध कर्मस्य, कारितं तस्य उच्यते ।
अनुमति तस्य उत्पाद्यंते, त्रिभंगी दल उच्यते ।। १० ।।

अन्वयार्थ - **(क्रितं असुद्ध कर्मस्य)** अशुद्ध कर्म को स्वयं करता है **(कारितं तस्य उच्यते)** दूसरों से कराता है और **(अनुमति तस्य उत्पाद्यंते)** अशुद्ध कार्य को करने वालों की अनुमोदना करता है **(त्रिभंगी दल उच्यते)** इस त्रिभंगी दल को कर्मास्रव का कारण कहा गया है।

विशेषार्थ - शुद्धोपयोग में रमण करना ही आत्मा का स्वहित है, संवर का कारण है। इसके विपरीत अशुद्धोपयोग है, चाहे शुभ हो या अशुभ हो इसी से कर्मास्रव बन्ध होता है। क्रोध, मान, माया, लोभ, के वशीभूत होकर यह जीव बहुत सारे कार्यों को स्वयं करता है, दूसरों से करवाता है तथा दूसरों के द्वारा किए गए कार्यों की अनुमोदना करता है। कृत, कारित, अनुमोदना में जहाँ कषाय भाव अधिक होगा वहाँ अधिक आस्रव तथा कषाय भाव कम होने पर कम आस्रव होगा अत: कषाय की तीव्रता, मंदता पर कर्मास्रव की तीव्रता मंदता निर्भर है। एक राजा स्वयं राजमहल में बैठकर युद्ध की आज्ञा देता है। राजा स्वयं युद्ध नहीं करता किन्तु

उसकी आज्ञा से ही युद्ध हो रहा है इसलिए वह युद्ध करने वालों से अधिक पाप का बन्ध करेगा। दूसरी तरफ युद्ध करने वाले यदि यह भाव रखें कि हमारी स्वयं की इच्छा इस युद्ध को करने की नहीं थी किन्तु राजाज्ञा का पालन करना पड़ रहा है, तो करने वाले योद्धाओं को राजा की अपेक्षा कम बन्ध होगा। तीसरी तरफ एक साधारण मनुष्य इस युद्ध की बात सुनकर बड़ा ही रंजायमान (प्रसन्न) होता है तो युद्ध कराने वाले राजा व युद्ध करने वाले सैनिकों से ज्यादा कषाय की तीव्रता होने के कारण वह अधिक पाप का बन्ध करेगा। हिंसा करने वाला, कराने वाला और सम्मति देने वाला तीनों हिंसक हैं। यदि तीनों की कषाय समान होगी तो समान बन्ध व कम या अधिक होगी तो कम या अधिक बन्ध होगा; इसलिए अशुभ कार्यों को न तो करना चाहिए, न करवाना चाहिए और न ही उनकी सराहना करना चाहिए। जहाँ कृत, कारित व अनुमति का कोई विकल्प नहीं है केवल निर्विकल्प स्वानुभव है वहाँ आस्रव का अभाव है, अथवा गुणस्थान अपेक्षा अल्पबन्ध है। ''मैं कृत, कारित, अनुमोदना से मन-वचन-काय के द्वारा सम्पादित भूत, भविष्य वर्तमान सम्बंधी सर्व कर्मों को त्याग कर अर्थात् सबसे नाता तोड़कर कर्म के विकल्प से रहित परम शुद्ध चैतन्य स्वभाव का आलम्बन लेता हूँ'' यही ज्ञानी का कर्तव्य है।

प्रश्न - शुभ-अशुभ दोनों कर्मों का कृत-कारित-अनुमति से त्याग का अभिप्राय क्या है ? अशुभ तो हेय है परन्तु शुभ तो करना चाहिए ?

समाधान - हिंसादि अशुभ कर्म पापास्रव हैं, अहिंसादि शुभ कर्म पुण्यास्रव हैं किन्तु दोनों ही आस्रव होने से बन्ध के कारण हैं, अत: उन्हें उपादेय मानना मिथ्यादर्शन है।

यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है कि मैं किसी को जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ ऐसे शुभ अहंकार से भरा हुआ वह शुभ अध्यवसाय है और मैं मारता हूँ, दु:खी करता हूँ ऐसे अशुभ अहंकार से भरा हुआ वह अशुभ अध्यवसाय है। अहंकार रूप मिथ्याभाव दोनों में है अत; यह नहीं मानना चाहिए कि पुण्य का कारण दूसरा है और पाप का कारण कोई अन्य है। अज्ञान मय अध्यवसाय ही दोनों का कारण है इसलिए दोनों हेय हैं।

४. कुमति, कुस्रुति, कुअवधि : तीन भाव

कुन्यानं त्रिविधिं प्रोक्तं, जिह्वा अग्रेन तिस्टते ।
छाया त्रि उवंकारं, मिथ्या दिस्टि तत्परा ।। ११ ।।
कुमतिं क्रित्वा मिथ्यात्वं, कुश्रुतं तस्य पस्यते ।
कुअवधि तस्य दिस्टंते, मिथ्या माया विमोहितं ।। १२ ।।

अन्वयार्थ - (कुन्यानं त्रिविधिं प्रोक्तं) कुज्ञान तीन प्रकार का कहा गया है **(जिह्वा अग्रेन तिस्टते)** जो जिह्वा के अग्रभाग पर तिष्टता है [अर्थात् वह ज्ञान चर्चा रूप रहता है] **(छाया त्रि उवंकारं)** ये कुज्ञान तीन प्रकार के ऊँकार [ऊँकार, ह्रींकार, श्रींकार] पर छाया बना रहता है अर्थात् [इनको ढके रहता है] कुज्ञानमय जीव की **(मिथ्या दिस्टि तत्परा)** विपरीत दृष्टि रहती है और वह उसी में तत्पर रहता है।

(कुमतिं क्रित्वा मिथ्यात्वं) मिथ्यात्व सहित जीव की कुमति होती है वह विपरीत मान्यता करता है कुमति के साथ **(कुश्रुतं तस्य पस्यते)** कुश्रुत भी देखा जाता है और कुमति, कुश्रुत के होने पर **(कुअवधि**

तस्य दिस्टंते) उसे कुअवधि भी दिखाई देता है अर्थात् **(मिथ्या माया विमोहितं)** निरंतर मिथ्या, माया में विमोहित कुज्ञानमय जीव कर्म का आस्रव बन्ध करता रहता है।

विशेषार्थ – पाँच इन्द्रिय और मन के द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थों को विशेष रूप से जानना वह श्रुतज्ञान है। जो द्रव्य–क्षेत्र–काल और भाव की मर्यादा सहित इन्द्रिय या पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। ज्ञान, आत्मा का विशेष गुण है किन्तु मिथ्यात्व सहित होने से यह कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ज्ञान कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि का मूल अभिप्राय संसार वासना है उसके अनुभव में आत्मानंद रस का स्वाद नहीं है, वह संसार में लिप्त है अतएव मतिज्ञान से पदार्थों को जानकर इष्ट पदार्थों में राग व अनिष्ट पदार्थों में द्वेष करता है। स्त्री पुत्रादि धन–धान्य में तन्मय रहता है, इष्ट पदार्थों के लाभ के लिए न्याय–अन्याय को नहीं गिनता है, पर पदार्थों में अहंकार ममकार रखता है, जबकि सम्यग्दृष्टि की अहंबुद्धि अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप में ही होती है वह किसी भी पर पदार्थ को अपना नहीं मानता है, भीतर से सच्चा वैरागी होता है। मिथ्यादृष्टि जीव को आत्मानुभव नहीं होता इसलिए उसका मति श्रुत ज्ञान कुमति तथा कुश्रुत ज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान मात्र जिव्हा के अग्रभाग पर ठहरता है अर्थात् मात्र चर्चा करता है। उसे अपने आत्मस्वरूप और वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं होता है।

आर्त, रौद्र, मिश्र : तीन भाव

आर्त ध्यान रतो भावं, रौद्र ध्यान समं जुतं ।
मिस्रस्य राग मयं मिथ्या, त्रिभंगी नरयं पतं ।। १३ ।।

अन्वयार्थ – (आर्त ध्यान रतो भावं) यह जीव आर्तध्यान के भाव में रत रहते हुए **(रौद्र ध्यान समं जुतं)** रौद्र ध्यान के परिणामों से संयुक्त रहता है और **(मिस्रस्य राग मयं मिथ्या)** रागमय मिथ्या परिणाम सहित मिश्र ध्यान करता है **(त्रिभंगी नरयं पतं)** यह तीनों भाव नरक में पतन कराने वाले हैं।

विशेषार्थ – आर्त, रौद्र, मिश्र यह तीन भाव भी कर्मास्रव के कारण हैं। मिथ्यात्व सहित तो यह नरक ले जाने वाले होते हैं। सम्यक्दर्शन सहित छठवें गुणस्थान तक आर्त ध्यान और पाँचवें गुणस्थान तक रौद्र ध्यान होता है वहाँ तक कर्मास्रव और बन्ध है जो संसार का ही कारण है।

प्रथम आर्तध्यान – जहाँ दु:खित, आकुलित, क्षोभित, शोकार्त परिणाम हों उसको आर्तध्यान कहते हैं। यह आर्तध्यान चार कारणों से होता है अत: इसके चार भेद हैं –

१. इष्ट वियोगज – मन को प्रिय स्त्री, पुत्र, मित्र, भोजन वस्त्र आदि का वियोग हो जाने पर उनके संयोग की कामना करके चिन्ता करते हुए दु:खित होना।

२. अनिष्ट संयोगज – मन को अप्रिय स्थान, वस्त्र, भोजन, स्त्री, पुत्र, नौकर, आभूषण, शत्रु आदि का संयोग होने पर उससे छुटकारा पाने की चिन्ता में दु:खित होना।

३. पीड़ा चिन्तवन – वेदना जनित रोगों के होने पर पीड़ा के कारण चिन्तातुर होना।

४. निदानज – आगामी भोगों के मिलने की आशा तृष्णा से आकुल भाव रखना।

यह चारों आर्तध्यान मिथ्यादृष्टि के भीतर बहुत तीव्र होते हैं। उससे मिथ्यात्वी जीव कभी नरक आयु बांध कर नारकी हो जाता है। यदि कषाय की तीव्रता कम होती है तो तिर्यंच आयु बांधकर तिर्यंच हो जाता है।

इष्ट वियोग आर्तध्यान के कारण दूसरे स्वर्ग के देव एकेन्द्रिय तिर्यंच व बारहवें स्वर्ग तक के देव पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी हो जाते हैं। ज्ञानी को वस्तु स्वरूप विचार कर कर्मों के उदय को समझकर सन्तोष रखना चाहिए। चौथे - पाँचवें गुणस्थान में संयोग के कारण तो यह होते ही हैं, छटवें गुणस्थान में साधु को भी निदान के सिवाय तीन आर्तध्यान का सद्भाव रहता हैं।

द्वितीय रौद्र ध्यान - रुद्र, क्रूर, दुष्ट आशय से जहाँ चिंता किसी एक अभिप्राय में प्रवर्ते उसको रौद्र ध्यान कहते हैं। इसके चार भेद हैं-

१. हिंसानंदी - हिंसा करने कराने में व सम्मति देने में आनंदित होना। मिथ्यादृष्टि जीव स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है इसलिए कृष्णादि तीन लेश्या में पर की हानि करने का दुष्ट विचार करता रहता है।

२. मृषानंदी - असत्य बोलकर, बुलवाकर व सम्मति देकर प्रसन्न होना, मिथ्यादृष्टि मन, वचन, काय की कुटिलता पूर्वक अपने स्वार्थ को साध्य बना करके झूठ का जाल बिछाकर पर प्राणियों को फाँस लेता है और अपनी इस चतुराई से बड़ा प्रसन्न होता है।

३. चौर्यानंदी - चोरी करके, चोरी करवाकर व सम्मति देकर आनंद मानता है। मिथ्यादृष्टि धन का लोलुपी विश्वासघात करता है। जिस तरह बने पर की सम्पत्ति को हर लेने में संतोष मानता है ।

४. परिग्रहानंदी - परिग्रह बढ़ाने में, बढ़वाने में, तथा बढ़ते हुए परिग्रह को देखकर आनंद मानता है। मिथ्यादृष्टि धनादि परिग्रह का तीव्र मूर्च्छावान होता है: अतएव परिग्रह संग्रह में एवं परिग्रह की रक्षा में इतना मग्न रहता है कि धर्म, परोपकार, दानादि कर्म को भूलकर केवल परिग्रह की वृद्धि में ही उन्मत्त रहता है। इस प्रकार चार रौद्र ध्यान को करने वाला मिथ्यादृष्टि तीव्र अशुभ भावों से नरक आयु बांधकर नरक गति चला जाता है। मिथ्यात्व का अभाव होने पर भी चौथे गुणस्थान में तथा पाँचवें गुणस्थान में रौद्र ध्यान कभी-कभी हो जाता है इसलिए हमेशा सावधान रहना चाहिए।

तीसरा मिश्रध्यान - आर्त-रौद्र का मिला हुआ रूप तीसरा मिश्र ध्यान होता है। उदाहरणत: कोई किसी की हिंसा करना चाहता था, हिंसा का प्रयत्न करने पर भी वह सामने वाला बच जाए और अपनी हिंसा हो जाए तब हिंसानंदी रौद्रध्यान के साथ अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान हो जाता है। इसी तरह झूठ बोलकर कार्य सम्पन्न करना चाहता था व चोरी करके धन लेना चाहता था अथवा परिग्रह वृद्धि करना चाहता था परन्तु असफल होने पर शोक करता है, यह रौद्रध्यान मिश्रित आर्तध्यान है। परिग्रह बढ़ाने की तीव्र अभिलाषा से ही दोनों ध्यान मिश्रित होते हैं। इस तरह यह आर्त-रौद्र, मिश्र भाव तीनों ही संसार भ्रमण में कारणभूत भाव हैं। पर को तथा अपने को दु:खकारी हैं। इससे तीव्र असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। चारों कषायों को जीतने से आर्त रौद्र ध्यान नहीं होते हैं। जो तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करता है उसको समस्त आचरण अपने वीतराग भाव अनुसार भाषित होते हैं।

६. मिथ्यात, समय मिथ्यात, समय प्रकृति मिथ्या : तीन भाव

मिथ्या समयं च संपूर्नं, समय मिथ्या प्रकासए ।
अन्रितं न्रितं जानंति, प्रकृति मिथ्या निगोदयं ।। १४ ।।

अन्वयार्थ - (मिथ्या समयं संपूर्नं) मिथ्यात्व से परिपूर्ण होकर जीव **(समय मिथ्या प्रकासए)**

सम्यक् मिथ्यात्व का प्रकाश करता है **(अन्रितं न्रितं जानंति)** असत्य को सत्य जानता है **(च)** और **(प्रकृति मिथ्या निगोदयं)** सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व में रत रहते हुए निगोदादि दुर्गतियों का पात्र बन जाता है।

विशेषार्थ - मिथ्यात्व - विपरीत मान्यता, शरीरादि में आत्मबुद्धि करना, जीव अनादि काल से अनेक शरीर धारण करता है, पूर्व का छोड़कर नवीन शरीर धारण करता है। आत्मा, जीव और अनंत पुद्गल परमाणुमय शरीर, इन दोनों के पिण्ड बंधन रूप यह अवस्था होती है, इन सबमें यह ऐसी अहं बुद्धि करता है कि- ''यह मैं हूँ '' ।

जीव तो ज्ञानस्वरूप चेतन लक्षण मयी है और पुद्गल परमाणुओं का स्वभाव वर्ण, रस, गंध, स्पर्शादि है जो अचेतन जड़ है। इन सबको अपना स्वरूप मानकर ऐसी बुद्धि करता है कि - ''यह मेरे हैं''। हलन-चलन आदि क्रिया शरीर करता है, उसे जीव ऐसा मानता है कि - ''मैं कर्ता हूँ।'' यही मिथ्यात्व भाव है। मिथ्यादर्शन की कुछ मान्यताएँ -

१. स्व पर एकत्व दर्शन, २. पर में कर्तृत्व बुद्धि, ३. पर्यायबुद्धि, ४. व्यवहार विमूढ़, ५. अतत्त्व श्रद्धान, ६. स्व स्वरूप की भ्रांति, ७. राग व शुभ भाव से आत्मलाभ हो ऐसी बुद्धि, ८. बहिर्दृष्टि, ९. विपरीत रुचि, १०. जैसा वस्तु स्वरूप हो वैसा न मानना और जैसा न हो वैसा मानना, ११. पर से लाभ-हानि होती है ऐसी मान्यता, १२. विपरीत अभिप्राय, १३. ऐसी मान्यता कि जीव शरीर की क्रिया कर सकता है, १४. निमित्ताधीन दृष्टि, १५. शुभाशुभ भाव का स्वामित्व।

मिथ्यात्व के दो भेद हैं- अग्रहीत मिथ्यात्व और ग्रहीत मिथ्यात्व। अग्रहीत मिथ्यात्व अनादि कालीन है। ऐसी मान्यता रखना कि- '' शरीर ही मैं हूँ तथा मैं पर द्रव्य का कुछ कर सकता हूँ या शुभ विकल्प से आत्मा को लाभ है, यह अनादि का मिथ्यात्व है।''

संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्यादि पर्याय में जन्म लेने के बाद पर उपदेश के निमित्त से जो अतत्त्व श्रद्धान करता है अर्थात् लोक मूढ़ता में फँसता है, वह ग्रहीत मिथ्यात्व है। ग्रहीत मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं - एकांत, विपरीत, संशय, विनय, अज्ञान मिथ्यात्व।

सम्यक् मिथ्यात्व - जिस कर्म के उदय से जीव के न तो केवल सम्यक्त्व रूप परिणाम हों और न ही केवल मिथ्यात्व रूप परिणाम हों, दोनों मिले हुए हों, उसको सम्यक् मिथ्यात्व कहते हैं।

सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व - जिस कर्म के उदय से आत्मा के सम्यक्दर्शन में चल, मल, अगाढ़ दोष उत्पन्न हों। इस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन का घात नहीं होता। यह चल, मल, अगाढ़ दोष भी अत्यंत सूक्ष्म रूप दोष हैं। यह सातवें गुणस्थान तक होते हैं।

मिथ्यात्व महापाप है। इस मिथ्यात्व मय भाव से जीव निगोद चला जाता है; अतएव कर्मों के आस्रव से बचने के लिए इन तीनों मिथ्या भावों का त्याग कर यथार्थ तत्त्व का श्रद्धान करना चाहिए। संसार का मूल मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व का अभाव किए बिना अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्षमार्ग या मोक्ष नहीं होता; इसलिए सबसे पहले यथार्थ उपयोग के द्वारा सर्व प्रकार से उद्यम करके इस मिथ्यात्व का सर्वथा नाश करना ही योग्य है। जो कोई आत्मा जड़कर्म की अवस्था और शरीरादि की अवस्था को करता नहीं है, उसे अपना

कर्त्तव्य नहीं मानता है, तन्मय बुद्धि पूर्वक परिणमन नहीं करता है किन्तु मात्र ज्ञाता है वह आत्मा ज्ञानी है।

७. मिथ्यादेव, मिथ्यागुरु, मिथ्या धर्म : तीन भाव

मिथ्यादेव गुरुं धर्मं, अन्रितं न्रित उच्यते ।
असत्यं असास्वतं प्रोक्तं, त्रिभंगी निगोयं दलं ।। १५ ।।

अन्वयार्थ - **(मिथ्यादेव गुरुं धर्मं)** मिथ्यादेव, मिथ्यागुरु, और मिथ्याधर्म के विपरीत श्रद्धान में पड़कर यह जीव **(अन्रितं न्रित उच्यते)** नाशवान, असत्य पदार्थों को सत्य कहता है **(असत्यं असास्वतं प्रोक्तं)** असत्य और असास्वत पदार्थों की ही चर्चा करता है [उनके ही माया जाल में उलझा रहता है] **(त्रिभंगी निगोयं दलं)** यह त्रिभंगी दल निगोद का पात्र बनाने वाला है।

विशेषार्थ - मिथ्यादेव, गुरु, धर्म वे हैं जिनमें देवपना, गुरुपना, धर्मपना नहीं होता है। चैतन्य स्वरूप से भिन्न देवत्व की मान्यता करना भ्रम है। ऐसे मिथ्यात्व में रत रहने की प्रेरणा देने वाले मिथ्यागुरु होते हैं जो पाप प्रपंच में रत रहते हैं, ऐसे मिथ्यागुरुओं द्वारा बनाये या बताए मार्ग पर चलकर मिथ्यादेवों को मानना, उनकी पूजा-अर्चना करना मिथ्या धर्म है। ऐसी मिथ्या मान्यता संसार में बहुत अधिक व्याप्त है।

मिथ्यादेव, गुरु, धर्म की श्रद्धा करने से सच्चे देव-गुरु, धर्म का श्रद्धान नहीं हो पाता। वह जीव न तो आत्मा को पहिचानता है न पुण्य-पाप को समझता है। वह संसारासक्त रहता है तथा अपना अनर्थ करता है। मिथ्यादेव, गुरु, धर्म की मान्यता देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, लोकमूढ़ता में गर्भित है।

मिथ्या देव, गुरु, धर्म की मान्यता के भाव अनंत संसार के बंधन में फँसाने वाले हैं एवं निगोद का पात्र बनाते हैं।

८. मिथ्यादर्शन, मिथ्यान्यान, मिथ्या चारित्र : तीन भाव

मिथ्या दर्सनं न्यानं, चरनं मिथ्या दिस्टते ।
अलहन्तो जिनं उक्तं, निगोयं दल पस्यते ।। १६ ।।

अन्वयार्थ - **(मिथ्या दर्सनं न्यानं)** मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान सहित **(चरनं मिथ्या दिस्टते)** चारित्र भी मिथ्या देखा जाता है [और जिसकी मिथ्या दर्शन, ज्ञान, चारित्र पर दृष्टि रहती है] **(अलहन्तो जिनं उक्तं)** वह जिनेन्द्र परमात्मा ने क्या कहा? उस रहस्य को प्राप्त नहीं कर पाता [मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र सहित यह त्रिभंग] **(निगोयं दल पस्यते)** निगोद का पात्र बनाने वाला है।

विशेषार्थ - सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है, आत्मा को कर्मबन्ध से छुड़ाने वाली है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र संसार भ्रमण का कारण है। जिनेन्द्र कथित मार्ग के विपरीत चलने वाले निगोदादि दुर्गति के पात्र होते हैं।

अज्ञान दशा में जीव कर्मों का आस्रव बन्ध करता है जिससे संसार परिभ्रमण रूप दुःख भोगता है। इसका कारण यह है कि अज्ञानी जीव को अपने स्वरूप के सम्बंध में भ्रम है जिसे मिथ्यादर्शन कहा जाता है। दर्शन का एक अर्थ मान्यता भी है इसलिए मिथ्यादर्शन का अर्थ मिथ्या मान्यता है।जहाँ अपने स्वरूप की मिथ्या मान्यता होती है वहाँ जीव को अपने स्वरूप का मिथ्याज्ञान होता है और वहाँ चारित्र भी मिथ्या ही होता है, इस मिथ्या या खोटे चारित्र को मिथ्याचारित्र कहा जाता है।

९. मिथ्या संजम, मिथ्या तप, मिथ्या परिनै, : तीन भाव

मिथ्या संजमं क्रित्वा, तप परिनै मिथ्या संजुतं ।
सुद्ध तत्वं न पस्यंते, मिथ्या दल निगोदयं ।। १७ ।।

अन्वयार्थ - (मिथ्या संजमं क्रित्वा) यह जीव मिथ्या संयम को धारण करता है **(तव परिनै मिथ्या संजुतं)** मिथ्या तप को पालता है, मिथ्यात्व रूप परिणति में संयुक्त रहता है **(सुद्ध तत्वं न पस्यंते)** शुद्ध तत्त्व को नहीं देखता **(मिथ्या दल निगोदयं)** यह मिथ्या दल निगोद का पात्र बना देता है।

विशेषार्थ - सम्यग्दर्शन सहित संयम, तप और परिणमन या चारित्र मोक्षमार्ग है। जहाँ शुद्धात्म तत्त्व का अनुभव है वहीं सच्चा सम्यक्दर्शन है, सच्चा संयम, सच्चा तप और आत्म परिणमन रूप चारित्र है। मिथ्यादर्शन सहित कठिन संयम, तप व चारित्र भी मिथ्या है और संसार का कारण है; क्योंकि मिथ्यादृष्टि न तो शुद्धात्म तत्त्व को पहिचानता है और न ही मोक्षतत्त्व को जानता है। मिथ्यादृष्टि को कोई न कोई कषाय-वासना रहती ही है, जो बाह्य व्यवहार में दृष्टिगोचर नहीं होती। बाह्य व्यवहार में वह संयम, तप, चारित्र का पालन करता है और अन्तर में वासना, इच्छा, मायाचारी से ग्रसित होता है; अत: ऐसे जो संसारी कामना वासना को लेकर बाह्य संयम, तप और चारित्र का पालन करते हैं किन्तु अंतरंग में शुद्धात्म तत्त्व का अनुभव नहीं करते वे द्रव्यलिंगी साधु भी मिथ्या संयम, तप, चारित्र के कारण संसार के ही पात्र होते हैं।

१०. माया, मिथ्या, निदान : तीन भाव

माया अन्रितं रागं, मिथ्यात मय संजुतं ।
असत्यं निदान बन्धं, त्रिभंगी नरयं दलं ।। १८ ।।

अन्वयार्थ - (माया अन्रितं रागं) माया झूठा राग है **(मिथ्यात मय संजुतं)** मिथ्यात्व मय भाव से संयुक्त होकर जीव **(असत्यं निदान बन्धं)** झूठे निदान बन्ध को करता है और यह **(त्रिभंगी नरयं दलं)** त्रिभंग नरक में पतन कराने वाला है।

विशेषार्थ - माया, मिथ्या, निदान यह तीनों भाव महान कर्मास्रव के कारण हैं क्योंकि तीनों में लोभ, राग की भूमिका है। लोभ के सद्भाव में, लोभ के वशीभूत होकर जीव मायाचारी करता है, मिथ्यात्व का सेवन करता है तथा निदान भाव करता है। माया, मिथ्या, निदान यह तीन शल्य भी हैं। जब तक माया, मिथ्या, निदान के भाव रहते हैं तब तक जीव निराकुल, नि:शल्य, निश्चिंत नहीं हो सकता है। मायाचार स्व-पर दोनों को बहुत दु:खदायी है। यह जीव लोभ के वशीभूत होकर दूसरों को ठगने के लिए मिथ्याभावों को विचारता है, मिथ्यावचन कहता है, मिथ्या व्यवहार करता है, कुटिलताई से मन-वचन-काय द्वारा अपने परिणामों को महान हिंसक बना लेता है। मायाचार, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पाँचों पापों का मूल है।

''ऐसा नहीं ऐसा होता'' यह माया शल्य का भाव है जो जीव को समता-शांति से नहीं रहने देता। मिथ्यात्व सहित धर्म की क्रिया विपरीत होती है, इसमें पाप-पुण्य का भी विवेक नहीं रहता, धर्म-अधर्म का विचार नहीं होता, अपने मन की तृप्ति के लिए अर्थ-अनर्थ न्याय-अन्याय कुछ भी करता रहता है। कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का सेवन करता है। इन मिथ्या भावों से घोर हिंसादि पाप होते हैं, तब हिंसानंदी भाव से नरकायु का बन्ध होता है।

निदान भाव के कारण जीव आगामी भोग सामग्री की गहन तृष्णा रखता है। ''ऐसा नहीं, ऐसा करूँगा ऐसा करना है, ऐसा होना है'' यह निदान शल्य है, जिसकी कभी पूर्ति व तृप्ति नहीं होती। मन की सक्रियता से यह तीनों माया-मिथ्या-निदान भाव होते हैं, जो जीव को नरक में पतन कराने वाले होते हैं।

११. राग, द्वेष, निदान : तीन भाव

रागादि भावनं क्रित्वा, दोषं निदान व्रिधते ।
अन्रितं उत्साहं भावं, त्रिभंगी थावरं दलं ।। १९ ।।

अन्वयार्थ - (रागादि भावनं क्रित्वा) [यह जीव] रागादि की भावना करता है **(दोषं निदान व्रिधते)** दोषों का निदान करता है उनमें वृद्धि करता है **(अन्रितं उत्साहं भावं)** नाशवान, क्षणभंगुर, भाव में उत्साहित रहता है **(त्रिभंगी थावरं दलं)** यह त्रिभंगी स्थावर गति का पात्र बनाती है।

विशेषार्थ - पाँचों इन्द्रियों के भोगों का रागभाव संसार का मूल कारण है, इसी से द्वेष व निदान भाव बढ़ता है। यह भोग मिथ्या हैं, असार हैं, क्षणभंगुर, नाशवान अतृप्तिकारी हैं किन्तु जीव को इनकी कामना, वासना के परिणामों में तीव्र उत्साह रहता है। वह इनमें बाधक कारणों से द्वेष करता है तथा साधक कारणों के आने की तीव्र अभिलाषा होने के कारण निदान भाव करता है। इन्हीं भावों से निरंतर कर्मों का बन्ध होता है जो जीव को स्थावर काय में ले जाते हैं।

प्रश्न - जो साधक पाँचों इन्द्रियों के विषयों का त्यागकर संयम का पालन करता हुआ धर्म साधना कर रहा है, वह इन भावों में लगकर स्थावर काय होगा, इसका प्रयोजन क्या है ?

समाधान - बाहर से पाँचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग कर देना, संयम का पालन करना सहज है परन्तु विषयों की रसबुद्धि, रागबुद्धि यही कर्मास्रव बन्ध का कारण है।

यह अंतरंग परिणति सूक्ष्म है, जो साधक को अपने ज्ञान-ध्यान-साधना से विचलित भ्रष्ट करती रहती है। विषयों के प्रति राग-भाव व रसबुद्धि स्थावर काय का बन्ध कराती है। मानसिक व्यभिचार महान पाप बन्ध का कारण है इसलिए साधक को अंतर में अत्यधिक सावधान रहने की आवश्यकता है, यह सावधानी ही कल्याण का मार्ग है।

१२. मद, मान, माया : तीन भाव

मदस्टं मान सम्बन्धं, माया अन्रितं क्रितं ।
भावं असुद्ध सम्पूर्नं, त्रिभंगी थावरं दलं ।। २० ।।

अन्वयार्थ - (मदस्टं मान सम्बन्धं) यह जीव आठ मद, अहं भाव से सम्बंध करके **(माया अन्रितं क्रितं)** नाशवान माया को करता है **(भावं असुद्ध सम्पूर्नं)** अशुद्ध भावों से परिपूर्ण बना रहता है [यह] **(त्रिभंगी थावरं दलं)** त्रिभंगी दल स्थावर गति में ले जाने वाला है।

विशेषार्थ - जगत में पुण्य के उदय से मनुष्य को आठ प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं उत्तम जाति, उत्तम कुल, धन, रूप, बल, अधिकार, विद्या, तप। इन आठों शक्तियों में से कुछ विशेषताऐं होने पर अज्ञानी जीव अभिमानी हो जाता है, मद करने लगता है, इसलिए यह आठ मद कहलाते हैं। जैसे कोई नशा करने से मनुष्य मदमत्त हो जाता है उसी प्रकार इन मदों में जीव मदहोश हो जाता है। इनमें ज्ञान और तप का मद करने

से तिर्यंच आयु नीच गोत्र बाँधकर एकेन्द्रिय स्थावर में जन्मता है। मान कषाय जीव के सिर पर चढ़कर बोलती है। मानी, क्रोधी होता है। अपने अहंकार के नशे में डूबा रहता है, उसके हमेशा द्वेषभाव ही चलता रहता है। अपनी मान-बड़ाई के लिये धन खर्च करता है अर्थात् धर्म भी अभिमान की पुष्टि के लिए करता है। मन में कठोर भाव होने से दया नहीं होती, उसका एक ध्येय अभिमान पोषण हो जाता है। यदि कोई जरा सा भी अपमान करे तो वह शत्रु बन जाता है और शत्रु का किसी भी तरह से अपमान और नाश करने की कोशिश करता है। मायाचारी भी इन्हीं सब कार्य-कारणों से होती है, मन में कुछ रहता है, वचनों से कुछ कहता है और शरीर से कुछ करता है। हमेशा उसके भावों में कुटिलता रहती है। इन तीनों भावों से अशुभ आयुबन्ध होता है जिससे स्थावर आदि में जाना पड़ता है।

१३. कुदेव, कुगुरु, कुसास्त्र : तीन भाव

कुदेवं कुगुरुं वन्दे, कुसास्त्रं चिंतनं सदा ।
विकहा अन्रित सद्भावं, त्रिभंगी नरयं दलं ।। २१ ।।

अन्वयार्थ - (कुदेवं कुगुरुं वन्दे) कुदेव, कुगुरु, की भक्ति करता है **(कुसास्त्रं चितनं सदा)** कुशास्त्रों का सदैव चिंतन करता है **(विकहा अन्रित सद्भावं)** विकथा आदि व्यर्थ झूठी चर्चाओं में लगा रहता है **(त्रिभंगी नरयं दलं)** ये त्रिभंगी दल नरक गति का पात्र बनाने वाला है।

विशेषार्थ - राग-द्वेष, मोह संसार है, जो देव इन राग-द्वेष, मोह के वशीभूत हैं, अज्ञानी हैं वे सब कुदेव हैं। व्यंतर, भवनवासी, ज्योतिषी, वैमानिक देवों को अपना इष्ट करने वाले इष्टदेव मानना, उनकी पूजा वन्दना, भक्ति करना कुदेव की मान्यता है; क्योंकि सच्चे देव वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी परमात्मा अरिहन्त-सिद्ध होते हैं जो मोक्षगामी हैं, जिन्होंने सभी जीवों को आत्मस्वरूप का बोध कराया और संसार के दुःखों से छूटने का उपाय बतलाया है।

अज्ञानी जीव पुत्र-धनादि सांसारिक प्रयोजन का लोभी होकर कुगुरु द्वारा बताये हुए रागी-द्वेषी देवों की आराधना किया करता है। उन देवों को प्रसन्न करने के लिए हिंसक कार्य पशुबलि तक दे देता है, उनसे सदा भयभीत रहता है, उनकी अवमानना में अपना नाश मानता है।

परिग्रहधारी, आरम्भासक्त कुदेवों को पुजवाने वाले धनलोभी अनेक प्रकार के कुगुरु हैं, जो नाना वेश में मिथ्यात्व का जाल फैलाते हैं। उनके उपदेश से ही कुदेवों की भक्ति की परम्परा चल रही है।

कुशास्त्र वे हैं, जिनमें मिथ्याधर्म का उपदेश हो, एकांत कथन हो, हिंसा में धर्म बताया गया हो, पापबन्ध के कारणों और पुण्य को धर्म कहा हो। स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा आदि सांसारिक प्रपंचों में उलझाने वाली व्यर्थ चर्चा, राग-द्वेष को बढ़ाने वाली कथाएँ भी कुशास्त्र हैं।

जो ऐसे कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के प्रति श्रद्धा भक्ति रखते हैं या जिसे कुदेव, कुगुरु ,कुशास्त्र की मान्यता होती है, उसे ग्रहीत मिथ्यात्व होता ही है यह नरक का पात्र बनाता है।

१४. कुल, अकुल, कुसंग : तीन भाव

कुल भावं सदा रुस्टं, अकुलं कुसंग संगते ।
अभावं तत्र अन्यानी, त्रिभंगी दल संजुतं ।। २२ ।।

अन्वयार्थ - (कुल भावं सदा रुस्टं) कुल भाव [अपने स्वरूप का भाव, कि मैं भगवान के कुल

का हूँ ऐसे भाव] से सदा रुष्ट रहता है **(अकुलं कुसंग संगते)** अकुल का संग और खोटी संगति करता है अपने स्वरूप का [यथार्थ का] **(अभावं तत्र अन्यानी)** वहाँ अभाव होता है और अज्ञानी बना हुआ यह जीव आस्रव के कारण भूत **(त्रिभंगी दल संजुतं)** त्रिभंग दल से संयुक्त रहता है।

विशेषार्थ - यहाँ कहा है कि कुल का गर्व, नीच कुल सेवा और कुसंगति यह तीनों भाव अज्ञान, राग-द्वेष, मोह विभावों में फँसने तथा कर्मबंध के कारण हैं। कुल का गर्व करते हुए यह जीव ऐसा मानता है कि हम उच्च कुल के हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय या जैन हैं, हमारा धर्म श्रेष्ठ है, हमारे भगवान श्रेष्ठ हैं, जगतपूज्य हैं, हम सब कुछ जानते हैं। उच्च कुल के गर्व से उन्मत्त होकर, कठोर परिणाम रख कर अपनी प्रशंसा तथा दूसरों की निंदा करता है। उच्च कुल के गर्व में, विनय सहित शास्त्रों का अध्ययन नहीं करता, सच्चे साधु-संतों की संगति व उनकी विनय भक्ति नहीं करता। तत्त्व ज्ञान न होने से रागी-द्वेषी बना रहता है, लोभी और अहंकारी बन जाता है।

नीच कुल वाले वे हैं जो लोकनिंद्य काम किया करते हैं, जैसे- मदिरापान, अभक्ष्य भक्षण आदि। उन्हें स्नान-शौच, वाक्य-कुवाक्य, कृत-अकृत्य का अविवेक और मूढ़पना रहता है। ऐसे नीच कुल वालों की संगति से जीव भी अविवेकी और मूढ़ हो जाता है, जिसका आचरण भी लोक निंद्य होता है।

कुसंगति, जीव को महापापी बना देती है। जुआँ खेलना, माँस भक्षण, मदिरापान, चोरी करना, शिकार खेलना, वेश्यासेवन करना और परस्त्री गमन यह सातों व्यसन कुसंगति से ही सीखने में आते हैं। भांग पीना, तम्बाकू खाना, चौपड़, शतरंज, ताश खेलना, बकवाद करना, परनिंदा, आत्मप्रशंसा करना, विकथाओं में रत रहना यह सब कुसंगति से ही होता है। यह तीनों भाव महान अनर्थकारी कर्मास्रव के कारण हैं। इसलिए कर्मों के आस्रव बन्ध से बचने के लिए कुल का गर्व, नीच कुल सेवा और कुसंगति से अपना हमेशा बचाव करना चाहिए।

१५. अन्रित, अचेत, परिनाम : तीन भाव

अन्रित अचेत दिस्टंते, परिनामं जत्र तिस्टते ।
अन्यानी मूढ़ दिस्टी च, मिथ्या त्रिभंगी दलं ।। २३ ।।

अन्वयार्थ - **(अन्रित)** क्षणभंगुर **(च)** और **(अचेत दिस्टंते)** अचेतन वस्तुओं को देखता है **(परिनामं जत्र तिस्टते)** उन्हीं के परिणामों में लगा रहता है **(अन्यानी मूढ़ दिस्टी)** ऐसा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव **(मिथ्या त्रिभंगी दलं)** मिथ्या प्रपंचों में फँसकर कर्मास्रव करता रहता है।

विशेषार्थ - क्षणभंगुर, नाशवान पदार्थों को और अचेतन, जड़ पुद्गल को देखना उन्हीं के परिणामों में ठहरना, यह तीनों भाव कर्मास्रव के कारण हैं। अज्ञानी, मूढ़ दृष्टि जीव इन मिथ्या भावों से कर्म का आस्रव बन्ध करता रहता है। संसार क्षणभंगुर, नाशवान पदार्थों से भरा पड़ा है। धन, वैभव, महल, मकान, मंदिर, दुकान शरीरादि जड़, अचेतन, नाशवान हैं। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव विषयों के दास बने रहते हैं। धन प्राप्ति के लिए अन्याय, अनाचार, हिंसा आदि पाप करते हैं। दूसरों के महल मकान, धन, वैभव आदि देखकर हमेशा उनका ही विचार करके कर्मबन्ध करते हैं। पर का विचार, पर की चिन्ता, मन की कल्पना, विकल्प आदि आकुलता, अशांति और दुःख के कारण हैं। जहाँ इष्ट बुद्धि हो तो सुख का वेदन तथा जहाँ अनिष्ट बुद्धि हो तो दुःख का वेदन होता है। जहाँ जीव की रुचि-दृष्टि होती है, उपयोग वहीं जाता है। मोह, राग-द्वेष के वशीभूत

ऐसा जीव दु:ख पाता है अत: इन सबसे बचने के लिए अपनी दृष्टि, अपनी रुचि अपनी ओर लगाना चाहिए।

१६. असुद्ध, अभाव, मिस्र : तीन भाव

असुद्ध भाव संजुत्तं, मिस्र भाव सदा रतो ।
संसार भ्रमनं बीजं, त्रिभंगी असुह उच्यते ।। २४ ।।

अन्वयार्थ - (असुद्ध भाव संजुत्तं) अशुद्ध भाव से संयुक्त होकर **(मिस्र भाव सदा रतो)** सदैव मिश्र भाव में संलग्न रहता है **(संसार भ्रमनं बीजं)** संसार के परिभ्रमण का बीज बोता है **(त्रिभंगी असुह उच्यते)** यह त्रिभंगी अशुभ रूप कही गई है।

विशेषार्थ- शुभ-अशुभ और मिश्र, यह तीनों भाव संसार भ्रमण के बीज हैं, इन तीनों भावों को अशुभ कहा गया है। मंद कषाय से होने वाले शुभभाव-दया, दान, परोपकार, संयम, तप, पूजा, भक्ति, करूणा, मैत्री, प्रमोदभाव यह सब शुभ भाव कहे जाते हैं। तीव्र कषाय से होने वाले अशुभ भाव-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, अन्याय, अनीति, अत्याचार, व्यभिचार, बैर-विरोध, निन्दा आदि यह सब अशुभ भाव कहे गये हैं। यह शुभ और अशुभ दोनों अशुद्ध भाव कहे जाते हैं। शुभ और अशुभ दोनों मिले हुए भाव मिश्र भाव कहलाते हैं।

१७. आलस, प्रपंच, विनास दिस्टि : तीन भाव

आलसं प्रपंचं क्रित्वा, विनास दिस्टि रतो सदा ।
सुद्ध दिस्टि न ह्रदये चिंते, त्रिभंगी थावरं पतं ।। २५ ।।

अन्वयार्थ - (आलसं प्रपंचं क्रित्वा) आलस और प्रपंच को करता है **(विनास दिस्टि रतो सदा)** विनाश दृष्टि में सदैव रत रहता है अर्थात् [हमेशा दूसरों का बुरा विचार करता रहता है] **(सुद्ध दिस्टि न ह्रदये चिंते)** शुद्ध दृष्टि [शुद्धात्मा] का हृदय में चिंतन नहीं करता **(त्रिभंगी थावरं पतं)** यह त्रिभंगी स्थावर गति का पात्र बना देती है।

विशेषार्थ - जो साधक अपने शुद्धात्म स्वरूप का चिंतन नहीं करता तथा आलस और प्रपंच करता हुआ विनाश दृष्टि में हमेशा रत रहता है, वह स्थावर योनि का पात्र हो जाता है। आलस-प्रमाद को आलस कहते हैं। इसके १५ भेद होते है; पाँच इन्द्रिय विषय, चार कषाय, चार विकथा, निद्रा और स्नेह इनसे अपने स्वरूप की विस्मृति रूप प्रमाद होता है। इन पन्द्रह प्रमाद में रत जीव कभी अपना आत्महित नहीं कर सकता बल्कि दुर्गति का ही पात्र होता है। पाँचों इन्द्रिय के विषय भोग व व्यर्थ चर्चा में लगे रहने से जीवन का अमूल्य समय व्यर्थ जाता है। कषायों की प्रवृत्ति और पर का स्नेह विवेक शून्य करके धर्म से भ्रष्ट करता है। निद्रा तो मृत्यु ही है, जहाँ कोई होश नहीं रहता। आलसी मनुष्य का वर्तमान जीवन भी दु:खदायक हो जाता है। प्रपंच-स्वयं के और दूसरों के नाश करने वाले कपट जाल को प्रपंच कहते है। कपटी की भावना अपने विषयों के लोभवश दूसरों को विश्वास दिलाकर उनको ठगने की रहती है। संसारी प्रपंच, बैर-विरोध, ईर्ष्या-द्वेष में फँसाना, अर्थ का अनर्थ करके बताना, आपस में झगड़ा कराना, इस तरह अन्यायपूर्वक स्वार्थ साधन के लिए कपट जाल का विचार करना, कपटरूप वचन कहना तथा कपट भरी क्रिया करना प्रपंच है। इससे हमेशा परिणामों में कुटिलता रहती है, जो एकेन्द्रिय स्थावर काय का बन्ध कराती है।

विनाशदृष्टि - दूसरों का अहित करने की भावना में लगे रहना विनाशदृष्टि है। झूठा कागज लिखना, चोरी करना, दूसरों का वध करने के लिए कपट करना, कपट से शिकार करना, निरन्तर विचार करना कि किस तरह दूसरों को हानि हो, विनाश का भाव रखना। इन भावों में जो जीव रात-दिन फँसे रहते हैं, वे कभी आत्मा के पतन की चिन्ता नहीं करते। इस पाप बंध का परिणाम तिर्यंच गति होता है।

१८. संग, कुसंग, मिस्र : तीन भाव

संग मूढ़ मयं दिस्टा, कुसंगं मिस्र पस्यते ।
अलहंतो न्यान रूपेन, मिथ्यात रति तत्परा ।। २६ ।।

अन्वयार्थ - (संग मूढ़ मयं दिस्टा) मूढ़ जीवों का संग करता है, उन पर दृष्टि रखता है **(कुसंगं मिस्र पस्यते)** कुसंग और मूढ़ता का मिश्र संग करता है उन्हीं को देखता है **(अलहंतो न्यान रूपेन)** अपने ज्ञान स्वरूप को प्राप्त नहीं करता **(मिथ्यात रति तत्परा)** मिथ्यात्व में ही रति करता है। उसी में तत्पर बना रहता है।

विशेषार्थ - संग-मिलन, संयोग, सम्बंध, प्रीति भाव को कहते हैं। जहाँ आत्म स्वरूप की प्रतीति, ज्ञान की चर्चा, साधु-महात्माओं का मिलन होता है वह सत्संग कहलाता है।

जिससे परिणामों में वीतरागता और आनंद की वृद्धि हो वह सत्संग है। जहाँ समान अथवा सहज भाव रहे [परिणामों में कोई विशेष उत्कृष्टता न आवे] वह संग है और जहाँ परिणामों में निकृष्टता आवे, राग-द्वेष-मोह की वृद्धि हो वह कुसंग है। संग-कुसंग रूप मिश्र भाव है। संग में धन, परिवार, परिग्रह भी आता है, इनको मिथ्या बुद्धि से देखना, मूर्च्छा भाव होना यह भी कुसंग और मिश्र भाव का कारण है। अपने ज्ञान स्वरूप से भ्रष्ट अर्थात् अपने ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान न करते हुए, मिथ्यात्व की प्रीति में तत्पर रहना, यह पापास्रव का कारण है।

मिथ्यात्व भाव के द्वारा भी तीन प्रकार से परिग्रह का ग्रहण होता है - न्यायपूर्वक, अन्यायपूर्वक, दोनों रूप से । सभी परिग्रह बन्ध में निमित्त कारण हैं। परिग्रह २४ प्रकार का है, बाह्य परिग्रह के दस भेद और अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं। १० बाह्य परिग्रह-जमीन, घर, सोना, चाँदी, पशु, धान्य, दास, दासी, वस्त्र, बर्तन। १४ अंतरंग परिग्रह- मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक,जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

घर-परिवार, स्त्री-पुत्रादि का संग होने से परिग्रह में लोलुपता होती है। लोलुपता होने से अति परिग्रह का संचय चाहता है। परिग्रह के अधिक संचय से लोभ बढ़ता है, लोभ से परम्परा दु:ख होता है। धन सभी अनर्थों का मूल है मोक्ष में बाधक है, कषायों को पैदा करने वाला है, दु:खों को जन्म देने वाला है। धन की तृष्णा से जो अंधे हैं वे स्व-पर हित या अहित को नहीं देखते हैं। पुण्य-पाप, न्याय-अन्याय का भी विचार नहीं रहता है।

जो जीव परिवार के मोह में अंधे हैं, वे तो परिग्रह की मूर्च्छा में ही रत रहते हैं परन्तु जो जीव धर्म के नाम पर चेला-चेली पालते हैं, मठ-मंदिर बनवाते हैं, धन-संग्रह, पाप-परिग्रह करते हैं; वह मूढ़ बुद्धि, संग-कुसंग, मिश्र भाव में रत रहते हुए पाप का बन्ध कर दुर्गति में जाते हैं।

१९. आसा, स्नेह, लोभ : तीन भाव

आसा स्नेह आरक्तं, लोभं संसार बन्धनं ।
अलहन्तो न्यान रूपेन, मिथ्या माया विमोहितं ।। २७ ।।

अन्वयार्थ - (आसा स्नेह आरक्तं) आशा-स्नेह में आसक्त जीव **(लोभं संसार बन्धनं)** लोभ से संसार का बंधन बनाता है **(अलहन्तो न्यान रूपेन)** अपने ज्ञान स्वरूप की प्राप्ति नहीं करता **(मिथ्या माया विमोहितं)** मिथ्या-माया में विमोहित रहता हुआ कर्म का आस्रव बन्ध करता है।

विशेषार्थ - इन्द्रिय विषय भोगों की भावना को आशा कहते हैं तथा इसमें निमित्त साधन धन, स्त्री, परिवार के प्रति अपार स्नेह होता है। किसी प्रकार की इच्छा-चाहना ही लोभ है जो संसार बंधन का कारण है। अपने ज्ञान स्वरूप को भूला हुआ जीव इस मिथ्या माया में विमोहित रहता है जिससे अनंत कर्मों का बन्ध कर दुर्गति में जाता है।

संसारी जीव को यह आशा, स्नेह, लोभ की तीव्रता रहती ही है परन्तु जो धर्म मार्ग पर चलते हैं वे साधक होकर भी अपने नाम की प्रभावना, प्रसिद्धि की आशा रखते हैं, शिष्यों से, समाज से स्नेह रखते हैं। मठ-मंदिर बनवाते, धन-संग्रह का लोभ करते हैं। साम्प्रदायिक भावना से मिथ्या-माया में मोहित रहते हैं वे अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा का घात कर दुर्गति के पात्र बनते हैं।

प्रत्येक प्राणी में आशा रूपी गड्ढा इतना गहरा है कि जगत की सर्व सम्पदा उसमें एक परमाणु के बराबर है। आशा की दाह से पीड़ित होकर इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति के लिए आकुलित होता है। सांसारिक पदार्थों में धनादि में तीव्र मोह रखता है। जिनसे कुछ भी स्वार्थ सधता जानता है, उनसे स्नेह करता है।

जैसे-जैसे सम्पदा मिलती है व इच्छित पदार्थ प्राप्त होते हैं, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है। तीव्र लोभ के वशीभूत होकर न्याय-अन्याय का विचार छोड़ बैठता है। अहंकार-ममकार में फँसा रहता है, अपने आत्मा का कुछ भी विचार नहीं करता है। उसकी विषय लोलुपता तथा नाम, दाम, काम की चाह निरंतर बढ़ती जाती है, सन्तोष चला जाता है, विवेक भी भाग जाता है।

साधक के अंतरंग में जब तक आशा-स्नेह-लोभ के भाव हैं तब तक वह अपने आत्म-स्वरूप की साधना नहीं कर सकता; अतएव आशा स्नेह, लोभ के भाव त्यागने योग्य हैं। यह तीव्र आस्रव के कारण हैं।

२०. लाज, भय, गारव : तीन भाव

लाजं भयं हृदयं चिंते, गारव राग मोहितं ।
संमिक्तं सुद्ध तिक्तंति, मिथ्या माया त्रिभंगयं ।। २८ ।।

अन्वयार्थ - (लाजं भयं हृदयं चिंते) लाज, भय का हृदय में निरंतर विचार करता है **(गारव राग मोहितं)** राग पूर्वक गारव में मोहित रहता है **(संमिक्तं सुद्ध तिक्तंति)** जिससे शुद्ध सम्यक्त्व का अभाव हो जाता है **(मिथ्या माया त्रिभंगयं)** यह मिथ्या, माया, गारव मय त्रिभंग जीव को संसार में ही मोहित रखता है।

विशेषार्थ - आस्रव भावों में लाज, भय, गारव भी संसार परिभ्रमण कराने वाले हैं। इन भावों के कारण जीव अपने आत्म कल्याण के मार्ग पर नहीं बढ़ पाता।

लाज – 'लोग क्या कहेंगे ?' लोकलाज, शर्म यह सब पर की अपेक्षा सांसारिक व्यवहार के कारण होती है। इस लोक लाज में जीव करने योग्य, न करने योग्य कार्यों को भी करता है, यह लोकमूढ़ता में भी फंसाती है, इसमें मायाचारी भी होती है। यह लोकलाज आत्मा के पतन का कारण होती है।

जहाँ संसार में शुभ-अशुभ कार्य करना पड़ते हैं वहाँ धर्म मार्ग पर चलने में भी यह बड़ी बाधा है। संयम, तप करके साधु पद धारण करने में यह लाजभाव बड़ा बाधक कारण है। इससे मन सबल और आत्मा दुर्बल बना रहता है और भावों में दीनता-हीनता रहती है।

भय – संसारी जीव को सात भय लगे रहते हैं – १. इसलोकभय, २. परलोकभय, ३. मरणभय, ४. वेदनाभय, ५. अरक्षाभय, ६. अगुप्तिभय, ७. अकस्मात् भय। हमेशा भयभीत बने रहने, डरते रहने से भावों में निकृष्टता आती है। धर्म मार्ग पर चलने में भयभीत रहना, ऐसा न हो जाए, अब क्या होगा? आगे कैसा होगा? कोई अशुभ कर्म का उदय न आ जावे, पराश्रय-पराधीनपने के भाव भय के कारण होते हैं।

गारव – अभिमान, गौरव या मद को गारव कहते हैं। संसारी जीव आठ मद में फँसा रहता है – जातिमद, कुलमद, रूपमद, बलमद, धर्ममद, तपमद, विद्यामद, ऋद्धिमद। इनके कारण परिणामों में कठोरता और दुष्टता रहती है। अपना मान-सम्मान न होने पर दूसरों का अहित करता है, सब कार्यों में बाधा डालता है। संसारी या धार्मिक कार्य का भी विवेक नहीं रहता, मनमानी करता है।

इस तरह जो जीव लाज, भय-गारव के भावों में लगा रहता है वह आत्मानुभव रूप शुद्ध सम्यग्दर्शन को नहीं पा सकता है। मायाचार व मिथ्याभाव में रहकर पापास्रव करता है।

२१. गम, अगम, प्रमान : तीन भाव

गमस्य अगमं क्रित्वा, प्रमानं मिथ्या उच्यते ।
भवस्य भय दुष्यानं, भाजनं त्रिभंगी अस्तितं ।। २९ ।।

अन्वयार्थ – **(गमस्य अगमं क्रित्वा)** इन्द्रियगोचर स्थूल पदार्थों को जानता हुआ तथा अतीन्द्रिय आत्मा को नहीं जानकर **(प्रमानं मिथ्या उच्यते)** प्रमाण को मिथ्या कहता है। **(भवस्य भय दुष्यानं)** भव के दु:खों को ही बढ़ाता है **(भाजनं त्रिभंगी अस्तितं)** यह त्रिभंगी संसार का ही पात्र बनाने वाली है अर्थात् संसार में ही स्थित करती है।

विशेषार्थ – जिनका जानना सुगम है, ऐसे इन्द्रिय गोचर स्थूल पदार्थ गम्य हैं। इन्द्रियों से अगोचर सूक्ष्म पदार्थ अगम्य हैं। अनुमान ज्ञान, आगम ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। इन तीनों के सम्बंध में मिथ्या बुद्धि, विपरीत धारणा, भ्रम होना, किसने देखा है? कहाँ है? ऐसा भाव रखना। स्वर्ग, नरक, परमात्मा के विषय में मिथ्या कल्पना करना और कहना, यह सब संसार के दु:खों का व भय का पात्र बनाने वाले भाव हैं।सर्वज्ञ वीतराग भगवान ने जैसा वस्तु स्वरूप बताया है वैसा सत् श्रद्धान करने की आवश्यकता है। जिससे यह यथार्थ निर्णय हो कि यह आत्मा अपने अज्ञानरूप मोह-रागादिभावों से पाप-पुण्य रूप कर्म बांधता है तथा आप ही अपने ज्ञान स्वभाव रूप शुद्ध भावों से कर्मों से छूट सकता है।

यह आत्मा स्वभाव से परमात्मा रूप है। शुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनंद आदि गुणों का समुदाय है। इसी शुद्ध स्वरूप के श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र को रत्नत्रय धर्म कहते हैं। यह धर्म स्वानुभव स्वरूप है। सच्चा

सुख अतीन्द्रिय है जो स्वानुभव से प्राप्त होता है।

२२. अन्रित, स्तेय, काम : तीन भाव

अन्रितं न्रितं माने, स्तेयं पद लोपनं ।
कर्मना असुह भावस्य, त्रिभंगी नरयं पतं ।। ३० ।।

अन्वयार्थ – **(अन्रितं न्रितं माने)** असत्य को सत्य मानता है **(स्तेयं पद लोपनं)** पद का लोप करके चोरी करता है **(कर्मना असुह भावस्य)** अशुभ भाव से बुरे कर्म करता है **(त्रिभंगी नरयं पतं)** यह त्रिभंगी नरक में पतन कराने वाली है।

विशेषार्थ – असत्, क्षणभंगुर, नाशवान पर्यायी परिणमन को सत्, शाश्वत मानना अन्रित भाव है। वस्तु का जो मूल स्वभाव है, वही सत्य, नित्य, अमिट, है उसको कुछ और जानना असत् भाव है।

जिनेन्द्र की आज्ञाप्रमाण वस्तु स्वरूप को न कहकर अन्यथा कहना तथा जिनवाणी के पद-अर्थ, भाव को छिपाना धर्म की चोरी है।

ब्रह्मचर्य का घात करके कुशील सेवन करना काम भाव है। सभी इन्द्रियों के विषयों की कामना करना भी काम है। यह अशुभ भाव पाप बन्ध का कारण है।

२३. अन्यान, रति, मिस्र : तीन भाव

अन्यानी मिथ्या भावस्य, रति मूढ़ मयं सदा ।
मिस्रस्य दिस्टि मोहंधं, त्रिभंगी दुर्गति कारनम् ।। ३१ ।।

अन्वयार्थ – **(अन्यानी मिथ्या भावस्य)** अज्ञानी मिथ्याभाव को करता हुआ **(रति मूढ़ मयं सदा)** मूढ़तामय परिणाम में सदा रति करता है **(मिस्रस्य दिस्टि मोहंधं)** मिश्र दृष्टि से मोहांध बना रहता है **(त्रिभंगी दुर्गति कारनम्)** यह त्रिभंगी दुर्गति का कारण है।

विशेषार्थ – अज्ञान व अविद्या संसार का मूल है। जीव और अजीव का भेदज्ञान न होना ही अज्ञान है। अज्ञानी मिथ्याभाव का कर्ता है। अज्ञान के कारण जीव मृग-मरीचिका में फँस जाता है और चमकती हुई बालू को पानी समझता है, इसी अज्ञान के कारण जीव अंधकार में रस्सी को सर्प मान लेता है और भयभीत होता है। इसी तरह अज्ञानवश रात-दिन आत्मा को राग-द्वेष मयी मानकर अज्ञानी जीव नाना प्रकार के विकल्प करते हैं। जिस तरह समुद्र पवन के योग से क्षोभित होता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव आकुलित होते हैं।

जहाँ अज्ञान तथा विषय रति दोनों ही हैं वहाँ मिश्रभाव होता है अर्थात् ज्ञानावरण का उदय और दर्शन मोह का उदय साथ होकर अज्ञान के साथ मिथ्यात्व भाव होता है।

२४. कर्मादि, असमाधि, अस्थिति : तीन भाव

कर्मादि कर्म करतानि, असमाधि मिथ्या मयं जुतं ।
अस्थिति असुद्ध परिनामं, त्रिभंगी संसार कारनं ।। ३२ ।।

अन्वयार्थ – **(कर्मादि कर्म करतानि)** क्रियाओं से नाना प्रकार के कर्म किया करता है **(असमाधि मिथ्या मयं जुतं)** मिथ्यामय परिणामों से युक्त होकर समाधि को प्राप्त नहीं होता **(अस्थिति असुद्ध**

परिनामं) अशुद्ध परिणामों में स्थित बना रहता [डूबा रहता] है **(त्रिभंगी संसार कारनं)** इस प्रकार यह त्रिभंगी संसार का ही कारण है।

विशेषार्थ – जहाँ तक मन-वचन-काय की बुद्धि पूर्वक शुभ या अशुभ क्रिया होती रहती है व उस क्रिया पर आसक्त भाव है, रुचिपूर्वक क्रिया का कर्तापना है, वहाँ तक संसार का प्रवाह चलता ही रहता है।

कर्मादि – ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, मोह राग द्वेषादि भाव कर्म, शरीरादि नो कर्म, यह मेरे हैं, मैं इनका कर्ता हूँ। यह अज्ञान भाव ही संसार कर्म बन्ध का कारण है। कर्म की उत्पत्ति और कर्म के क्षय में अपनी दृष्टि ही मुख्य कारण है। जीव और पुद्गल के संयोग से कर्म पैदा होते हैं। कर्म पुद्गल जड़ हैं, जिनका स्वभाव क्षय होने का है। यह तीनों ही कर्म उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं। अपने अविनाशी स्वरूप की प्राप्ति तो कर्मों का सम्बंध विच्छेद होने पर ही होती है। वास्तव में कर्म स्वयं बन्धन कारक नहीं होते, मनुष्य की कामना से बंधन होता है। कामना की पूर्ति के लिए रागपूर्वक कर्म करने से ही मनुष्य कर्मों से बंध जाता है। जैसे-जैसे कामना बढ़ती है वैसे-वैसे वह पापों में प्रवृत्त होता जाता है। स्वयं का बोध रहते हुए, सम्पूर्ण कर्मों के करते हुए भी उनके साथ अपना सम्बंध है ही नहीं-ऐसा अनुभव करे तो उसके कर्मक्षय हो जाते हैं।

असमाधि – शरीरादि वस्तुएँ जन्म से पहले भी हमारे साथ नहीं थीं और मृत्यु के बाद भी नहीं रहेंगी तथा इस समय भी प्रतिक्षण हमसे सम्बंध विच्छेद हो रहा है। इन प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग करने का हमें अधिकार मात्र है, इन्हें हम अपना नहीं मान सकते। इन्हें अपना मानना ही वास्तव में बंधन या असमाधि है।

अस्थिति – कर्म करने के लिए पर पदार्थ यथा-शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, व्यक्ति, देश-काल आदि परिवर्तनशील वस्तुओं की सहायता लेना पड़ती है। पर की सहायता लेना परतन्मयता है, यही अस्थिति है जो शुभाशुभ भावों में उलझाती है। स्वरूप ज्यों का त्यों है, उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, इसलिए उसकी अनुभूति में पर कहे जाने वाले शरीरादि पदार्थों के सहयोग की लेशमात्र भी अपेक्षा आवश्यकता नहीं है। पर से माने हुए सम्बंध का त्याग होने से स्वरूप में स्वत: सिद्ध स्थिति का अनुभव हो जाता है।

२५. हास्य, रति, आर्त : तीन भाव

हास्य राग व्रिधंते, रति मिथ्यात भावना ।
आर्त रौद्र संजुत्तं, त्रिभंगी दल पस्यते ।। ३३ ।।

अन्वयार्थ – (हास्य राग व्रिधंते) हास्य के द्वारा जीव राग की वृद्धि करता है **(रति मिथ्यात भावना)** मिथ्यात्व [विपरीत मान्यता] की भावना भाता है उसी में रति करता है **(आर्त रौद्र संजुत्तं)** आर्त, रौद्र परिणामों से संयुक्त रहता है [इस प्रकार विभावों से युक्त जीव आस्रव में कारण भूत] **(त्रिभंगी दल पस्यते)** त्रिभंगी दल को देखता है।

विशेषार्थ – हास्य से राग बढ़ता है रति से मिथ्याभाव होते हैं, आर्तभाव से रौद्र भाव में लीनता होती है। यह तीनों भाव कर्मास्रव, संसार के कारण हैं। हास्य, रति, अरति, नो कषाय के भेद हैं। हास्यभाव किसी परिस्थिति, घटना, व्यक्ति और कार्य के निमित्त से होता है। जब किसी तरह का स्वार्थ सधता है तो खुशी होती है। किसी व्यक्ति को किसी कार्य में असमर्थ देखने से हँसी आती है, पर की निन्दा व अपनी प्रशंसा होने से राग भाव बढ़ता है, मन में बड़ी संतुष्टि होती है; यह सब हास्य भाव है। व्यर्थ चर्चा करके मन को रंजायमान करना

हास्य भाव है जिससे राग बढ़ता है और कर्मबंध होता है।

इन्द्रियों के विषयों में उत्सुकता को रति भाव कहते हैं। इससे स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, धान्य, वस्त्रालंकार, मकानादि, भोजन, गाना बजाना, सुगंधादि पाँचों इन्द्रियों के विषयों की अनुकूलता में विशेष अनुराग होता है, स्वरूप की विस्मृति पूर्वक शरीर के राग में रत रहना मिथ्यात्व भाव है जो संसार का कारण है।

इष्ट पदार्थों के वियोग में दु:ख होना आर्तभाव है। इसमें जीव अनिष्ट संयोग से पीड़ित होता है, रोगादि होने पर संक्लेश परिणामी होता है, आगामी संयोग लिए आतुर होकर घबराता है। स्वार्थ साधन के लिए बाधक कारणों को हटाने के लिए हिंसादि रौद्र परिणाम करता है।

२६. स्त्री, पुरुष, नपुंसक : तीन भाव

स्त्रियं काम व्रिधंते, पुंसं मिथ्यात संजुतं ।
नपुंसक व्रत षंडस्य, त्रिभंगी दल तिस्टते ।। ३४ ।।

अन्वयार्थ – **(स्त्रियं काम व्रिधंते)** स्त्रियों के निमित्त से काम की वृद्धि करता है **(पुंसं मिथ्यात संजुतं)** मिथ्यात्व से संयुक्त होकर पुरुष पर्याय रूप अनुभव करता है और **(नपुंसक व्रत षंडस्य)** व्रतों का खंडन करके नपुँसक भाव से संयुक्त होता है **(त्रिभंगी दल तिस्टते)** [इस प्रकार] यह त्रिभंगी दल अशुभ भावों में ही तिस्टाने वाला है।

विशेषार्थ – जो जीव कामभाव में रत रहता है वह कभी स्त्री सम्बंधी भाव करके पुरुष से भोग की चाह करता है, कभी पुरुष सम्बंधी भाव करके स्त्री के साथ भोग करना चाहता है। यह कामभाव अनर्थकारी है। काम के वश होकर मिथ्यात्व का सेवन करना पड़ता है। नपुँसक वेद के भाव से सभी व्रत-संयम खण्डित हो जाते हैं। कामभाव एक बड़ा रोग है, इससे संसार की वृद्धि होती है, सदा ही दु:ख मिलता है। जब तक जीव के मन में काम की आग जलती रहती है तब तक निरंतर कर्मों का आस्रव हुआ करता है।

कामभाव से बुद्धि भ्रष्ट होती है, आत्मा का पतन होता है। कामभाव में रत जीव, वेश्यागमन करते हैं, परस्त्री सेवन करते हैं, श्रृंगार रस के शास्त्र पढ़ते हैं, कामकथा करते हैं, कामभाव बढ़ाने वाले नाटक देखते हैं, कामी जीव इन पाँच खोटी भावनाओं में वर्तते हैं-१. काम से राग बढ़ाने वाली कथाऐं पढ़ना व सुनना २. काम के वश होकर मनोहर रूपों को देखने के लिए आतुर रहना ३. काम भोगों की चर्चा करना ४. पौष्टिक कामोद्दीपक रसों को ग्रहण करना ५. शरीरादि को श्रृंगार से सजाकर मनोहर रखना। काम भाव से बचने के लिए वृद्ध व साधु सेवा, समय का सदुपयोग, सत्संग, शास्त्र स्वाध्याय, सामायिक, आत्मचिंतन, एकांत सेवन करना चाहिए। कामभाव उद्दीपक निमित्तों से बचना चाहिए। जैसे-घी आग का निमित्त पाकर पिघल जाता है वैसे कामी का मन कामवर्द्धक स्त्री पुरुष के निमित्त से कामी हो जाता है।

दुराचारी के साथ रहने की अपेक्षा नरक में रहना अच्छा है। बुढ़ापा रूप का दुश्मन है। प्रबल आशा से धैर्य नष्ट होता है। मृत्यु प्राणों की ग्राहक है। निर्लज्ज को धर्म की चिन्ता नहीं रहती, क्रोध श्रीहीन कर देता है। नीच की सेवा से शील नष्ट होता है, कामुकता लज्जा की दुश्मन है और अकेला अभिमान इन सभी गुणों को नष्ट कर देता है।

२७. मनुष्यनी, तिर्यंचनी, देवांगना : तीन भाव

मनुष्यनी व्रत हीनस्य, तिर्यंचनी असुह भावना ।
देवांगनी मिच्छ दिस्टी च, त्रिभंगी पतितं दलं ।। ३५ ।।

अन्वयार्थ - (मनुष्यनी व्रत हीनस्य) मनुष्यनी व्रत हीन **(तिर्यंचनी असुह भावना)** तिर्यंचनी के प्रति अशुभ भावना **(च)** और **(देवांगनी मिच्छ दिस्टी)** देवांगनी के प्रति मिथ्यात्व मय दृष्टि से विभाव भाव करता है यह **(त्रिभंगी पतितं दलं)** त्रिभंग दल जीव को पतित कराने वाला है।

विशेषार्थ - स्त्री के प्रति कामासक्त भाव धर्म में विघ्न कराने वाला है, कामासक्ति दु:खों का कारण है व सुखों को नाश करने वाली है। काम विकार उत्पन्न करने में कारण स्त्रियों के तीन प्रकार यहाँ बताये गये हैं जिनमें रागभाव करने से कर्मास्रव होता है। रागी जीव कामभाव से निरंतर महिलाओं के रूप को देखता है, मोहित होकर उनके साथ हास्य, कौतूहल, वार्तालाप करता है। किसी तरह उनको वश में करके उनसे कामरति करता है, व्रतहीन होकर मनमानी करता है। एक देश व्रती स्व-स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों को माता, भगिनी, पुत्री के समान देखता है। अव्रती मिथ्यात्वी को विवेक नहीं होता; वह कामभाव में फँसकर स्व-स्त्री, पर-स्त्री, वेश्या, कन्या आदि का भेद न करके उनसे राग बढ़ा लेता है।

तिर्यंचनी पशु के शरीरों को देखकर भी कामी के मन में कामविकार उत्पन्न हो जाता है; इसी तरह मिथ्यात्वी काम भोग का आतुर स्वर्गादि में देवियों का रूप-लावण्य, हावभाव, विलास, विक्रिया सुनकर यह लालसा मन में बांध लेता है कि मैं देवगति में पैदा होकर मनोहर रूपवान देवियों के साथ क्रीड़ा करूँ। वह देवी देवताओं के रागभाव की कथा सुनकर उसमें रस लेता है, अनुमोदना करता है।

इस तरह तीन प्रकार चेतन स्त्रियों के निमित्त से मन में विकार का होना, वचनों से हास्यादि करना, शरीर से कुचेष्टा करना, पापबन्ध का कारण है। इसीलिए ज्ञानपूर्वक अपना अंतर शोधन करना आवश्यक है तब ही कर्मास्रव से बचकर मुक्ति हो सकती है।

२८. कास्टचित्र, पाषान चित्र, लेप चित्र : तीन भाव

कास्ट पाषान दिस्टं च, लेपं दिस्टि अनुरागतः ।
पाप कर्मं च व्रिधंति, त्रिभंगी असुहं दलं ।। ३६ ।।

अन्वयार्थ - (कास्ट पाषान दिस्टं च) काष्ठ और पाषाण की बनी मूर्ति को विकार भाव से देखना **(लेपं दिस्टि अनुरागतः)** चित्रों को देखकर उनसे अनुराग करना **(पापकर्मं च व्रिधंति)** यह सब पापकर्म का आस्रव, और काम भाव की वृद्धि करने वाली **(त्रिभंगी असुहं दलं)** त्रिभंगी अशुभ दल है।

विशेषार्थ - काष्ठ की स्त्री-मूर्ति, पाषाण की स्त्री-मूर्ति, चित्र में बनी स्त्री। स्त्रियों के श्रृंगारित आकार देखने से रागी पुरुषों के मन में राग भाव, काम भाव बढ़ता है जो पापकर्म की वृद्धि करता है, यह तीनों अशुभ भावों का समूह है।

अशुभ भाव उत्पन्न करने वाले चित्रों व मूर्तियों से कामभाव विकार उत्पन्न होना सम्भव है जिससे पापकर्म का बंध होता है; अत: आस्रव से बचने के लिए रागवर्द्धक मूर्ति व चित्रों का अवलोकन त्यागना चाहिये।

२९. रूप, अरूप, लावण्य : तीन भाव

रूपं अरूप लावण्यं, दिस्टितं असुह भावना ।
ते नरा दुष्य साहंति, त्रिभंगी दल मोहिनं ।। ३७ ।।

अन्वयार्थ - **(रूपं अरूप लावण्यं)** रूप, कुरूप, लावण्य को पाप भाव से **(दिस्टितं)** देखता है **(असुह भावना)** अशुभ भावना भाता है [जो नर ऐसे विकार भाव करते हैं] **(ते नरा दुष्य साहंति)** वे नर दु:खों को प्राप्त करते हैं और **(त्रिभंगी दल मोहिनं)** त्रिभंगी के इस अशुभ दल में मोहित रहते हैं।

विशेषार्थ - ह्यमनोज्ञ व इष्ट वस्तु में राग, अनिष्ट-अमनोज्ञ वस्तुओं में द्वेष भाव होता है। सुन्दर स्त्री पुरुषों को देखकर मोहित होना कर्मास्रव पापबन्ध का कारण है। रूप लावण्य देखकर मोही जीव उन्मत्त होकर अनेक प्रकार से कुचेष्टा करता है।

जब तक सभी इन्द्रियों का संतुलित एवं संतोषजनक संयम न हो तब तक काम संयम नहीं रखा जा सकता; क्योंकि सभी इन्द्रियाँ अन्योन्याश्रित हैं।

मन से विकृत मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता क्योंकि वासनाओं एवं विकारों का मन में उदय होने पर काम संयम अत्यंत कठिन हो जाता है।

३०. माया, मोह, ममत्व : तीन भाव

माया मोह ममत्तस्य, प्रमानं असुह चिंतनं ।
ममतं मिथ्या संजुत्तं, त्रिभंगी नरयं पतं ।। ३८ ।।

अन्वयार्थ- **(माया मोह ममत्तस्य)** माया, मोह, ममत्व में लग कर जीव **(प्रमानं असुह चिंतनं)** अज्ञान रूप अशुभ चिंतन करता है **(ममतं मिथ्या संजुत्तं)** ममत्व और मिथ्यात्व भाव से संयुक्त यह **(त्रिभंगी नरयं पतं)** त्रिभंगी नरक में पतन का कारण है।

विशेषार्थ - संसार की क्षणभंगुर स्वप्न सम अवस्थाओं को माया कहा गया है। माया के तीन रूप होते हैं-कंचन, कामिनी, कीर्ति-इनमें मोह करना, अपना मानना, स्नेह करना आदि से अशुभ चिंतन होता है, जिससे भय और चिन्ता पैदा होती है। ममत्व भाव मिथ्यात्व में लीन करता है, जिससे जीव दुर्गति का पात्र बनता है।

यह जीवन तो बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर है। कुटुम्बादि का संयोग स्वप्न के समान है। जगत के प्राणियों के साथ स्नेह संध्या की लालिमा के समान है और तृण पर पड़ी हुई बूँद के समान शरीर का क्षणभर में पतन हो जाता है। इन्द्रियों के भोग इन्द्रधनुष के समान देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं, मेघों के विघटन के समान लक्ष्मी विला जाती है। पानी में खींची हुई रेखा के समान जवानी मिट जाती है अर्थात् जगत की सभी पर्यायें क्षणभंगुर नाशवान हैं।

कंचन, कामिनी, कीर्ति, माया का घेरा है। पुत्र, परिवार मोह का घेरा है। धन, वैभव, विषयासक्ति, ममत्व का फैलाव है। जब तक अपनत्वपना, कर्तापना, अहंकार और चाह है तब तक तनाव, अशांति नहीं मिट सकती । आवश्यकता से आकुलता होती है, समस्या से विकल्प होते हैं, जिम्मेदारी से चिन्ता होती है।

एक तरफ माया-कंचन, कामिनी, कीर्ति का चक्कर है, इन्द्रिय विषय भोग मन की चाह है। इनमें

ममत्व भाव होने से आकुलता-व्याकुलता, भय, चिन्ता, दु:ख है, जन्म-मरण, संसार है। दूसरी तरफ मुक्ति-आत्मानुभूति, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से साधु पद और अरिहंत सिद्ध पद की प्राप्ति होती है।

३९. कषाय, राग, मिस्र : तीन भाव

अनन्तानु कषायं च, रागादि मिस्र भावना ।
दुष्य कर्म व्रिधंते तत्र, त्रिभंगी दुर्गति कारनं ।। ३९ ।।

अन्वयार्थ - (अनन्तानु कषायं च) अनंतानुबंधी कषाय और **(रागदि मिस्र भावना)** रागादि सहित मिश्र भावना जहाँ होती है **(दुष्य कर्म व्रिधंते तत्र)** वहाँ दु:ख रूप कर्मों की वृद्धि होती है अर्थात् [पापकर्म का बन्ध होता है] **(त्रिभंगी दुर्गति कारनं)** यह त्रिभंगी दुर्गति का कारण है।

विशेषार्थ - अशुद्ध परिणामों से बन्ध होता है, वे परिणाम राग-द्वेष-मोह हैं। उनमें से मोह और द्वेष तो अशुभ भाव हैं। राग भाव शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है। संसार के प्रति रुचि होना मोह भाव है, यह अशुभ भाव है। क्रोध, मान व अरति, भय, शोक, जुगुप्सा के उदय से पर में द्वेषभाव होता है, यह भी अशुभ भाव है। द्वेष से परिणाम संक्लेश रूप रहते हैं, मोह से मलिन रहते हैं। मोह और द्वेष तो पाप बन्ध के ही कारण हैं।

लोभ, माया कषाय तथा हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुँसक वेद के उदय से रागभाव होता है। यह रागभाव जब विषय-कषायों की पुष्टि के लिये होता है तब वह अशुभ राग है और पाप बन्ध का कारण है। जब कषायों का मंद उदय होता है तब पंच परमेष्ठी की भक्ति पूजा-दान, परोपकार, जप, स्वाध्याय, संयम आदि शुभ कार्यों को करने की आकांक्षा होती है, इसे शुभ रागभाव कहते हैं इससे पुण्य का बन्ध होता है। शुभ भाव, अशुभ भाव दोनों ही बन्ध के कारण हैं। यही राग-द्वेष-मोह भाव जब अनन्तानुबंधी कषाय के उदय सहित होते हैं तब उनको मिश्र भाव कहते हैं। सामान्य रूप से मिथ्यादृष्टि जीव मिश्र भावों में फँसा रहता है।

३२. कारन, कार्य, दुचित्त : तीन भाव

कारनं मिथ्या मयं प्रोक्तं, कार्यं दुर्गति बन्धनं ।
दुचित्तं अन्रितं वन्दे, त्रिभंगी नरयं स्तितं ।। ४० ।।

अन्वयार्थ - (कारनं मिथ्या मयं प्रोक्तं) मिथ्यात्वमय कारण कहा है **(कार्यं दुर्गति बन्धनं)** उसका कार्य दुर्गति रूप बंधन है **(दुचित्तं अन्रित वन्दे)** खोटे चित्त रूप कुगुरुओं की, नाशवान, क्षणभंगुर वस्तुओं की वन्दना भक्ति करना ये **(त्रिभंगी नरय स्तितं)** त्रिभंगी नरक में स्थित कराने वाली है।

विशेषार्थ - जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है तथा जैसा कार्य होता है वैसा चित्त (चिन्तन) होता है।

मिथ्यात्व के तीन भेद हैं-१. तत्त्व में अरुचि, २. अतत्त्व श्रद्धान और ,३. तत्त्व में संशय। साधक की प्रारम्भिक अवस्था में बाधक तीन मुख्य कारण-१. स्वयं की आंतरिक दुर्बलता, २. आलस्य और ३. शरीर-इन्द्रिय आदि में सुख बुद्धि है। साधक प्रथम भूमिका में शरीरादि को तो अपने से भिन्न मान लेता है किन्तु शरीर और इन्द्रियों द्वारा होने वाली भोजन पान, सोना, सुनना, बोलना, करना आदि क्रियाओं को तथा मन से होने वाले चिन्तन और बुद्धि से होने वाले निश्चय को अपनी क्रिया मानता रहता है। इधर ध्यान ही नहीं देता कि जब शरीरादि सब भिन्न हैं तो फिर होने वाली क्रियायें भी तो भिन्न हैं, मुझमें कहाँ हैं? यह मिथ्यादर्शन सहित

परिणाम संसार का कारण कहा गया है।

'शरीर मैं हूँ' ऐसा सम्बंध जोड़ने पर शरीरादि के नाश का भय अपने ही नाश का भय हो जाता है। 'शरीर मेरा है' ऐसा मानने पर शरीर के लिए खाद्य एवं परिधार्य वस्तुओं की आवश्यकता अपने लिये ही प्रतीत होने लगती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के कार्य में लगना दुर्गति का बंधन हैं।

अनुकूल या प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति और घटना आदि के संयोग वियोग में साधक के अन्तःकरण में हलचल का होना दुचित्त है और हलचल का न होना ही उसकी समचित्तता है। इस विषय में समझने की बात यह है कि विनाशी एवं विकार वाली वस्तुओं का महत्व होने से साधक का चित्त ही विषम होता है, स्वरूप नहीं। वह तो सदैव एकरस रहता है उसमें कभी विषमता आ ही नहीं सकती।

३३. आलाप, लोकरंजन, सोकः तीन भाव

आलापं असुहं वाक्यं, मिथ्या मय लोक रंजनं ।
सोकं अन्रितं दिस्टा, त्रिभंगी नरयं पतं ।। ४१ ।।

अन्वयार्थ – (आलापं असुहं वाक्यं) अशुभ वचनालाप करता है **(मिथ्या मय लोक रंजन)** मिथ्यात्वमय होकर लोक को रंजायमान करता है **(सोकं अन्रितं दिस्टा)** अनित्य, नाशवान, असत्य वस्तुओं के प्राप्त न होने पर शोक करता है इस प्रकार अलाप, लोकरंजन, और शोक की यह **(त्रिभंगी नरयं पतं)** त्रिभंगी नरक का पात्र बना देती है।

विशेषार्थ – व्यर्थ बोलना, अशुभ वचन बोलना, निष्प्रयोजन बोलना आलाप है। मिथ्या मायाचारी करना, विकथा आदि से लोगों को रंजायमान करना लोक रंजन है। पर की तरफ दृष्टि, नाशवान वस्तुओं को देखना, अहितकारी मानना, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग आदि से शोक होता है। यह तीनों भाव नरक आयु के बन्ध के कारण हैं।

श्रेष्ठजनों के द्वारा कर्त्तव्य की उपेक्षा, अपना दायित्व निभाने में प्रमाद तथा चारित्र स्खलन की छोटी सी भूल लोक समुदाय के पतन और विनाश के कारण बन जाते हैं। केवल अपने सुखोपभोग के लिए जीने वाला व्यक्ति पाप की जिन्दगी जीता है तथा निन्दनीय होता है।

काम, क्रोध, लोभ यह तीनों नरक के द्वार हैं। काम, क्रोध और मोह के आधीन होकर ही मनुष्य पापकर्म करके दुःख पाता है एवं संसार बंधन में फँसता है। चारित्र और नैतिक मूल्यों की उपेक्षा – वाणी, मन और जिव्हा को संयत न रखने के कारण होती है।

हिंसा, चोरी, कुशील यह तीन काया के निंद्य कर्म हैं। परनिंदा, कठोर, मर्मस्पर्शी वचन, झूठ और कलह मूलक भाषण, यह चार वचन निंद्य कर्म हैं। पर का बुरा विचारना, दूसरों का धनादि हरण करने की इच्छा और विपरीत मान्यता यह तीन मानसिक निंद्य कर्म हैं। जिनसे जीव नरक का पात्र बनता है।

३४. रसना, स्पर्सन, घ्रानः तीन भाव

रसनं स्पर्सनं भावं, घ्रानं घ्रान संजुतं ।
असुहं कर्म संप्रोक्तं, त्रिभंगी दल पस्यते ।। ४२ ।।

अन्वयार्थ – (रसनं स्पर्सनं भावं) रसना और स्पर्शन इन्द्रिय से सम्बंधित भाव करना **(घ्रानं घ्रान संजुतं)** घ्रान इन्द्रिय से सुगंधादि के परिणामों से संयुक्त होना **(पस्यते)** उन्हीं को देखना यह **(त्रिभंगी दल)**

रसना, स्पर्सन और घ्राण इन्द्रिय का त्रिभंगी समूह **(असुहं कर्म संप्रोक्तं)** अशुभ कर्म का बन्ध कराने वाला कहा गया है।

विशेषार्थ - इस मानव शरीर की विशेषता उसकी पाँच इन्द्रियाँ और मन है। एक-एक इन्द्रिय की विषय वासना से जीव को अपने प्राण गँवाना पड़ते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हाथी, रसना इन्द्रिय के वशीभूत मछली, घ्राण इन्द्रिय के वशीभूत भौंरा, चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत पतंगा, कर्ण इन्द्रिय के वशीभूत हिरण अपने प्राण गंवाता है फिर जो जीव पाँचों इन्द्रियों के विषय भोग में लगा हो उसकी क्या दुर्दशा होगी?

मनुष्य को रसना इन्द्रिय की विशेषता प्राप्त है, इसके दो कार्य हैं-भोजन करना और बोलना। रसना इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों रूप काम करती है। भोजन करने से शेष इन्द्रियाँ सक्रिय होती हैं। भोजन करने के लिए पाप-परिग्रह, क्रिया-कर्म करना पड़ते हैं। बोलने से संसार एवं पर जीवों से सम्बंध जुड़ता है जिससे राग-द्वेष रूप कर्मबन्ध होता है।

स्पर्शन इन्द्रिय की वासना संसार का मूल है। काम भाव से स्त्री-पुरुष, परिवार का सम्बंध होता है। स्पर्शन इन्द्रिय की विषय पूर्ति पराधीन बनाती है। इसके पीछे हिंसादि पाप होते हैं जो संसार परिभ्रमण का कारण हैं। घ्राण इन्द्रिय के विषयाधीन हित-अहित, हेय-उपादेय का विवेक नहीं रहता। इन तीनों इन्द्रियों के भाव से निरंतर कर्मास्रव अशुभ कर्म का बन्ध होता है।

३५. चष्यु, स्रोत्र, उछाह : तीन भाव

चष्युं अन्रितं दिस्टा, श्रुतं विकह रागयं ।
उच्छाह मिच्छ मयं प्रोक्तं, त्रिविधं त्रिभंगी दलं ।। ४३ ।।

अन्वयार्थ - (चष्युं अन्रितं दिस्टा) चक्षु इन्द्रिय से जीव नाशवान वस्तुओं को देखकर विभाव भाव करके कर्म का आस्रव बन्ध करता है **(श्रुतं विकह रागयं)** कर्ण इन्द्रिय से विकथा आदि सुनकर राग करता है **(उच्छाह मिच्छ मयं)** मिथ्यात्व मय क्रियाओं को उत्साह पूर्वक करता है **(त्रिविधं त्रिभंगी दलं)** यह चक्षु, श्रोत्र, उत्साह तीनों प्रकार का त्रिभंगी दल कर्मास्रव में निमित्त भूत **(प्रोक्तं)** कहा गया है।

विशेषार्थ - चक्षु से अनेक प्रकार के पदार्थों को देखकर राग होता है। आँखों से जो भी दिखाई देता है वह सब पौद्गलिक जगत क्षणभंगुर नाशवान है; परन्तु रागी मिथ्यादृष्टि जीव सुन्दर शरीर के रूप को, आभूषणों वस्त्रों, मकान, नगर, खेल तमाशे को देखकर राग भाव बढ़ाता है। चक्षु इन्द्रिय दूर से ही देखकर विषय का भोग करती है।

कर्ण इन्द्रिय से अनेक प्रकार की विकथायें, सुरीले राग वर्द्धक गाने, हास्यपूर्ण वार्तालाप आदि को सुनकर राग करता है। मान-अपमान, अशुभ शब्द सुनकर द्वेष करता है। कर्ण इन्द्रिय भी दूर से शब्दों को सुनकर विषय भोग करती है; जबकि स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रियाँ पदार्थ से मिलने पर विषय भोग करती हैं। इन विषय भोगों की चाह लगन और इनमें उत्साह होना, यह सब मिथ्यात्व कहा गया है। जो जीव इनमें रत रहता है वह कर्मों का बन्ध करके संसार का पात्र बनता है कर्तृत्व - भोक्तृत्व ही संसार है। जो जीव अपनी समझ, सामग्री, समय, सामर्थ्य, परवस्तु शरीरादि के विषय भोग में लगाता है, उसमें उत्साहित रहता है वह संसार में परिभ्रमण करता है।

३६. आहार, निद्रा, भय : तीन भाव

आहारं असुद्धं भावं, निद्रा मिथ्यात भूतयं ।
भावं सुद्ध तिक्तं च, त्रिभंगी संसार भाजनं ।। ४४ ।।

अन्वयार्थ - **(आहारं असुद्धं भावं)** आहार करने के अशुद्ध भाव करता है **(निद्रा मिथ्यात भूतयं)** मिथ्यात्व मय निद्रा में तन्मय हो रहा है **(भावं सुद्ध तिक्तं च)** शुद्ध भावों का त्याग किये रहता है [भयभीत बना रहता है] **(त्रिभंगी संसार भाजनं)** यह त्रिभंग संसार का पात्र बनाने वाला है।

विशेषार्थ - जब तक जीव को आहार, निद्रा, और भय के भाव होते हैं तब तक कर्मास्रव होता है और यह तीनों भाव संसार का पात्र बनाने वाले हैं। आत्मा के जिस परिणाम से कर्म आते हैं वह परिणाम भावास्रव तथा कर्मों का आना द्रव्यास्रव कहलाता है। जिसका राग प्रशस्त है अर्थात् जो पंचपरमेष्ठी के गुणों में, उत्तम धर्म में अनुराग करता है। जिसके परिणाम दया युक्त हैं और मन में क्रोधादि रूप कलुषता नहीं है उस जीव के पुण्य कर्म का आस्रव होता है।

तीव्र मोह के उदय से होने वाली आहार, निद्रा, भयरूप संज्ञा में जीव अशुद्ध भाव तथा मिथ्यात्व भाव में मूर्च्छित रहता है, पूर्व कर्मबन्ध के उदय का भय लगा रहता है, जिससे निरंतर अशुभ कर्मास्रव होता है। इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय, कर्मों में मोहनीय कर्म, व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत, गुप्तियों में मनोगुप्ति। यह चार बहुत साधना और अभ्यास से वश में होते हैं। रसना इन्द्रिय से आहार के भाव, मोहनीय कर्म से दु:ख और मन से भय की उत्पत्ति होती है। मोहनीय कर्म के उदय में होने वाले ममत्व परिणाम को मूर्च्छा कहते हैं। बाह्य विषयों का त्याग, द्रव्य त्याग है और अन्तर्वर्ती विषय सम्बंधी विकल्पों का त्याग, भाव त्याग है। दोनों प्रकार से त्याग करने वाले विश्व पूज्य होते हैं।

इस प्रकार मन-वचन-काय तीनों योग की प्रवृत्ति से आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन, हलन-चलन होना कर्मास्रव है। जिनका १०८ प्रकार के भावों द्वारा निरूपण किया है। इनसे बचने के लिए साधक को सावधान रहते हुए अपना अंतर शोधन करना चाहिए; तब ही वह कर्मास्रव से बच सकता है।

मोह रूप संकल्प तथा राग-द्वेष रूप विकल्प यह सब जीव के अज्ञान भाव हैं। यह जीव अपनी इस भूल के कारण ही कर्म बन्ध करता है, यदि वह अपने स्वरूप का सही बोध कर ले और किसी भी पदार्थ में राग-द्वेष की भावना न करे तब, कर्मफल चेतना रहित, ज्ञान चेतना सहित वह ज्ञानी है। उस समय उसकी यह परिणति ज्ञानमय परिणति है, इस ज्ञानमय परिणति के होने पर जीव दोनों प्रकार के आस्रव का अभाव कर निरास्रवदशा को प्राप्त करता है। कर्मास्रव का निरोध होना ही मोक्षमार्ग है।

द्वितीय अध्याय

त्रिभंगी आस्रव दल निरोधन भाव

प्रतिज्ञा

त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं, भव्यात्मा ह्रिदयं चिंतनं ।
तेनाऽहं निरोधनं कृत्वा, जिन उक्तं सुद्ध दिस्टितं ।। ४५ ।।

अन्वयार्थ - (जिन उक्तं सुद्ध दिस्टितं) जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है शुद्ध दृष्टि **(भव्यात्मा**

ह्दियं) भव्यात्मा जीव अपने ह्रदय में आस्रव के निरोध करने का निरंतर **(चिंतनं)** चिंतन करता है इसलिये **(तेनाऽहं निराधनं कृत्वा)** मैं आस्रव के निरोध करने के अभिप्राय से **(त्रिभंगी प्रवेसं प्रोक्तं)** त्रिभंगी प्रवेश को कहता हूँ।

विशेषार्थ - पूर्व कथित छत्तीस त्रिभंगी दलों में कर्मों के आस्रव व बन्ध के हेतुभूत भावों को बताया गया है। उनको समझकर भव्य जीव ह्रदय में विचार करते हैं कि -जब तक कर्मास्रव होगा, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। जैसे नाव में पानी आने की संधियाँ हों तो उनको डाँट लगाकर बन्द करते हैं, तभी नदी पार कर सकते हैं। इसी प्रकार इन आस्रव भावों का निरोध करने पर ही मुक्ति होती है। जिनेन्द्र देव द्वारा बताई गई निज शुद्धात्मा की अनुभूति में जो डूबते हैं वही शुद्ध दृष्टि इन आस्रव भावों का निरोध करते हैं। वन में रहने वाले निर्ग्रंथ वीतरागी साधु आत्मा के अमृत कुण्ड में मग्न होकर छटवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं, तब ही कर्मास्रव का निरोध होता है। आत्म प्रदेशों का निष्कंप होना ही कर्मास्रव का निरोध है। जो भव्य जीव इतना प्रबल पुरुषार्थ करते हैं; त्रियोग की साधना करते हैं वे ही शुद्ध दृष्टि मुक्तिमार्ग के पथिक हैं। वीतरागता होने से उन्हें ज्ञान की अगाध अद्‌भुत शक्ति प्रगट होती है; और आस्रव का निरोध होता है।

१०८ भाव से आस्रव के निरोध रूप संवर भाव कहे जाते हैं।

१. देव, गुरु, धर्म (सास्त्र) : तीन भाव

देव देवाधि देवं च, गुरु ग्रन्थस्य मुक्तयं ।
धर्म अहिंसा उत्पाद्यं, त्रिभंगी दल निरोधनं ।। ४६ ।।

अन्वयार्थ - **(देव देवाधि देवं)** सच्चे देव देवाधिदेव परमात्मा हैं **(गुरु ग्रन्थस्य मुक्तयं)** गुरु परिग्रह से रहित हैं **(च)** और **(धर्म अहिंसा उत्पाद्यं)** धर्म अहिंसा मय है [सच्चे देव, सच्चे गुरु, सच्चे धर्म के श्रद्धान सहित जो आत्म श्रद्धान सम्यग्दृष्टि के अंतर में प्रगट हुआ है उतने प्रमाण में ये] **(त्रिभंगी दल निरोधनं)** त्रिभंगी दल कर्म के आस्रव का निरोध करता है।

विशेषार्थ - जिसे मोक्ष की भावना जागी है, जो अपना आत्मकल्याण करना चाहता है, जिसे कर्मास्रव बन्ध से छूटना है उसे आत्महित में साधक, सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की महिमा आती है। कोई भी कार्य करते हुए उसे निरंतर शुद्ध स्वभाव प्राप्त करने का भाव बना रहता है।

पुरुषार्थ - की निर्बलता के कारण अस्थिरता रूप विभाव परिणति में शुभाशुभ परिणाम होते हैं। इस विभावपरिणति को रोकने का उपाय सच्चे देव, गुरु, धर्म, निज शुद्धात्म स्वरूप का चिंतन मनन, शास्त्र स्वाध्याय करना है। जिससे यह शुभाशुभ भावों की धारा रुक जाती है। यह तीनों भाव आस्रव का निरोध करने वाले हैं। आत्मा की मुख्यता पूर्वक सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का आलम्बन साधक को आता है। 'मैं स्वभाव से परिपूर्ण हूँ, कृत-कृत्य हूँ'- ऐसा मानते हुए भी 'पर्याय में तो अभी पामरता है' ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

प्रश्न - सच्चे देव गुरु शास्त्र के चिंतन से शुभ भावों की धारा कैसे रुकती है ?

उत्तर - सच्चे देव देवाधिपति इन्द्रों द्वारा वन्दनीय, परम देव-परमात्मा जो अरिहंत और सिद्ध पद को प्राप्त हो गये हैं। जो वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी, अपने आनंद, परमानंद पद में विराजमान हैं। जिनके घातिया कर्म क्षय हो गये हैं, अनंत चतुष्टय प्रगट हो गये हैं। जो नौ क्षायिक लब्धि के धनी केवलज्ञानी अरिहंत परमात्मा

हैं। आठों कर्मो से रहित सिद्ध परमात्मा हैं, उनके समान ही मेरे आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। मैं भी द्रव्य स्वभाव से आत्मा-शुद्धात्मा हूँ। ऐसा परमात्मा और आत्मस्वरूप का विचार करना, यही सच्चे देव की आराधना है, इससे आस्रव भाव का निरोध होता है।

सच्चे गुरु- जो सम्पूर्ण बंधनों से रहित, निर्ग्रन्थ, वीतरागी, महाव्रती साधु हैं। जो अपने आत्मज्ञान-आत्मध्यान में लीन रहते हैं। जो अंतरंग-बहिरंग परिग्रह के त्यागी, जितेन्द्रिय, सरल स्वभाव के धारी होते हैं। जिनके सत्संग और उपदेश से संसारी जीव का अज्ञान भाव दूर होता है। जो स्वयं मोक्षमार्ग के पथिक हैं तथा मोक्षमार्ग बताते हैं उन्हें सच्चे गुरु कहते हैं। निश्चय से अपना अंतरात्मा ही सद्‌गुरु है। ऐसे सद्‌गुरु के सत्संग और स्वरूप का चिंतन करने से आस्रव भाव का निरोध होता है।

सच्चे शास्त्र - अपना शुद्ध स्वभाव ही धर्म है। ऐसे सत्स्वरूप को बताने वाले, अहिंसा का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र सच्चे होते हैं। जिनका स्वाध्याय, चिंतन, मनन करने से आत्म स्वरूप का बोध जागता है, संसार के दु:खों से छूटने के भाव होते हैं, इन भावों से कर्मास्रव का निरोध होता है। साधक जीव को भूमिकानुसार शुभाशुभ विकल्प आते ही हैं। इनसे बचने के लिये साधक को देव, गुरु, शास्त्र के स्वरूप का चिन्तन मनन करने से अपने आत्मस्वरूप का बोध जाग्रत होता है जिससे आस्रव भाव का निरोध होता है।

२. व्यवहार दर्सन, न्यान, चारित्र : तीन भाव

दर्सनं तत्व सर्धानं, न्यानं तत्वानि वेदनं ।
स्थिरं तत्व चारित्रं, त्रितियं सुद्धात्मा गुनं ।। ४७ ।।

अन्वयार्थ - **(दर्सनं तत्व सर्धानं)** तत्त्व का श्रदान करना सम्यग्दर्शन है **(न्यानं तत्वानि वेदनं)** तत्त्व का वेदन करना सम्यग्ज्ञान है **(स्थिरं तत्व चारित्रं)** तत्त्व में स्थिर होना सम्यक्‌चारित्र है **(त्रितियं सुद्धात्मा गुनं)** ये तीनों शुद्धात्मा के गुण हैं। [भेद रूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व्यवहार है]

विशेषार्थ - जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष- इन सात तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। इनमें से बन्ध के कारणों से बचकर संवर व निर्जरा के कारणों में प्रवृति करने के लिये साधु का महाव्रत रूप व ग्रहस्थ का अणुव्रत रूप आचरण पालन करना व्यवहार चारित्र है।

मोक्ष का मार्ग या प्राप्ति का उपाय व्यवहार नय से तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र है किन्तु निश्चय नय से शुद्धात्मा ही मोक्ष का मार्ग है इस प्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा अपने शुद्धात्मा के गुणों को जानने से आस्रव भाव का निरोध होता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र मयी अपना आत्मस्वरूप है यही शरणभूत है इसके आश्रय से ही कर्म बन्ध से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त होता है। स्वाश्रय ही कर्मास्रव से बचने का उपाय है।

३. निस्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र : तीन भाव

संमिक् दर्सनं न्यानं, चारित्रं सुद्धात्मनं ।
स्व स्वरूपं च आराध्यं, त्रिभंगी समय षण्डनं ।। ४८ ।।

अन्वयार्थ - **(संमिक् दर्सनं न्यानं)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान **(च)** और **(चारित्र सुद्धात्मनं)**

सम्यक्‌चारित्र मयी शुद्धात्म स्वरूप है **(स्व स्वरूपं आराध्यं)** अपने इसी स्व स्वरूप की आराधना करने [रूप यह] **(त्रिभंगी समय षण्डनं)** आत्मा की सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र की त्रिभंगी आस्रव का खण्डन करने वाली है।

विशेषार्थ - निश्चय रत्नत्रय आत्मानुभव रूप है। यही यथार्थ में कर्मास्रव को दूर करने वाला है। सम्यग्दर्शन स्वरूप परमसुख, सम्यग्ज्ञान स्वरूप परमशान्ति, और सम्यक्‌चारित्र स्वरूप परमानंद आत्मा का स्वभाव है। तीनों ही अखण्ड आत्मा में इस तरह व्यापक हैं जैसे स्वर्ण में पीतपना, भारीपना और चिकनापना व्यापक है या अग्नि में दाहकपना, पाचकपना, प्रकाशकपना व्यापक है।

आत्मा का आत्मा रूप, जैसा का तैसा अनुभव प्रमाण श्रद्धान सम्यक्त्व है। ऐसा ही संदेह रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। इसी ज्ञान श्रद्धान में स्थिर होना सम्यक्‌चारित्र है। आत्मा स्वभाव से, दृव्य दृष्टि से सदाकाल एक, अमूर्तिक, ज्ञान, दर्शनमय, वीतराग, परमानंदमयी सिद्ध भगवान के समान है, ऐसा श्रद्धान-ज्ञान व उसी भाव में लवलीन होना निश्चय रत्नत्रय है, यह आत्मा ही स्व समय है।

जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हो रहा है उसे निश्चय से स्वसमय तथा जो जीव पुद्‌गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है। उसे पर समय जानो। ज्ञानी के दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं। निश्चय से दर्शन, ज्ञान, चारित्र कुछ भी नहीं है, ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

जो वीतरागी आत्मा, अपने ही आत्मा के द्वारा, अपने ही आत्मा में अपने ही आत्मा को निश्चल होकर देखता जानता है, वही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है, इसी से कर्मास्रव का निरोध होता है। अंतर शुद्ध द्रव्य, एकरूप, निष्क्रिय, ध्रुव चिदानंद सो निश्चय तथा उसके अवलम्बन से प्रगट हुई निर्विकल्प मोक्षमार्ग दशा व्यवहार है। अध्यात्म का ऐसा निश्चय-व्यवहार ज्ञानी ही जानता है, अज्ञानी नहीं

४. संमिक् संजम, संमिक् तप, संमिक् परिनै : तीन भाव

संमिक् संजम तवं चिंते, संमिक् परिनै तं धुवं ।
सुद्धात्मा चेतना रूवं, जिन उक्तं सुद्ध दिस्टितं ।। ४९ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक् संजमं तवं) सम्यग्दर्शन, ज्ञान पूर्वक ज्ञानी संयम का पालन करता है, सम्यक् तप को धारण करता है **(समिक् परिनै तं धुवं)** [और जो] स्वभाव रूप सम्यक् परिणति होती है उसमें ध्रुव स्वभाव रूप परिणमन करता है **(सुद्धात्मा चेतना रूवं)** शुद्धात्मा चैतन्य स्वरूप है **(चिंते)** ऐसा चिंतवन करता है **(जिन उक्तं सुद्ध दिस्टितं)** जिनेन्द्र भगवान कहते हैं वह शुद्ध दृष्टि है। [सम्यक् संयम, सम्यक् तप और अपने धुव स्वभाव में परिणमन रूप चेतन भाव से शुद्धात्मा में रहता हुआ कर्मास्रव का निरोध करता है]

विशेषार्थ - संयम का स्वरूप इस प्रकार कहा है- व्रतों का धारण, समितियों का पालन, कषायों का निग्रह, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का त्याग और पाँचों इन्द्रिय तथा मन पर विजय, इसे संयम कहा गया है। अपने स्वरूप में स्थिर होकर आत्मानुभव करना सम्यक् संयम है; क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना स्वरूप में भले प्रकार स्थिर भाव नहीं रहता। जो व्रत व संयम सहित अपने निर्मल आत्मा का अनुभव करता है वह शीघ्र ही सिद्ध सुख को पाता है ऐसा जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है।

५. भाव सुद्ध, श्रद्धान, प्रमान : तीन भाव

भावए भाव सुद्धं च, परमानं स्वात्म चिंतनं ।
जिन उक्तं हृदयं सार्धं, त्रिभंगी दल षंडितं ।। ५० ।।

अन्वयार्थ - (भावए भाव सुद्धं) सम्यग्दृष्टि शुद्ध भाव की निरंतर भावना भाता है, **(परमानं)** सम्यग्ज्ञान [स्व-पर के यथार्थ निर्णय] पूर्वक **(स्वात्म चिंतनं)** आत्म स्वरूप का चिंतन मनन करता है **(च)** और **(जिन उक्तं)** जिनेन्द्र कथित वस्तु स्वरूप का **(हृदयं सार्धं)** हृदय में श्रद्धान करता है **(त्रिभंगी दल षंडितं)** यह त्रिभंगी दल आस्रव का खण्डन करने वाला है।

विशेषार्थ - स्वात्मानुभव रूप शुद्ध आत्मतत्त्व का लाभ होकर स्वानुभव होता है। उससे राग भाव विला जाता है, कर्मों का संवर होता है। इसी स्वानुभव रूप श्रुतज्ञान के द्वारा अविनाशी प्रकाश रूप निर्मल, उत्कृष्ट, निराकुल एक केवलज्ञान झलक जाता है। आत्मा निश्चय नय से परम शुद्ध पदार्थ है। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नो कर्म से भिन्न है। आत्मा सर्व परद्रव्यों से, परभावों से भिन्न है, सिद्ध के समान शुद्ध है, यही ज्ञान प्रमाण है, जिसको भाव श्रुतज्ञान कहते हैं।

जिनवर कथित वाणी का स्वाध्याय करने से अपने शुद्धात्म स्वरूप का श्रद्धान हो जाता है, यही शुद्ध सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के प्रताप से स्वात्मानुभव होता है। स्वात्मानुभव ही जिन कथित परमार्थ धर्म का प्रकाश है, इसी से कर्मों का संवर व पूर्व कर्म की निर्जरा होती है यही भाव प्रमाण अर्थात् श्रुतज्ञान केवलज्ञान का कारण है।

६. आत्मचिंतन, उपादेय, सास्वत : तीन भाव

चिंतनं चेतना रूपं, उपादेय सास्वतं ध्रुवं ।
जिन उक्तं सुद्ध चैतन्यं, त्रिभंगी दल निरोधनं ।। ५१ ।।

अन्वयार्थ - (चिंतनं चेतना रूपं) [ज्ञानी अपने] चैतन्य स्वरूप का चिंतन करता है **(उपादेय सास्वतं ध्रुवं)** शाश्वत ध्रुव स्वभाव को उपादेय मानता है **(जिन उक्तं सुद्ध चैतन्यं)** जिनेन्द्र परमात्मा के कहे अनुसार शुद्ध चैतन्य स्वभाव का आराधक होता है **(त्रिभंगी दल निरोधनं)** यह त्रिभंगी आस्रव दल का निरोध करती है।

विशेषार्थ - जब आत्मा शुद्ध निश्चय नय का आश्रय लेता है तब जो आत्मा है वही ज्ञान है, वही दर्शन, चारित्र है, और वही शुद्ध ज्ञान चेतना है, मन के सभी विचार प्रवाह बन्द हो जाने से शाश्वत आत्मा का स्वभाव प्रगट होता है। यही स्वभाव का अनुभव मोक्ष का कारण है; इसलिए पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है जिस तरह राजा के मरने पर राजा की सेना प्रभाव रहित होकर स्वयं भाग जाती है, उसी तरह मोह राग के क्षय होने पर शेष तीन घातिया कर्म भी क्षय हो जाते हैं। तब तीन लोक में पूज्य, अरिहंत पद प्रगट हो जाता है, यही उपादेय है; फिर अघातिया कर्म का क्षय होने से सिद्ध पद प्रगट होता है, जो शाश्वत, त्रिकाली ध्रुव स्वभाव है। ऐसे अपने ध्रुव, शाश्वत, चैतन्य स्वरूप का चिन्तन करने से कर्मास्रव का निरोध होता है। छटवें गुणस्थान वाले जीव को अंतर्मुहूर्त में अपनी (निर्विकल्प अनुभूति) न आये तो वह छटवाँ-सातवाँ गुणस्थान नहीं रहता; चौथे पाँचवें गुणस्थान में लम्बे समय के बाद निर्विकल्प अनुभव होता है परन्तु ज्ञान लब्ध रूप से तो सदा ही वर्तता है। "मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ" ऐसा भान होने पर जब अनुभव करता है तब सिद्ध समान

ही आत्मा का अनुभव करता है।

जिसने आत्मा को पहिचाना है, अनुभव किया है, उसको आत्मा ही सदा समीप वर्तता है। प्रत्येक पर्याय में शुद्धात्मा ही मुख्य रहता है। विविध शुभ भाव आयें तब भी शुद्धात्मा विस्मृत नहीं होता, अपना शाश्वत ध्रुव स्वभाव ही उपादेय रहता है, इसी से कर्मास्रव का निरोध होता है।

७. मति, स्रुत, अवधि न्यान : तीन भाव

मति कमलासनं कंठं, जिन उक्तं स्वात्म चिंतनं ।
उवंकारं च विंदंते, सुद्ध मति सास्वतं धुवं ।। ५२ ।।
श्रुतस्य ह्दियं चिन्ते, अचष्यु दर्सन दिस्टितं ।
उवंकारं ह्यिंकारं च, सार्धं न्यान मयं धुवं ।। ५३ ।।
मति श्रुतं च उत्पाद्यंते, अवधं चारित्र संजुत्तं ।
षट् कमलं त्रि उवंकारं, उदयं अवधि न्यानयं ।। ५४ ।।

अन्वयार्थ - (मति कमलासनं कंठं) कंठ कमल रूपी आसन पर मतिज्ञान स्थित रहता है, [इस मति ज्ञान से] **(जिन उक्तं स्वात्म चिंतनं)** जिनेन्द्र परमात्मा के वचन प्रमाण आत्म स्वरूप का चिंतन करते हुए [सम्यक्त्वी] **(उवंकारं विंदंते)** ऊँकार स्वरूप शुद्धात्मा का अनुभवन करते हैं **(च)** और **(सुद्ध मति सास्वतं धुवं)** शाश्वत ध्रुव स्वभाव के श्रद्धान से ही यह मतिज्ञान शुद्ध हुआ है [ऐसा श्रुत ज्ञान का हृदय में चिंतन करते हैं] ।

(श्रुतस्य ह्दियं चिन्ते) श्रुत ज्ञान का शब्दों के निमित्त से [अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद, अर्थ, सदर्थ, आदि का] हृदय में चिंतन करते हुए **(अचष्यु दर्सन दिस्टितं)** अचक्षु दर्शन में अपने स्वभाव का दर्शन करते हैं, (उवंकारं) ऊँकार स्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव होने से [मतिज्ञान सम्यक् हुआ, सम्यक् दर्शन प्रगट हुआ] **(च)** और [श्रुतज्ञान में] **(ह्यिंकारं)** ह्यिंकार स्वरूप परमात्म स्वभाव का आश्रय रखते हुए **(सार्धं न्यान मयं धुवं)** ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की साधना करते हैं।

(मति श्रुतं उत्पाद्यंते) मति, श्रुत ज्ञान जहाँ उत्पन्न हो जाता है [वह ज्ञानी वीतराग अवस्था को धारण करते हुए] **(अवधं चारित्र संजुत्तं)** अवधि ज्ञान **(च)** और चारित्र से संयुक्त होता है **(षट् कमलं त्रि उवंकार)** षट् कमल के द्वारा तीन ऊँकार [ऊँकार, ह्रींकार, श्रींकार] की साधना करते हुए **(उदयं अवधि न्यानयं)** अवधि ज्ञान का उदय होता है [ऐसे साधु वीतराग चारित्र के धारी होते हैं इस प्रकार मति, श्रुत, अवधि ज्ञान का यह त्रिभंग कर्म के आस्रव का निरोध करने वाला है]

विशेषार्थ - यहाँ आस्रव के निरोधक मति-श्रुत-अवधिज्ञान रूप तीन भावों को स्वात्मानुभव रूप बतलाया है। इसका ज्ञानपूर्वक-ध्यानपूर्वक योग साधना के माध्यम से विवेचन किया है।

मतिज्ञान- पाँच इन्द्रिय और मन के द्वारा अपनी शक्ति अनुसार जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान- मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानना श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञान - जो द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की मर्यादा सहित इन्द्रिय या मन के निमित्त बिना रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान – सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है। जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने उपयोग में युक्त होता है तब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होते हैं, यह दशा चौथे गुणस्थान से होती है। निश्चय भाव श्रुतज्ञान, शुद्धात्मा के सन्मुख होने से सुख संवित्ति ज्ञान स्वरूप है। यद्यपि यह ज्ञान निज को जानता है तथापि इन्द्रिय तथा मन से उत्पन्न होने वाले विकल्पों के समूह रहित होने से निर्विकल्प है उसे आत्मज्ञान कहते हैं।

ध्यान करने वाले को उचित है कि पहले आत्मा के व परद्रव्य के स्वरूप को यथार्थ जाने व श्रद्धान करे, फिर परद्रव्य को अप्रयोजनभूत जानकर छोड़ दे। अपने में ही अपने को स्थापित करे। पहले शास्त्राभ्यास से अपने स्वरूप का भाव अपने में स्थापित करे और जब एकाग्र हो जावे तब कुछ चिन्तवन न करे।

मतिज्ञान की भावना – कण्ठ में कमल चिंतवन करें। उस कमल के मध्य में ऊँ मंत्र को चमकता हुआ विराजमान करें व उसके द्वारा शुद्धात्मा के स्वरूप की भावना भायें। स्वानुभव का प्रकाश होना सम्यग्दर्शन सहित यथार्थ मतिज्ञान है। यहाँ मति नाम मनन के लिए है।

श्रुतज्ञान की भावना – हृदय कमल में ऊँ ह्रीं मंत्र की स्थापना करके उसके द्वारा ज्ञानमयी शुद्धात्मा की भावना भायें, जिससे अतीन्द्रिय आत्मा में स्थिरता हो जाए स्वसंवेदन हो जाए, यही श्रुतज्ञान है। द्वादशांग श्रुतज्ञान का भाव यही है कि शुद्धात्मा का अनुभव हो जावे। श्रुत का अभिप्राय अनुभव ज्ञान है।

अवधिज्ञान की भावना – सम्यक्चारित्र से अवधिज्ञान का भाव होता है। षट्कमल में ऊँ ह्रीं श्रीं स्वरूप शुद्धात्मा का चिन्तवन करते हुए जब अपने आत्म स्वरूप में स्थिरता हो जाए तब अवधिज्ञान का प्रकाश होता है। षट्कमल का जागरण ध्यान शक्ति के द्वारा किया जाता है, यह सभी जानते हैं कि हमारा मस्तिष्क एक प्रकार का बिजलीघर है और उस बिजली की प्रमुख धारा का नाम मन है। मन की गति चंचल और बहुमुखी होती है। वह हर घड़ी चंचल और उछल–कूद में व्यस्त रहता है। इस उथल–पुथल के कारण उस विद्युत पुंज का एक स्थान पर केन्द्रीकरण नहीं होता, जिससे कोई महत्वपूर्ण कार्य सम्पादन हों। इसके अभाव में जीवन के क्षण ऐसे ही नष्ट होते रहते हैं। यदि उस शक्ति का एकत्रीकरण हो जाता है, उसे एक स्थान पर संचित कर दिया जाता है तो अतिशीघ्र शीशे द्वारा आग की लपटें उठने लगना, जैसे दृश्य उपस्थित हो जाते हैं।

ध्यान एक ऐसा सूक्ष्म विज्ञान है जिसके द्वारा मन की बिखरी हुई बहुमुखी शक्तियाँ एक स्थान पर एकत्रित होकर एक कार्य में लगती हैं। फल स्वरूप यहाँ असाधारण शक्ति का स्रोत प्रवाहित होता है। ध्यान द्वारा मनः क्षेत्र की केन्द्रीभूत इस बिजली से, साधक षट् चक्रों का वेधन करता है।

इस प्रकार ज्ञान, ध्यान, योग साधना के द्वारा साधक इन भावों से कर्मास्रव का निरोध करता है।

८. रिजु विपुल, मनपर्जय, केवल स्वरूप : तीन भाव

मति श्रुत अवधिं चिंते, रिजु विपुलं च जानु स्तितं ।
स्वात्म दर्सनं न्यानं, सुचरनं मन पर्जयं ।। ५५ ।।
चत्रु न्यानं च एकत्वं, केवलं पदमं ध्रुवं ।
अनन्तानन्त दिस्टंते, सुद्धं संमिक् दर्सनं ।। ५६ ।।

अन्वयार्थ – (मति श्रुत अवधिं चिंते) [साधु] मति, श्रुत व अवधिज्ञान का चिन्तन करते हुए

(स्वात्म दर्सनं न्यानं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान **(च)** और **(सुचरनं)** सम्यक्चारित्रमयी अपने आत्म स्वरूप में रमण करते हैं और **(रिजु विपुलं जानु स्तितं)** रिजुमति, विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान में स्थित होते हैं।

(चत्रु न्यानं च एकत्वं) [एक जीव को] एक साथ चार ज्ञान तक हो सकते हैं **(केवलं पदमं धुवं)** केवलज्ञान [एक ही होता है जो] अविनाशी शाश्वत पद है **(अनन्तानन्त दिस्टंते)** सम्यग्दृष्टि ज्ञानी अनंत स्वभाव को देखते हैं **(सुद्ध संमिक्दर्सनं)** यही शुद्ध सम्यग्दर्शन है, [निश्चय सम्यग्दर्शन कर्म के आस्रव का निरोध करने वाला है]।

विशेषार्थ – मन:पर्ययज्ञान – जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा सहित इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना ही दूसरे पुरुष के मन में स्थित रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है उसे मन:पर्यय ज्ञान कहते हैं। यह ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है।

ऋजुमति – मन में चिंतित पदार्थ को सरल रूप से जानता है, अचिंतित पदार्थ को नहीं जानता।

विपुलमति – चिंतित और अचिंतित पदार्थ को तथा वक्र और अवक्र चिंतित पदार्थ को भी जानता है। मन:पर्यय ज्ञान विशिष्ट संयम धारी को होता है। विपुल का अर्थ विस्तीर्ण विशाल गंभीर होता है।

केवलज्ञान – समस्त द्रव्य और उनकी सभी पर्यायों को अक्रम से एक ही काल में जानता है। केवलज्ञान में ऐसी शक्ति है कि अनन्तानन्त लोक अलोक को भी जानने में समर्थ है।

केवलज्ञान प्रगट होने पर वह सदा के लिये बना रहता है, दूसरे ज्ञानों का उपयोग अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त होता है, उससे अधिक नहीं होता, उसके बाद ज्ञान के उपयोग का विषय बदल जाता है केवली के अतिरिक्त सभी जीवों के कम से कम दो अर्थात् मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं।

९. स्वस्वरूप - मूल, अन्या, वेदक : तीन भाव

१०. उपसम, ष्याइक, सुध : तीन भाव

स्वस्वरूपं सुद्ध दर्वार्थं, अन्या वेदक उवसमं ।
ष्याइकं सुद्ध धुवं चिंते, कर्मादि मल मुक्तयं ।। ५७ ।।

अन्वयार्थ - **(स्वस्वरूपं सुद्ध दर्वार्थं)** शुद्ध स्वरूप आत्म द्रव्य को प्रयोजनीय मान कर [जिन आज्ञा प्रमाण] स्वीकार करना **(अन्या)** आज्ञा सम्यक्त्व है **(वेदक)** आत्मानुभूति पूर्वक सम्यक् मिथ्यात प्रकृति के उदय के निमित्त से राग रूप परिणामों का वेदन करते रहना साथ में श्रद्धान का भी बने रहना वेदक सम्यक्त्व है **(उवसमं)** सात प्रकृति के उपशम से जो श्रद्धान प्रगट होता है वह उपशम सम्यक्त्व है **(ष्याइकं)** और इन सातों प्रकृति के क्षय से जो श्रद्धान प्रगट होता है वह क्षायिक सम्यग्दर्शन या क्षायिक सम्यक्त्व है **(सुद्ध)** अपने सिद्ध स्वरूप में लीनता रूप अटल श्रद्धान शुद्ध सम्यक्त्व है इस प्रकार आज्ञा, वेदक, उपशम, क्षायिक, और शुद्ध सभी सम्यक्त्व में **(धुवं चिंते)** ध्रुव स्वभाव स्वानुभूति मय प्रगट प्रमुख है ऐसा ज्ञानी चिंतन करता है और **(कर्मादि मल मुक्तयं)** कर्म के आस्रव रूप समस्त विकारों से मलों से मुक्त होता है।

विशेषार्थ – सम्यग्दर्शन आत्मा का एक ऐसा गुण है जो केवल अनुभव गम्य है। स्वानुभूति के साथ इसका अविनाभावी सम्बंध है। अपने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद बिना सम्यक्त्व के नहीं आ

सकता।

सम्यग्दर्शन के अंतरंग कारण - निकट भव्यता, सम्यक्त्व के प्रतिबंधक मिथ्यात्व आदि कर्मों का यथायोग्य उपशम, क्षय, क्षयोपशम, उपदेश आदि को ग्रहण कर सकने की योग्यता, संज्ञित्व और परिणामों की शुद्धता।

सम्यग्दर्शन का बहिरंग कारण - सद्गुरुओं का उपदेश आदि।

सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होता है- जब काल लब्धि आदि के योग से भव्यत्व शक्ति की प्रगटता होती है, तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भाव रूप निज परमात्म द्रव्य के सम्यक्श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् अनुचरण रूप पर्याय से परिणत होता है। इस परिणमन को आगम की भाषा में औपशमिक भाव या क्षायोपशमिक भाव या क्षायिक भाव कहते हैं।

भव्य जीव क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि और प्रायोग्य लब्धि को प्राप्त करके तीन करण द्वारा करण लब्धि करता है। करण लब्धि होने पर सम्यक्त्व नियम से होता है।

सम्यक्त्व की पात्रता - चारों गतियों में से किसी भी गति वाला भव्य, संज्ञी, पर्याप्तक, मंदकषायी, ज्ञानोपयोगयुक्त, जागता हुआ, शुभ लेश्या वाला तथा करण लब्धि से सम्पन्न जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

जिस जीव में मोक्ष प्राप्ति की योग्यता है उसे भव्य कहते हैं और सम्यक्त्व ग्रहण करने की योग्यता को लब्धि कहते हैं।

अतीत में जो नर श्रेष्ठ मुक्त हुए हैं और भविष्य में जो मुक्त होंगे, वह सब सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो। सम्यक्त्व रूपी रत्न, मुक्ति रूपी लक्ष्मी को आकृष्ट करने वाला है क्योंकि सम्यक्दृष्टि ही मुक्ति लक्ष्मी का वरण करता है। शुद्ध आत्म द्रव्य विश्रान्ति ही परमार्थ से सिद्ध भक्ति है उसी से निर्वाण पद प्राप्त होता है।

११. पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ : तीन भाव

१२. रूपातीत अन्या, अपाय : तीन भाव

१३. विपाक, संस्थान, शुक्लध्यान : तीन भाव

पदस्थं सुद्ध पदं सार्धं, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
पिण्डस्थ न्यान पिण्डस्थ, स्वात्म चिंता सदा बुधै ।। ५८ ।।
रूपस्थं सर्व चिद्रूपं, रूपातीतं विक्त रूपयं ।
स्व स्वरूपं च आराध्यं, धर्म चक्रं न्यान रूपयं ।। ५९ ।।
धर्म ध्यानं च संजुक्तं, औकास दान समर्थयं ।
अन्यापाय विचय धर्मं, सुक्ल ध्यानं स्वात्म दर्सनं ।। ६० ।।

अन्वयार्थ - (पदस्थं सुद्ध पदं सार्धं) शुद्ध पद में आत्म श्रद्धान पूर्वक स्थित होना पदस्थ ध्यान है **(सुद्ध तत्व प्रकाशकं)** [यह पदस्थ ध्यान] शुद्ध तत्त्व का प्रकाशक है **(स्वात्म चिंता सदा बुधै)** ज्ञानी जन सदैव अपने आत्म स्वरूप का चिंतन करते हुए **(पिण्डस्थ न्यान पिण्डस्थ)** ज्ञान पिंड में स्थित होते हैं इसे पिंडस्थ ध्यान कहा है।

(रूपस्थं सर्व चिद्रूपं) सर्व प्रकार से मात्र चैतन्य स्वरूपमय हो जाना [स्वरूप में स्थित हो जाना]

रूपस्थ ध्यान है **(रूपातीतं विक्त रूपयं)** पर के रूपों से अतीत और अपने आत्म सत्तामय शुद्ध स्वरूप को व्यक्त रूप से अनुभवन करना रूपातीत ध्यान है **(स्व स्वरूपं च आराध्यं)** अपने आत्म स्वरूप की आराधना के लिये **(धर्म चक्रं न्यान रूपयं)** यह ज्ञान रूपी धर्मचक्र है [इस धर्म चक्र से कर्मों के आस्रव का निरोध होता है]।

(अन्यापाय विचय धर्मं) आज्ञाविचय, अपायविचय आदि धर्म ध्यान में रत रहते हुए **(धर्म ध्यानं च संजुक्तं)** धर्म ध्यान से संयुक्त होकर जीव **(औकास दान समर्थयं)** अपने स्वभाव में रहने की सामर्थ को प्रगट करता है **(सुक्ल ध्यानं स्वात्म दर्सनं)** आत्म स्वरूप के दर्शन में लीन होकर शुक्ल ध्यान को धारण कर कर्म के आस्रव का निरोध करता है।

विशेषार्थ – आत्मध्यान की अग्नि से ही कर्मों को भस्म किया जाता है। यहाँ धर्म ध्यान के अन्तर्गत पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान तथा आज्ञा विचय, द्वारा स्वस्वरूप का चिन्तन करने की प्रेरणा दी गई है, इससे आत्मशक्ति जाग्रत होती है। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है, कर्मास्रव का निरोध होता है तथा शुक्ल ध्यान से कर्म क्षय होकर केवलज्ञान परमात्म पद की प्राप्ति होती है। धर्मध्यान सविकल्प दशा है, इसमें स्वरूप का स्मरण ध्यान और आंशिक स्थिरता होती है। शुक्ल ध्यान निर्विकल्प दशा है, इसमें स्वात्म दर्शन और स्वरूप स्थिरता होती है जिससे केवलज्ञाान प्रगट होता है।

१४. द्रव्य, भाव, सुद्ध : तीन भाव
१५. तत्व, नित्य, प्रकासकं : तीन भाव

दर्वस्य भाव सुद्धस्य, तत्व नित्य प्रकासकं ।
सुद्धात्मा भावए नित्यं, त्रिभंगी दल षंडितं ।। ६१ ।।

अन्वयार्थ – **(दर्वस्य भाव सुद्धस्य)** शुद्ध भाव पूर्वक ज्ञानी अपने द्रव्य स्वभाव को जानता है **(तत्व नित्य प्रकासकं)** तत्त्व स्वरूप का अनुभवन करता है यह नित्य प्रकाश रूप है [अपने सत् स्वरूप का अनुभवन ही ज्ञानी को अपने पद का प्रकाश करता है] **(सुद्धात्मा भावए नित्यं)** निरंतर शुद्धात्मा की भावना भाता है **(त्रिभंगी दल षंडितं)** यह त्रिभंगी दल आस्रव का निरोध करने वाला है।

विशेषार्थ – यहाँ एक गाथा में तीन-तीन भाव की दो त्रिभंगी का स्वरूप बताया है, जिन भावों को ध्याने से कर्मास्रव का निरोध होता है।

१. द्रव्यस्वभाव – आत्म द्रव्य सत् स्वरूप है, गुण पर्यायवान है, अनन्त गुण पर्याय का धारी है, अमूर्तिक है, असंख्यात प्रदेशी है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप है। आत्मा शुद्ध निश्चय नय से सिद्ध के समान है।

२. भाव – आत्मा के भाव पाँच प्रकार के होते हैं – औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक, पारिणामिक। इनमें से चार भाव कर्म सापेक्ष होते हैं। एक अनादि अनंत शुद्ध चैतन्य स्वभाव वह पारिणामिक भाव है। औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिक, यह तीन भाव मोक्षकर्ता हैं, औदयिक भाव बन्ध का कारण है और पारिणामिक भाव बन्ध मोक्ष की क्रिया से रहित है।

३. शुद्ध स्वरूप – जीव अपने इन भावों का स्वरूप समझकर त्रिकाल ध्रुव रूप सकल निरावरण

अखण्ड एक अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक भाव की ओर अपना लक्ष्य स्थिर करता है, यही शुद्ध स्वरूप है, जिसके आश्रय से समस्त कर्म क्षय होते हैं।

४.तत्त्व - तत्त्व शब्द का अर्थ तत्पना या उस रूपता है। प्रत्येक वस्तु में तत्त्व के स्वरूप से तत्पन है और पर रूप से अतत्पन है। जीव वस्तु है इसलिए उसमें अपने स्वरूप से तत्पन है और पर के स्वरूप से अतत्पन है। जीव चैतन्य स्वरूप होने से ज्ञाता है और सब वस्तुएँ ज्ञेय हैं इसलिए जीव दूसरे सभी पदार्थों से सर्वथा भिन्न है। जीव अपने से तत्रूप है इसलिए उसे अपना ज्ञान स्वत: होता है और पर से अतत् रूप है इसलिए उसे पर से ज्ञान नहीं हो सकता। तत्त्व परिपूर्ण शुद्ध द्रव्य को कहते हैं, तत्त्व के श्रद्धान से ही सम्यग्दर्शन होता है।

५. नित्य - आत्मा त्रिकाल शाश्वत ध्रुव स्वभाव है।

६. प्रकाशकं- आत्मा स्व-पर प्रकाशक केवलज्ञान स्वभावी परमात्मा है। अखण्ड विज्ञान घन स्वरूप ज्ञान स्वभावी आत्मा निश्चय है और परिणति को स्वभाव सन्मुख करना व्यवहार है। मतिश्रुत ज्ञान को अपनी ओर लगा लेने की पुरुषार्थ रूप जो पर्याय है वह व्यवहार है और अखण्ड आत्म स्वभाव निश्चय है।

१६. तत्व, द्रव्य, काय : तीन भाव

तत्वादि सप्त तत्वानां, दर्व काय पदार्थकं ।
सार्धं करोति सुद्धात्मानं, त्रिभंगी समय किं करोति ।। ६२ ।।

अन्वयार्थ - (तत्वादि सप्त तत्वानां) जीवादि सात तत्त्व **(दर्व काया पदार्थकं)** छहद्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नौ पदार्थ ऐसे सत्ताईस तत्त्वों में **(सार्धं करोति सुद्धात्मानं)** [ज्ञानी मात्र] अपने शुद्धात्मा की साधना करता है **(त्रिभंगी समय किं करोति)** अन्य आस्रव भूत त्रिभंगी इस आत्मा का क्या करती है [अर्थात् कुछ नहीं करती अभिप्राय यह है कि शुद्धात्म स्वरूप की साधना करने से आस्रव सम्बंधी परिणामों का निरोध होता है]

विशेषार्थ - सात तत्त्व - जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। छह द्रव्य - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। पाँच अस्तिकाय - जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय। नौ पदार्थ - जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। इन सत्ताईस तत्त्वों में एक जीव तत्त्व ही प्रमुख है जो चेतन लक्षण वाला तथा इन सत्ताईस तत्त्वों को जानने वाला है। शेष तत्त्व अजीव, पुद्गल का विस्तार है, जो जीव के विभाव रूप परिणमन का परिणाम है। व्यवहार नय से जीव अजीव आदि सात तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहलाता है क्योंकि इनके श्रद्धान से पर्यायों का ज्ञान होता है। कि यह आत्मा इस तरह कर्म बन्ध कर अशुद्ध होता है तथा कर्म का क्षय करके मुक्त होता है। इसमें पुण्य-पाप, आस्रव बन्ध में गर्भित हैं। जीवादि छह द्रव्यों में काल द्रव्य को छोड़कर पाँच अस्तिकाय गर्भित हैं। इन सात तत्त्वों में जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ग्रहण करने योग्य हैं, आस्रव बन्ध त्यागने योग्य हैं, अजीव ज्ञेय निश्चय नय से एक शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है, जिसके श्रद्धान से कर्मास्रव का निरोध होता है। जो भव्य, आत्मा को अबद्ध स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त देखता है वह सर्व जिन शासन को देखता जानता है।

१७. समय, सुद्ध, सार्धं : तीन भाव
१८. समय, सार्धं, ध्रुव : तीन भाव

समयं दर्सनं न्यानं, चरनं सुद्ध भावना ।
सार्धं सुद्ध चिद्रूपं, तस्य समय सार्धं ध्रुवं ।। ६३ ।।

अन्वयार्थ - (समयं दर्सनं न्यानं) सम्यग्दर्शन, ज्ञान **(चरनं सुद्ध भावना)** चारित्रमयी शुद्ध भावना सहित [ज्ञानी अपने] **(सार्धं सुध चिद्रूपं)** शुद्ध चिद्रूप स्वभाव की साधना करता है **(समय सार्धं ध्रुवं)** [और अन्तर में] स्वसमय ध्रुव स्वभाव का [आराधन करता हुआ] **(तस्य)** उसकी [ही भावना भाता है]

विशेषार्थ - आत्मा निश्चय से समय है, अपने स्वरूप में एक भाव से परिणमन करने वाला तथा जानने वाला है। यह अपने स्वभाव में रमणशील होने से स्वसमय है। स्वभाव में रमण रूप आत्मा का परिणमन होना ही सार्थक है क्योंकि उस समय निश्चय रत्नत्रय का लाभ है। आप ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप हो रहा है। यही एक स्वानुभवमयी मोक्षमार्ग है, यही धर्म ध्यान और शुक्लध्यान है जो कर्मों का क्षय कारक भाव है। जगत में उत्तम पदार्थ एक आत्मा है जो सर्व नयों के विकल्पों से अतीत परम शुद्ध है, केवल चैतन्य वस्तु है इसलिए केवली है। स्वानुभव में स्थित है इसलिए मुनि है। ज्ञान स्वरूप से ज्ञानी है, अपने ही स्वभाव में रहता है इसी से स्वभाव है। जो साधक ऐसे स्वसमय में स्थिर होकर स्वानुभव करते हैं, वे ही निर्वाण को पाते हैं।

१९. संमत्त, वंदना, स्तुति : तीन भाव

संमत्त सुद्ध दिस्टिं च, वंदना नित्य सास्वतं ।
अस्तुतिं सुद्ध दर्वस्य, त्रिभंगी दल निरोधनं ।। ६४ ।।

अन्वयार्थ - (संमत्त सुद्ध दिस्टिं च) शुद्ध दृष्टि सम्यक्त्व का धारी होता है **(वंदना नित्य सास्वतं)** हमेशा अपने शाश्वत स्वभाव की वन्दना करता है **(अस्तुतिं सुद्ध दर्वस्य)** शुद्ध द्रव्य की स्तुति करता है **(त्रिभंगी दल निरोधनं)** [इस प्रकार सम्यक्त्व, वन्दना, और स्तुति यह] त्रिभंगी दल कर्मास्रव का निरोध करता है।

विशेषार्थ - निश्चय सम्यग्दर्शन, निज शुद्धात्मानुभूति, संसार का नाश करने वाली है। जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं, वह हमेशा अपने शाश्वत ध्रुव स्वभाव सिद्ध स्वरूप की ही आराधना, वन्दना, भक्ति करते हैं। अपने शुद्ध द्रव्य स्वभाव की महिमा गाते हैं, यही सच्चे देव की सच्ची पूजा, वन्दना, स्तुति है। जिससे समस्त कर्म क्षय होकर निर्वाण की प्राप्ति होती है।

२०. पदार्थ, व्यंजन, स्वरूप : तीन भाव

पदार्थं पद विन्दंते, विंजनं न्यान दिस्टितं ।
स्वरूपं सुद्ध चिद्रूपं, विंजनं पद विंदकं ।। ६५ ।।

अन्वयार्थ - (पदार्थं पद विन्दंते) सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पदार्थ [अर्थात् कर्म संयोग दशा में रहते हुए भी] अपने आत्म पद का अनुभवन करता है **(विंजनं न्यान दिस्टितं)** ज्ञानदृष्टि पूर्वक व्यंजन **(स्वरूपं सुद्ध**

चिद्रूपं) स्वरूप शुद्ध चैतन्यमयी अपना स्वभाव है इसी की आराधना **(विंजनं पद विंदकं)** व्यंजन और पदों के माध्यम से करता हुआ [अपने स्वस्वरूप के अनुभव में संलग्न रहता है]।

विशेषार्थ – शुद्ध निश्चय नय से जो अपनी आत्मा को अभेद, शुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, परमानंदमय ध्याता है, उसी का ध्यान कर्मों के बंधन को काटने वाला है। आत्मा ही परमात्मा है, चैतन्यमयी, केवलज्ञान स्वभावी है। ऐसे अपने पदार्थ–व्यंजन स्वरूप का आराधन आस्रव निरोधक है।

२१. नन्द, आनन्द, सहजानन्द : तीन भाव

आनन्द नन्द रूवेन, सहजानंद जिनात्मनं ।
सुद्ध स्वरूप तत्वानं, नन्त चतुस्टय संजुत्तं ।। ६६ ।।

अन्वयार्थ – **(आनन्द नन्द रूवेन)** नंद, आनंद स्वरूप **(सहजानंद जिनात्मनं)** अपना सहजानंद मयी जिन आत्मा है **(सुद्ध स्वरूप तत्वानं)** [यही] शुद्ध स्वरूपी तत्त्व है [नंद, आनंद, सहजानंद के आराधन पूर्वक सम्यक्‌दृष्टि ज्ञानी] **(नन्त चतुष्टय संजुत्तं)** अनन्त चतुष्टयमय स्वभाव में लीन हो जाता है [परमपद को उपलब्ध करता है इस प्रकार नंद, आनंद, सहजानंद की यह त्रिभंगी कर्म के आस्रव का निरोध करती है]।

विशेषार्थ – द्वन्द रहित अवस्था को नंद कहते हैं। नंद से आनंद की वृद्धि होती है, जैसे दूज का चन्द्रमा स्वयं पूर्णमासी का चन्द्रमा हो जाता है। उसी प्रकार जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब स्वानुभव के जाग्रत होने से आत्म मग्नता होती है। चौथे, पाँचवें, छटवें गुणस्थान में उपयोग प्रमाद सहित हो जाता है तब आत्मानुभव हर समय नहीं रहता है। साधक बुद्धिपूर्वक निमित्त मिलाकर उपयोग को शुद्धात्मा में जोड़ता है। इस प्रकार स्वरूप में मगन होने से कर्म की निर्जरा होती है फिर अप्रमत्त गुणस्थान में होकर क्षीणमोह बारहवें गुणस्थानतक सहजानंद का प्रकाश रहता है, बिना प्रयत्न के सहज शुद्ध ध्यान होता है व सहज ही आनंद का वेदन वर्तता है।

अरिहंत सिद्ध परमात्मा को परमानंद प्रगट हो जाता है फिर कभी मिटता नहीं, सदा बना रहता है। मुक्ति का मार्ग नंद, आनंद, सहजानंदमयी है, इसी से कर्मास्रव का निरोध होता है।

२२. विवहार, निस्चय, सुद्ध : तीन भाव

२३. दर्सनाचार, न्यानाचार, तपाचार : तीन भाव

२४. चारित्राचार, वीर्याचार इत्यादि भेद

(२२ से ३६ पर्यन्त) गाथा नं. ६७ से ७१ तक में व्यवहार – निश्चय रूप से वर्णन किये गये हैं। जो ३६ × ३ = १०८ भेद निरोध अर्थात् १०८ आस्रव के लिए संवर रूप हैं।

विवहारं दर्सनं न्यानं, चारित्रं सुद्ध दिस्टितं ।
निस्चये सुद्ध बुद्धस्य, द्रिस्यते स्वात्म दर्सनं ।। ६७ ।।
आचरनं दर्सनाचारं, न्यानं चरनस्य वीर्जयं ।
तपाचार चारित्रं च, दर्सनं सुद्धात्मनं ।। ६८ ।।

अन्वयार्थ – **(सुद्ध दिस्टितं)** सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी का **(दर्सनं न्यानं)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सहित

(चारित्रं) सम्यक्चारित्र **(विवहारं)** व्यवहार है **(सुद्ध बुद्धस्य)** [एक मात्र अपने] शुद्ध बुद्ध **(स्वात्म दर्सनं)** आत्म स्वरूप का अनुभवन करना **(द्रिस्यते)** [उसे ही] देखना **(निस्चये)** निश्चय है।

(दर्सनाचारं) ज्ञानी सम्यग्दृष्टि योगी दर्शनाचार **(न्यानं चरनस्य वीर्जयं)** ज्ञानाचार, चारित्राचार, वीर्याचार **(तपाचार चारित्रं च)** तपाचार और चारित्राचार आदि चारित्र में **(दर्सनं सुद्धात्मनं)** शुद्धात्मा का दर्शन अनुभवन करते हुए **(आचरनं)** आचरण करते हैं [केवली जिनेन्द्र परमात्मा कहते हैं सम्यग्दृष्टि ज्ञानी शुद्धात्म स्वरूप की आराधना करते हुए इन सभी शुद्ध भावना से संयुक्त होकर आस्रव भूत त्रिभंगी दलों का निरोध करता है]

विशेषार्थ - व्यवहार में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है, निश्चय से एक अपना आत्मा ही मोक्षमार्ग है। रत्नत्रय आत्मा को छोड़कर और किसी द्रव्य में नहीं होते, इसलिए रत्नत्रयमयी आत्मा ही मोक्ष का कारण है।

व्यवहार नय से साधु के लिए पाँच प्रकार का आचार मोक्ष का साधन बताया है, क्योंकि वह स्वात्मानुभव की स्थिति में साधक है, साध्य तो निज शुद्धात्मा ही है।

१. दर्शनाचार - सम्यक्दर्शन का आचरण यह है कि पच्चीस मल रहित अष्ट अंग सहित तत्त्वों की श्रद्धा को दृढ़ रखना व निज शुद्धात्मानुभूति करना ।

२. ज्ञानाचार - सम्यग्ज्ञान की शुद्धिपूर्वक, पंच ज्ञान की प्रगटता होना।

३. चारित्राचार - साधु के चारित्र को उत्तम प्रकार से पालन करना, जिसके तेरह भेद - पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति सहित अपने आत्मस्वरूप में रमण करना, ज्ञान, ध्यान में रत रहना।

४. तपाचार - तप का भले प्रकार पालन करना, इसके बारह भेद हैं - छह बाह्य, छह आभ्यंतर। इच्छाओं का निरोध कर, स्वरूप में लीन रहना ही तप है।

५. वीर्याचार - आत्म पुरुषार्थ को प्रगट कर ज्ञानानंद स्वभाव में लीन रहना।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार के समन्वयपूर्वक शुद्धात्मानुभूति की साधना करना, इससे कर्मास्रव का निरोध होता है, पूर्व कर्म बंधोदय क्षय होते हैं, मुक्ति की प्राप्ति होती है।

एतत् भावनां क्रित्वा, त्रिभंगी दल निरोधनं ।
सुद्धात्मा स्व स्वरूपेन, उक्तं च केवलं जिनं ।। ६९ ।।
जिनवाणी ह्रिदयं चिंते, जिन उक्तं जिनागमं ।
भव्यात्मा भावये नित्यं, पंथं मुक्ति श्रियं धुवं ।। ७० ।।

अन्वयार्थ - (उक्तं च केवलं जिनं) जिनेन्द्र भगवान के कहे अनुसार जो **(सुद्धात्मा स्व स्वरूपेन)** अपने निज शुद्धात्म स्वरूप में ठहरने की **(एतत् भावनां क्रित्वा)** इस प्रकार भावना करते हैं उनके **(त्रिभंगी दल निरोधनं)** त्रिभंगी दल का निरोध हो जाता है।

(जिन उक्तं जिनागमं) जिनेन्द्र परमात्मा ने जिनागम में जैसा वस्तु का स्वरूप कहा है **(भव्यात्मा नित्यं)** भव्यात्मा जीव सदैव **(जिनवाणी ह्रिदयं चिंते)** जिनवाणी का हृदय में चिंतन करता है **(भावये)** भावना भाता है **(पंथं मुक्ति श्रियं धुवं)** कि यही मुक्ति श्री को प्राप्त करने का शाश्वत मार्ग है।

विशेषार्थ – केवलज्ञानी जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है कि हे भव्य! तुझे तेरा परिभ्रमण टालना हो तो सम्यग्ज्ञान की तीक्ष्ण बुद्धि से आनंद सागर स्वभाव को ग्रहण कर ले, स्व स्वरूप शुद्धात्मा का आश्रय होने से कर्मास्रव का निरोध होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

साधक अंतर में जाए तो अनुभूति और बाहर आए तो तत्त्व चिंतन होता है तथापि पंच परमेष्ठी, जिनवाणी चिंतन, ध्याता-ध्यान, ध्येय इत्यादि सम्बंधी विकल्प भी होते हैं; परन्तु निर्विकल्प स्वानुभूति होनेपर विकल्प जाल टूट जाता है, शुभाशुभ विकल्प भी नहीं रहते। निर्विकल्प दशा में ही मुक्ति है, ऐसा मार्ग है।

अन्तिम प्रशस्ति

जिन उत्तं सुद्ध तत्वार्थं, सुद्धं संमिक् दर्सनं ।
किंचित् मात्र उवएसं च, जिन तारण मुक्ति कारनं ।। ७१ ।।

अन्वयार्थ – **(जिन उत्तं सुद्ध तत्वार्थं)** जिनेन्द्र परमात्मा कहते हैं कि शुद्ध तत्त्व को प्रयोजनीय मान कर स्वीकार कर लेना ही **(सुद्धं सम्यग्दर्शनं)** शुद्ध सम्यग्दर्शन है **(मुक्ति कारनं)** मुक्ति का मार्ग [कारण सम्यग्दर्शन] उपलब्ध हो [अर्थात् स्वानुभूति में रमण हो ऐसे पवित्र अभिप्राय से] **(जिन तारण)** जिन तारण ने त्रिभंगी सार ग्रंथ में **(किंचित मात्र उवएसं च)** किंचित मात्र उपदेश किया है।

विशेषार्थ – श्री जिनेन्द्र प्रणीत वस्तु स्वरूप सर्वांग निर्दोष व पूर्ण रूप से वैज्ञानिक और सर्वोत्कृष्ट है; कारण कि इसमें परिपूर्ण शुद्धि रूप ध्येय के लक्ष्य से आरम्भ होकर तदनुसार प्रथम दर्शनमोह व अनन्तानुबंधी कषायजनित चारित्रमोह के अभावपूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति शुद्ध सम्यग्दर्शन से मोक्षमार्ग का मंगलमय प्रारम्भ होता है, तभी आविर्भूत होते हुए ज्ञान व आनंद तथा उसके विकास क्रम से लेकर परिपूर्ण शुद्धता पर्यंत की विधि उपदिष्ट है।

....

(ब)
श्री छद्मस्थवाणी जी
भूमिका

श्रीमद् जिन तारण तरण मंडलाचार्य जी द्वारा विरचित यह श्री छद्मस्थवाणी जी ग्रन्थ है। दस अध्यायों में ५६५ सूत्रों की रचना की गई है। पाठ्यक्रम में प्रथम अध्याय के ३८ सूत्रों को सम्मिलित किया गया है। इन ३८ सूत्रों में सम्यग्दर्शन के उदय का स्वरूप लक्षित है। इस अध्याय का महत्व इसलिये भी है कि इसमें श्रीमद् जिन तारण तरण स्वामी जी के जीवन का आंशिक परिचय भी मिल जाता है। साधना क्रम में सम्यग्दर्शन के उदय होने पर आत्म कमल का कैसा आनंदातिरेक अनुभव में आता है; यह इस अध्याय का प्रतिपाद्य है।

ग्रन्थ का नामकरण 'छद्मस्थवाणी' है। बारहवें गुणस्थान तक जीव छद्मस्थ है। यहाँ छद्म का अर्थ आवरण है। 'छद्म ज्ञान दृगावरणे, तत्र तिष्ठंतीति छद्मस्था:।' अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण को छद्म कहते हैं। उसमें रहने वाले छद्मस्थ हैं। जिस घाति कर्म समूह के कारण जीव चारों गतियों में संसरण करते हैं, वह घाति कर्म समूह संसार है, और उसमें रहने वाले जीव संसारस्थ या छद्मस्थ हैं।

(धवला-१/१,१,१९/१८८/१०)

छद्मस्थ दो प्रकार के कहे गये हैं - सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि। सर्वलोक में मिथ्यादृष्टि छद्मस्थ भरे हुए हैं। सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ दो प्रकार के हैं - सराग छद्मस्थ और वीतराग छद्मस्थ। चौथे से दसवें गुणस्थान तक सराग और ग्यारहवें से बारहवें गुणस्थान तक वीतराग छद्मस्थ होते हैं। ये वीतराग छद्मस्थ भी उपशांत कषाय और क्षीणकषाय छद्मस्थ, इस तरह दो प्रकार के कहे गये हैं।

(पंच संग्रह प्राकृत १/२४)

गोम्मटसार जीवकांड आदि ग्रन्थों के अनुसार 'कतकफल से सहित जल अथवा शरदकाल में सरोवर का पानी जिस प्रकार निर्मल रहता है, उसी तरह मोह कर्म सर्वथा उपशांत हो गया है, ऐसा उपशांत कषाय गुणस्थानवर्ती अत्यंत निर्मल परिणाम वाला होता है।' क्षपणासार जी में श्री नेमिचंद्राचार्य जी ने ६०३ वीं कारिका में क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती वीतरागी छद्मस्थ का स्वरूप कहा है - 'क्षीण कषाय गुणस्थान में मोह रहित तीन घातिया प्रकृतियों का काण्डक घात होता है। यहाँ अंत काण्डक का घात होने के पश्चात् भी कुछ द्रव्य शेष होता है जिसका काण्डकघात सम्भव नहीं है। इस शेष द्रव्य को समय-समय प्रति उदयावलि को प्राप्त करके एक-एक निषेक के क्रम से अंतर्मुहूर्त काल में अभाव करता है। इस अंतर्मुहूर्त काल में क्षीण मोह कषाय गुणस्थानवर्ती कृतकृत्य छद्मस्थ कहलाता है।' ऐसे जिन श्रेणी में रहने वाले सम्यग्दृष्टि दिगम्बर मुनिराजों की वाणी छद्मस्थवाणी है। इस आधार पर ग्रन्थ का नामकरण किया गया है।

श्री छद्मस्थवाणी जी

उवं ह्रियं श्रियं अर्हन्त सर्वन्यं सिद्ध सिद्धं ध्रुवं जयं सुयं जयं जयं उत्पन्नं जयं ।। १ ।।

सूत्रार्थ - ॐ ह्रीं श्रीं अरहंत सर्वज्ञ सिद्ध शुद्ध परमात्मा की जय हो, जय हो, जय हो। और जयवंत स्वरूप शुद्धात्मा से उत्पन्न स्वानुभव की जय हो।

पद्यानुवाद - ओंकार जय ह्रींकार जय, श्रींकार जय सर्वज्ञ जय ।
अरिहंत जिनवर शुद्ध सिद्ध जिनेन्द्र जय उत्पन्न जय ।।

भावार्थ - ॐ ह्रीं श्रीं इस प्रकार ये तीन अर्थ हैं। शुद्धात्मा के स्वरूप हैं। ये जयवंत हों। शुद्ध परम परमात्मा श्री सर्वज्ञ देव अरहंत और सिद्ध भगवान जय जयवंत हों और आत्मा में उत्पन्न शुद्ध स्वरूप का उदय जयवंत हो।

प्रश्न - मंगलाचरण में किसको नमस्कार किया गया है ?

उत्तर - ओंकार ह्रींकार श्रींकारमयी शुद्धात्मा, अरिहंत सर्वज्ञ परमात्मा सिद्ध भगवान और स्वानुभव में उत्पन्न शुद्ध स्वभाव को नमस्कार किया गया है।

प्रश्न - मंगलाचरण क्यों किया जाता है ?

उत्तर - ग्रन्थारंभ के पूर्व मोक्ष सुख की सिद्धि के लिये ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये तथा शुद्धोपयोग की प्राप्ति, चित्त की स्थिरता के लिये मंगलाचरण किया जाता है।

उव उवन उत्पन्न जिन श्रेणि तारन तरन उवन कमल ।। २ ।।

सूत्रार्थ - आत्मा के शुद्ध स्वभाव के उदय में जिन श्रेणि उत्पन्न होती है तथा जिन श्रेणि के उदय में तारण तरण उवन कमल अथवा तारण तरण का शुद्धात्म स्वरूप उत्पन्न हुआ है।

पद्यानुवाद - शुद्धात्मा के उदय में जिन श्रेणि तारण तरण पद ।
उत्पन्न होता नियम से वह उदय कमल स्वरूप पद ।।

भावार्थ - उव उवन आत्मा का शुद्ध स्वरूप जब उदय होता है तब उसमें जिन श्रेणि मार्ग स्वयं उत्पन्न होता है जिन श्रेणी चैतन्य द्रव्य स्वभाव के आश्रय से परिणति में उत्पन्न होती है।

प्रश्न - जिन श्रेणि कहाँ उत्पन्न होती है और इसका वृद्धिंगत होता हुआ क्रम क्या है ?

उत्तर - आत्म स्वरूप के भाव सहित प्रतीति में जिनश्रेणि उत्पन्न होती है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति (जिनश्रेणि) का यह क्रम चौथे से चौदहवें गुणस्थान पर्यंत चलता है। परिणामों की विशुद्धि उत्तरोत्तर जिस क्रम से वृद्धिगत होती है उसी क्रम से गुणस्थान भी बढ़ते जाते हैं। यहाँ श्री तारण स्वामी जी ने जिनश्रेणि का अनुभव किया और दृढ़ता पूर्वक उसका कथन किया है।

उत्पन्न कलनस्य कलियं, उत्पन्न कमल सुभाव ।। ३ ।।

सूत्रार्थ - अंतर में उत्पन्न हुए कमल स्वभाव के आश्रय से आत्म स्वभाव में एकाग्रता पूर्वक स्थिर होना स्वानुभव कलन या ध्यान है।

पद्यानुवाद - निज गुण कला से हो कलित अनुभूति जिसके पास है ।
उत्पन्न होता है कलन निज ध्यान निलय निवास है ।।

भावार्थ – अपने स्वरूप का अपने आपमें चिंतन करना कलन है। स्वरूप में एकाग्र होना ही ध्यान और स्वानुभूति है। स्वानुभूति होने पर आत्म कमल खिल जाता है।

प्रश्न – कलन किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो चिंतन स्वानुभूति में परिणत हो जाये अर्थात् जिसमें अनंत गुणों की कली-कली खिल जाये उसे कलन कहते हैं।

अर्क विन्द उत्पन्न ।।४।।

सूत्रार्थ – निज निर्विकल्प समाधि का प्रकाश देने वाला आत्म ध्यान रूपी सूर्य उत्पन्न होता है।

पद्यानुवाद – निज अर्क विंद स्वरूप की उत्पत्ति होती है जहाँ ।
खिलता कमल सा भाव निज की ज्योति जाग्रत है वहाँ ।।

भावार्थ – अपने कमल स्वभाव का पर द्रव्यों के पृथकत्व का अपनी अनुभूति में जब प्रकाश होता है तब उसी प्रकाश के द्वारा निर्विकल्प अर्क विंद भाव उत्पन्न होता है।

प्रश्न – निर्विकल्पता का उदय कब होता है ?

उत्तर – आत्मा जब आत्मा में कमल स्वभाव को प्रकाशित करता है, अपने भावों में पर भाव से भिन्नत्व को अनुभव करता है अथवा आत्म स्वभाव कमल पुष्पवत् विकसित होता है, उस समय निज निर्विकल्प स्वभाव में उदित होता है।

अर्क छत्तीस सरन कमल उत्पन्न कमल ।।५।।

सूत्रार्थ – षट् कमलाश्रित अर्क छत्तीस हैं और षट् कमल आत्म कमल स्वभाव के आश्रित हैं।

पद्यानुवाद – इस देह में षट् कमल हैं छत्तीस अर्कों से भरे ।
निज ध्यान चिंतन से शरण में आपकी तू आ अरे ।।

भावार्थ – आत्मा के षट् कमलाश्रित भाव ही छत्तीस अर्कों को उत्पन्न करने वाला है अर्थात् द्रव्य स्वभाव के आश्रय से ही सूर्य के समान तेजस्वी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। गुप्त कमल, नाभि कमल, हृदय कमल, कंठ कमल, मुख कमल, विंद कमल यह छह कमल हैं, जो ३६ अर्क (सूर्यों) के उदय में कारण हैं।

प्रश्न – छत्तीस अर्क कौन-कौन से हैं, उन्हें स्वरूप सहित स्पष्ट कीजिये।

उत्तर – छत्तीस अर्क के नाम और स्वरूप इस प्रकार है।

०१. कमल सी अर्क – शुद्धात्म कमल की शोभा को देने वाला कमलावती शक्ति को प्रगट करने वाला कमल श्री अर्क है।

०२. चरन सी अर्क – स्वरूपाचरण के प्रकाश से आत्मा को प्रकाशित करने वाला चरनश्री अर्क अपनी श्री संयुक्त है।

०३. करन सी अर्क – आत्मा के परम पुरुषार्थ को सूचित करने वाला करण कारक स्वरूप, करनावती शक्ति का उपादान कारण घटकारकों को अपने स्वरूप से संयुक्त करने वाला करन सी अर्क है।

०४. सुवन सी अर्क – आत्म स्वरूप को उत्पन्न करने वाला आत्मा ही है। इसका जनक अन्य कोई नहीं है। अतएव अपना सुवन स्वयं आप है ऐसा शाश्वत अनुभव का कारण सुवन सी अर्क है।

०५. हंस सी अर्क – पर द्रव्यों से अपने स्वरूप को भिन्न करने वाला स्वानुभव सम्पन्न हंस सी अर्क है।

०६. अवयास सी अर्क – एक स्वरूप में अनंत गुणों को अवकाश दान का दाता अवयास सी अर्क है।

०७. दिप्ति सी अर्क – अपने ज्ञायक भाव को त्रिकाल प्रकाशित करने वाला दिप्ति सी अर्क है।

०८. सुदिप्ति सी अर्क – अपने दैदीप्यमान स्वरूप की शोभा में मग्न और अभेद अनुभूति का प्रकाशक सुदिप्ति सी अर्क है।

०९. अभय सी अर्क – परिपूर्ण सुरक्षित स्वरूप का अनुभव करने वाला अभय सी अर्क है।

१०. सुर्क सी अर्क – अपने प्रकाश को अपने में अपने द्वारा प्रकाशित करने वाला सुर्क सी अर्क है।

११. अर्थ सी अर्क – अपनी निधि अपने अर्क को अपने में प्राप्त कराने वाला अर्थ सी अर्क है।

१२. विंद सी अर्क – निर्विकल्प समाधि से शोभायमान आत्मा का भान विंद सी अर्क है।

१३. नंद सी अर्क – स्वयं नंद स्वरूप आत्मा की अभेद अनुभूति का प्रकाशमय आनंद नंद सी अर्क है।

१४. आनंद सी अर्क – अपने आत्म स्वरूप के आनंद की श्री को प्रकाशित करने वाला आनंद सी अर्क है।

१५. समय सी अर्क – सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि से शोभायमान स्व समय की विकल्प रहित स्वानुभूति समय सी अर्क है।

१६. हिय रमन सी अर्क – अपने हृदय में आत्मिक आनंद में रमण करना हियरमन सी अर्क है।

१७. अलष सी अर्क – चर्म चक्षु से अगोचर स्वरूप को ज्ञानदृष्टि से लखाने वाला अलष सी अर्क है।

१८. अगम सी अर्क – जड़ और पर पदार्थों की गम्य से परे केवल आपको आप ही प्राप्त करे इस सामर्थ्य से युक्त अगम सी अर्क है।

१९. सहयार सी अर्क – सहृदयता, अपने रस का रसिक अपना सहारा आपको देने वाला सहयार सी अर्क है।

२०. रमन सी अर्क – रमणीय स्व पद में रमण कराने वाला रमन सी अर्क है।

२१. सुइरंज सी अर्क – अतीन्द्रिय स्वभाव में रंजायमान करने वाला अपने ज्ञायक भाव को अपने आपमें रिझाने वाला सुइरंज सी अर्क है।

२२. सुइ उवन सी अर्क – अपना उदय कराने वाला, पर पदार्थों के अज्ञान अंधकार से निकालने वाला सुइ उवन सी अर्क है।

२३. षिपन सी अर्क – अपने क्षपणक स्वभाव की सामर्थ्य को प्रगट करने वाला षिपन सी अर्क है।

२४. ममल सी अर्क – अपने ममल स्वभाव का दर्शन जिस प्रकाश में हो वह ममल सी अर्क है।

२५. विक्त सी अर्क – अपने शुद्ध स्वभाव को व्यक्त करने वाला विक्त सी अर्क है।

२६. सुइसमय सी अर्क – प्रकाश स्वरूप स्व समय शुद्धात्मा की अनुभूति सुइ समय सी अर्क है।

२७. सुनंद सी अर्क – सहज स्वभाव में ही सहजानंद है, उसकी सहज अनुभूति को प्रकाशित करने वाला सुनंद सी अर्क है।

२८. हिययार सी अर्क – अज्ञान के अंधकार से बचाने वाला, प्रकाश के हितकारी मार्ग को प्रशस्त करने वाला हिययार सी अर्क है।

२९. जान सी अर्क – अनन्त ज्ञान स्वरूप का अनुभव करना जान सी अर्क है।

३०. जैन सी अर्क - (जिन सी अर्क) जिन पद से सुशोभित शुद्धात्म स्वरूप जिन स्वभाव का प्रकाश होना जैन सी अथवा जिन सी अर्क है।

३१. लषन सी अर्क - अपने साधारण और असाधारण लक्षण की अनुभूतियों से शोभायमान आत्मा लषन सी अर्क है।

३२. लीन सी अर्क - अपने भावों को पर द्रव्यों से हटाकर अपने आपमें स्थिर करने की सामर्थ्य सहित लीन सी अर्क है।

३३. भद्र सी अर्क - भद्रता, भव्यता, मोक्ष प्राप्ति की योग्यता से युक्त स्वानुभूति का प्रकाश भद्र सी अर्क है।

३४. मै उवन सी अर्क - अपने उदय के प्रकाश से शोभायमान अनुभूति संयुक्त निर्विकल्प समाधि मै उवन सी अर्क है।

३५. सहज सी अर्क - अपने परिपूर्ण सहज स्वभाव की स्वानुभूति से सुशोभित सहज सी अर्क है।

३६. पै उवन सी अर्क - परिपूर्ण परमात्म स्वरूप निज पद का उदय होना पै उवन सी अर्क है।

ये छत्तीस ध्यान सूर्य हैं, जिनके जगमग प्रकाश में ध्रुव स्वभाव प्रकाशित होता है।

अर्क ध्रुव समवसरन उत्पन्न ।।६।।

सूत्रार्थ - निज स्वभाव में छत्तीस अर्कों के ध्रुव होने से समवशरण उत्पन्न होता है।

पद्यानुवाद - ध्रुव अर्क का लगा ले समवशरण सुहावना ।
तू है स्वयं भगवान तेरी सुन स्वयं तू भावना ।।

भावार्थ - ध्रुव स्वभाव ही आत्मा का स्वरूप है। ध्रुव आत्म सूर्य का प्रकाश पूर्ण रूप से जब अनंत चतुष्टय के स्वरूप में उसी द्रव्य की पर्याय में प्रगट होता है तब निश्चय में अपने स्वभाव में तथा व्यवहार में बाहर समवशरण उत्पन्न होता है। ध्रुव दृष्टि के उत्पन्न होते ही अपना समवशरण पहले अपने भीतर लग जाता है, अपना वैभव अपनी दृष्टि में आ जाता है।

प्रश्न - छत्तीस अर्कों का उदयरूप समवशरण साधक की किस स्थिति में दृष्टव्य है।

उत्तर - आत्मा जब आत्मा में कमल स्वभाव को प्रकाशित करता है, अपने भाव में पर भाव भिन्नत्व को अनुभव करता है अथवा जब आत्म स्वभाव कमल पुष्पवत् विकास को प्राप्त होता है, उस समय निज निर्विकल्प अर्कविंद ध्यान सूर्य अपने स्वभाव में उदित होता है। उस समय अनंत ज्ञानादि गुणगण विभूषित चैतन्य स्वरूप अपने स्वरूपामृत के रस में रमण करता है और आत्मा में शुद्धोपयोग स्वभाव के आश्रय से ३६ अर्कों का उदय होता है। ध्रव दृष्टिरूप सूर्य का प्रकाश पूर्णरूप से जब अनंत चतुष्टय स्वरूप में उसी द्रव्य की पर्याय में प्रगट होता है तब निश्चय में अपने स्वभाव में तथा व्यवहार में बाहर समवशरण उत्पन्न होता है।

उवन दिप्ति दिस्टि प्रवेसी ।।७।।

सूत्रार्थ - अपने उवन (आत्मा) की दैदीप्यमान दिव्य ज्योति के स्वरूप में अपनी सम्यक् स्वरूप दृष्टि ही प्रवेश को प्राप्त करती है।

पद्यानुवाद - तेरा उवन तुझमें विराजे जगमगाती ज्योति से ।
तू कर प्रवेश वहाँ तुझे वह मिलेगा निज स्रोत से ।।

भावार्थ – उदय होते हुए आत्मा के दिव्य ज्योति स्वरूप को देखने में समर्थ एकमात्र अपनी सम्यक् दृष्टि ही है और वही दृष्टि उस स्वरूप में प्रवेश पाती है।

प्रश्न – उवन किसे कहते हैं, उसको देखने वाली दृष्टि कौन सी है, वह स्वभाव में प्रवेश कैसे करती है ?

उत्तर – उवन अपना उदय होता हुआ आत्म स्वरूप है। सूर्य जब उदय होता है तब वह अंधकार को तो पहले ही क्षण में नष्ट करता है ठीक इसी प्रकार जब आत्मा में सम्यक्त्व का उदय होता है तब अनादि से अभी तक का मिथ्यात्व और अज्ञान का अंधकार प्रथम क्षण में ही विलय हो जाता है आत्म स्वरूप को जिस दृष्टि से आत्मा देखता है वह दिव्य दृष्टि है, सम्यक्दृष्टि है, वही दृष्टि आत्मा में उदय होते हुए उवन स्वरूप में प्रवेश करती है।

सुयं सब्द उत्पन्न प्रियो ।।८।।

सूत्रार्थ – दिव्य दृष्टि के उत्पन्न होने पर बिना इच्छा के स्वयं हितमित प्रिय शब्द उत्पन्न होते हैं।

पद्यानुवाद – अंतर्ध्वनि के शब्द प्रिय उत्पन्न होंगे आपमें ।
छद्मस्थवाणी दिव्यवाणी को सुनेंगे आपमें ।।

भावार्थ – शुद्ध स्वभाव में अथवा अपने आत्मा में प्रिय शब्द या वाणी स्वयं उत्पन्न होती है। बाह्यरूप में समवशरण सभा में बिना इच्छा के निरक्षर भाषा–दिव्य ध्वनि स्वयं उत्पन्न होती है। दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक होती है। ॐ ध्वनिरूप होती है। अठारह महाभाषा और सात लघु भाषारूप होती है, जिसे सभी जीव अपनी भाषारूप समझ सकते हैं।

प्रश्न – स्वयं शब्द उत्पन्न प्रियो सूत्र का आशय क्या है ?

उत्तर – छटवें सूत्र में जो समवशरण अपने शुद्ध स्वरूप में लगाया था अब उसमें दिव्यध्वनि भी खिरना चाहिये सो इस सूत्र में 'स्वयं शब्द' पद से बिना इच्छा के तथा 'उत्पन्न प्रियो' इस पद से अपने भीतर अंतर्ध्वनि के रूप में उत्पन्न शब्द प्रिय आत्मा सुनता है, यह इस सूत्र का आशय है।

सुवन साहि उत्पन्न हिय हुव औकास ।। ९।।

सूत्रार्थ – हृदय में सम्यक्त्व स्वभाव के उत्पन्न होने पर अवकाश दान की सामर्थ्य उत्पन्न होती है।

पद्यानुवाद – देगा हृदय अवकाश अपने सुवन शुद्ध स्वभाव को ।
आप जब तत्पर रहेंगे देखने निज भाव को ।।

भावार्थ – जिस प्रकार आकाश द्रव्य में अन्य समस्त द्रव्यों को अवगाहन देने की सामर्थ्य है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर आत्मा में ज्ञानादि समस्त गुणों को अवकाश दान अर्थात् ज्ञानादि अनंत गुणों को अवगाहन देने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञानादि भी सम्यक्त्व रूप हो जाते हैं।

प्रश्न – हिय हुव औकास का क्या अर्थ है ?

उत्तर – हिय हुव औकास का अर्थ हृदय में अवकाश होता है जो अपनी अंतरात्मा की ध्वनि को सुनता है, उसी का विचार करता है, वह आत्मा को निर्मल निर्विकार बनाता है फिर तो विकास की ओर जाता हुआ वह आत्मा अपने समस्त गुणों को धारण करने की सामर्थ्य प्राप्त करता है। सुवन स्वभाव के उत्पन्न होने पर हृदय में अवकाश दान शक्ति होती है।

सह समय मुक्ति रमन गमन सिद्ध सिद्धं ।। १० ।।

सूत्रार्थ - स्व समय के साथ रहना, स्व समय सहित होना मुक्ति रमण स्वभाव है। अपने स्वरूप में गमन करना मुक्ति गमन है। सिद्धि है, सिद्धावस्था है।

पद्यानुवाद - होगा समय के साथ मुक्ति विलास रमण स्वरूप में ।
इस मार्ग से ही सिद्धि होगी सिद्ध है निज रूप में ।।

भावार्थ - सह समय अर्थात् आत्म स्वभाव के सानिध्य में सिद्धावस्था प्राप्त करने का लक्ष्य सिद्ध हो जाता है। जो जीव आत्म स्वभाव के समीप रहता है, सम्यक्त्व धारी होता है वह अपने लक्ष्य (मुक्ति) को शीघ्र प्राप्त कर लेता है। सम्यग्दृष्टि जीव का लक्ष्य तो सिद्धावस्था की प्राप्ति है। स्वानुभूति (मुक्ति रमणता) से इसकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न - मुक्ति रमण, मुक्ति गमन और सिद्धावस्था में क्या अंतर है ?

उत्तर - स्व समय की अनुभूति मुक्ति रमण है। स्व समय की ओर जाना मुक्ति गमन है। स्व समय की पूर्णता सिद्धावस्था है, साक्षात् द्रव्य मोक्ष है।

जिन सवीर्ज उत्पन्न अन्मोद वीर्ज ।। ११ ।।

सूत्रार्थ - आत्मा के अनंत वीर्य गुण का अनुमोदन और स्वानुभव ही अपने अनंत वीर्य स्वभाव को प्रगट करता है।

पद्यानुवाद - आत्मा में वीर्य गुण का अंत होता ही नहीं ।
कर स्वानुभव तू देख ले वह प्राप्त होगा या नहीं ।।

भावार्थ - अपने स्वभाव में अनंत वीर्य गुण का सद्भाव है। अपने अनंत गुणों की अनंतता की प्रतीति के साथ अनंतवीर्य स्वभाव की अनुमोदना और अनुभूति अनंत बल - वीर्य स्वभाव को प्रदान करने वाली है।

प्रश्न - स्व वीर्य कब उत्पन्न होता है ?

उत्तर - अनंतवीर्य की अनुमोदना करने पर वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा के ज्ञायक भाव में अपने अनंतवीर्य का अनुभव होता है उसी समय स्व वीर्य उत्पन्न होता है अर्थात् अनंत वीर्य गुण प्रगट होता है।

समय दिस्टि दिप्ति सब्द आकिर्न ।। १२ ।।

सूत्रार्थ - स्व समय का दृष्टा ही दिव्य वाणी के शब्दों को श्रवण करता है।

पद्यानुवाद - जिनकी समयमय दृष्टि हो वे दिव्य वाणी को सुनें ।
जिनको मिली अपनी निधि वे क्यों पराई को धुनें ।।

भावार्थ - जिन भव्यों ने अपना समय अपने अंतरात्मा में देखा है, उन्होंने ही दिव्य वाणी के शब्द तीर्थंकर देवों की दिव्य ध्वनि के संदेश या अपनी अंतर्ध्वनि को अपनी भावेन्द्रिय द्वारा सुना है।

प्रश्न - अंतर्ध्वनि को श्रवण करने में कौन समर्थ है ?

उत्तर - जो अरिहंत देव की दिव्य ध्वनि को या उनकी द्वादशांग वाणी के शब्दों को अपनी भावेन्द्रियों से सुनता है और अपने ज्ञान में स्व समय को देखने-जानने वाला ही दिव्य ज्योति स्वरूप के दिव्य शब्दों को अंतर्ध्वनि को श्रवण करने में समर्थ है।

हिय हुव औकास सर्वांग ।। १३ ।।

सूत्रार्थ - हृदय में जो शुद्धता अर्थात् सम्यक्त्व की अनुभूति हुई है वह सर्वांग में व्याप्त होती है।

पद्यानुवाद - हिय में हुआ अवकाश याकि विकास सर्वांगीण हो ।
होगी सफल यह साधना मन में न तू अब दीन हो ।।

भावार्थ - आत्म प्रदेशों में जो शुद्ध भावों की अनुभूति हुई अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई उसकी व्याप्ति सर्वांग में होती है।

प्रश्न - हिय - हुव औकास सर्वांग इस सूत्र का आशय क्या है ?

उत्तर - हृदय में आया जो शुद्ध भाव वह सर्वांग आत्म प्रदेशों में व्याप्त हो।

अर्क उत्पन्न वीर्ज अन्मोद सह समय सिद्ध सिद्धं धुवं ।। १४ ।।

सूत्रार्थ - अर्क उत्पन्न हो, वीर्यानुभूति संयुक्त हो, समय की सिद्धि सम्पन्न हो, तब ध्रुव स्वभाव की सिद्धि प्राप्त होती है।

पद्यानुवाद - ध्रुव सिद्धि अपने समय की उनको मिलेगी नियम से ।
निज अर्क रवि किरणें जहाँ अनुभूति में हों नियम से ।।

भावार्थ - सह समय सिद्ध सिद्धं ध्रुव स्वभाव से जाग्रत शुद्धात्म सूर्य अपने अनंत स्वभाव की ज्योति के अनंत प्रकाश में अपनी सिद्धि अपना शुद्ध स्वभाव तथा अपना ध्रुव पद देखता है।

प्रश्न - ध्रुव सिद्ध स्वभाव की प्राप्ति कब होती है ?

उत्तर - चिंदानंद चैतन्य सूर्य के प्रकाश में ही स्व वीर्यानुभूति और सह समय की सिद्धि सहित ध्रुव सिद्ध स्वभाव की प्राप्ति होती है।

उनईस सै तेतीस (१९३३) वर्ष दिन रयन सै तीनि उत्पन्न ।। १५ ।।

सहजादि मुक्ति भेष उत्पन्न ।। १६ ।।

सूत्रार्थ - उनईस सौ तेतीस वर्ष और दिन रात्रि तीन सौ व्यतीत होने पर सहज साधना का मार्ग उत्पन्न हुआ।

मिथ्या विलि वर्ष ग्यारह (११) ।। १७ ।।

सूत्रार्थ - मिथ्यात्व विलय वर्ष ग्यारह।

विशेषार्थ - श्री गुरुदेव तारण तरण महाराज के मिथ्यात्व नष्ट करने की साधना में ग्यारह वर्ष व्यतीत हुए।

पद्यानुवाद - मिथ्यात्व विलय विचार से सम्पन्न ग्यारह वर्ष में ।
बाल वय से ही लगे गुरुदेव निज उत्कर्ष में ।।

समय मिथ्या विलि वर्ष दस (१०) ।। १८ ।।

सूत्रार्थ - सम्यक् मिथ्यात्व विलय वर्ष दस।

भावार्थ - सम्यक् मिथ्यात्व को नाश करने में दस वर्ष लगे।

पद्यानुवाद - मिश्र मिथ्या प्रकृति को दस वर्ष झकझोरा तथा ।
गुणथान तीजे का मनन करते रहे आगम कथा ।।

प्रकृति मिथ्या विलि वर्ष नौ (९) ।। १९।।

सूत्रार्थ - सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व विलय वर्ष नव।

पद्यानुवाद - सम्यक् प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व वेदक हो गया ।
नव वर्ष की यह साधना मिथ्यात्व पूरा खो गया ।।

भावार्थ - सम्यक् प्रकृति के विलय में नौ वर्ष लगे।

माया विलि वर्ष सात (७) ।। २०।।

सूत्रार्थ - माया शल्य विलय वर्ष सात।

भावार्थ - माया शल्य सात वर्ष में विलीन हुई।

मिथ्या विलि वर्ष सात (७)।। २१।।

सूत्रार्थ - मिथ्या विलय वर्ष सात।

भावार्थ - मिथ्या शल्य भी सात वर्ष में विलीन हुई।

निदान विलि वर्ष सात (७)।। २२।।

सूत्रार्थ - निदान शल्य विलय वर्ष सात।

भावार्थ - निदान शल्य भी सात वर्ष में विलय को प्राप्त हुई।

पद्यानुवाद - माया विलय, मिथ्या विलय अरु शल्य विलय निदान भी ।
इनके विलय में वर्ष सब इक्कीस का भुगतान भी ।।

अन्या उत्पन्न वर्ष डेढ़ (१।।), वेदक वर्ष दोइ (२), उवसम वर्ष अढ़ाई (२।।), ष्यायिक वर्ष तीन (३), एवं उत्पन्न वर्ष नौ (९)।। २३।।

सूत्रार्थ - आज्ञा सम्यक्त्व उत्पत्ति वर्ष डेढ़। वेदक सम्यक्त्व प्राप्ति वर्ष दो। उपशम सम्यक्त्व वर्ष अढ़ाई। क्षायिक सम्यक्त्व वर्ष तीन। सर्व सम्यक्त्व साधना वर्ष नौ। एवं सर्व साधना वर्ष साठ।

भावार्थ - आज्ञा सम्यक्त्व डेढ़ वर्ष में उत्पन्न हुआ। वेदक सम्यक्त्व की उत्पत्ति दो वर्ष में हुई। उपशम सम्यक्त्व अढ़ाई वर्ष में उत्पन्न हुआ। तथा क्षायिक सम्यक्त्व जो सर्व सम्यक्त्व समूह में शिरोमणी है उसकी साधना में तीन वर्ष का समय व्यतीत हुआ। एवं सर्व सम्यक्त्व साधन वर्ष नौ। सर्व साधना समय साठ वर्ष व्यतीत हुआ।

प्रश्न - आचार्य श्री तारण स्वामी जी को सम्यक्त्व साधना में कुल समय कितना लगा ?

उत्तर - सम्यक्त्व साधना में कुल नौ वर्ष का समय लगा।

उत्पन्न भेष उवसग्ग सहनं वर्ष छह, मास पाँच, दिन पंच दस, संवत् पन्द्रह सौ बहत्तर (१५७२) गततिलकं सत सहजादि कल छूटो ।। २४।।

सूत्रार्थ - मुनि भेष में उपसर्गों को सहन किया। मुनि भेष छह वर्ष, पाँच माह, पन्द्रह दिन। संवत् १५७२ ज्येष्ठ वदी छठ की रात्रि शुक्रवार को तारण तरण शरीर का गत तिलक होगा। सत् स्वरूप सहज शुद्ध स्वभाव संयुक्त आत्मा ने शरीर छोड़ा।

भावार्थ - सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद मुनि वेष धारण करने पर गुरुवर तारण स्वामी पर अनेक उपसर्ग

हुए किन्तु वे तो अपने आत्मीक आनंद में लीन थे। उपसर्ग की बाधाएँ स्वत: दूर हो गईं। छह वर्ष, पाँच माह, पंद्रह दिन इसी साधनावस्था में व्यतीत कर संवत् १५७२ में देह वियोग हुआ। यह भी कहा है कि संवत् १५५४ को १८ वर्ष पूर्व श्री तारण तरण स्वामी जी ने यह घोषणा कर दी थी कि ज्येष्ठ वदी छठ की रात्रि शुक्रवार को देह परिवर्तन होगा। समाधि अवस्था में सहज परिणामों में देह त्याग किया।

पद्यानुवाद - नदी बेतवा में विजय कर उपसर्ग के तूफान को ।
प्याला पिया विष का उठा स्वीकृत किया उस दान को ।।
पंद्रह शतक अरु बहत्तर की जेठ वदी छठ रात में ।
गत तिलक होगा हमारा बात कह दी बात में ।।
जैसी भविष्यत काल की वाणी सुनी संसार ने ।
ठीक उस ही समय तन त्यागा मुनीश्वर तार ने।।

प्रश्न - आचार्य तारण स्वामी जी महाराज की समाधि एवं साधना के बारे में बतलायें ?

उत्तर - आचार्य श्री तारण स्वामी जी महाराज ने अपनी ६६ वर्ष, ५ माह, १५ दिन की आयु में आत्म साधना के शिखरों को स्पर्श किया। इस बीच उन्होंने अनेकों उपसर्गों को सहन किया। उन्हें अवधिज्ञान का अंकुर प्रकट हुआ था। शिष्यों के पूछने पर उन्होंने विक्रम संवत् १५७२ में अपनी समाधि के बारे में बतला दिया था तदनुसार अपने स्वरूप का स्मरण ध्यान करते हुए देह का त्याग किया।

तदि सर्वार्थसिद्धि उत्पन्न ।। २५।।

सूत्रार्थ - उस समय उनके स्वरूप में सर्वार्थसिद्धि उत्पन्न हुई।

पद्यानुवाद - निज अर्थ की सब सिद्धियाँ उत्पन्न निज में हो गईं ।
सर्वार्थसिद्धिमय हुए सर्वार्थसिद्धि हो गई ।।

भावार्थ - समाधि की अवस्था में अत्यंत शुभ परिणाम पूर्वक देह परिवर्तन कर सर्व अर्थ प्राप्त किये। सम्यक्त्व की प्राप्ति का परम लक्ष्य प्राप्त किया जो मनुष्य पर्याय में सर्वार्थसिद्धि है।

प्रश्न - सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हुए इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर - सत् सहज स्वभाव की रमणता सिद्धि ही सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होना है।

कलन सह समय सिद्धि सिद्धं सुयं ।। २६।।

सूत्रार्थ - स्वयं सिद्ध शुद्धात्मा के समय की सिद्धि अपने कलन स्वानुभव के साथ ही वर्तमान है।

पद्यानुवाद - सिद्ध स्वयं की सिद्धि वह तो समय के ही साथ है ।
कर स्वानुभव तू देख ले यह कलन तेरे साथ है ।।

भावार्थ - स्वयं सिद्ध स्वरूप के स्वानुभव ध्यान के साथ वर्तमान परिणति ही समय की सिद्धि है।

प्रश्न - समय की सिद्धि क्या है ?

उत्तर - द्रव्य स्वभाव स्वयं सिद्ध है, जो परिणति द्रव्य स्वभाव के साथ है वही समय की सिद्धि है।

उत्पन्न सुभाव अनदिठि अनश्रुत अनहोतो सब्द उत्पन्न धुव ।। २७।।

सूत्रार्थ - उत्पन्न स्वभाव अदृष्ट है, अश्रुत है, अनहोता है। शब्द ब्रह्म उस ध्रुव स्वरूप में ही भाव रूप से उत्पन्न है।

पद्यानुवाद - अदृष्ट अश्रुत अपूर्व अनहोनी निजातम की कथा ।
ध्रुव शब्द हैं ये आज सुन! होगी पृथक् तेरी व्यथा ।।

भावार्थ - पहिले कभी जिसको देखा नहीं, सुना नहीं और आज जिसका स्वरूप सुनकर अनहोना जैसा मालूम होता है। ऐसी वस्तु अपना उत्पन्न स्वभाव ही है। इस वस्तु की स्वीकारता का सूचक 'हाँ' एक बार निकले ही ध्रुव शब्द उत्पन्न की अंतर्ध्वनि सुनने को मिले। यहाँ उत्पन्न शब्द का अर्थ भाव भासन लेना चाहिये। ऐसे अदृष्टपूर्व, अश्रुतपूर्व निज स्वरूप की प्रतीति प्राप्त हो तो देखता हुआ भी अदृष्टा, सुनता हुआ भी अश्रोता और करता हुआ भी अकर्ता है। यही इस सूत्र में बड़ा ही गम्भीर भाव भरा हुआ है।

प्रश्न - सम्यक्दृष्टि अंतरात्मा की दृष्टि कैसी होती है ?

उत्तर - अंतरंग स्वरूप के उत्पन्न होने पर सम्यक्दृष्टि अंतरात्मा सांसारिक भावों को देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते और करते हुए भी नहीं करते। इसका आशय यह है कि करते हुए भी अकर्ता है, अनिर्वचनीय है।

उक्त साह उत्पन्न अषिर सुर विंजन सर्वार्थसिद्धि सिद्धं ।। २८ ।।

सूत्रार्थ - मेरा चिदानंद चैतन्य शाह शुद्ध स्वभाव उत्पन्न है, प्रगट है। उसके अक्षय अक्षर, स्वर, व्यंजन भी उसी में उत्पन्न हैं। सर्वार्थसिद्धि और उसका सिद्ध पद उसी में है।

पद्यानुवाद - यह वचन जिनवर शाह के सुनकर बनेगा शाह तू ।
सर्वार्थ हो सिद्धि स्वयं यदि सिद्ध पद को चाह तू ।।

भावार्थ - लोक व्यवहार में भी शाह साहूकार को कहते हैं। शाह अपने वैभव में सुखी रहता है, पर द्रव्यों से सुख की याचना नहीं करता। अटूट सम्पत्ति का स्वामी जिन शाह मेरा मेरे में उत्पन्न है, उसके अक्षय स्वरूप की अंतर्ध्वनि, उसके अक्षर, स्वर, व्यंजन आदि सब उसके साथ ही उत्पन्न हैं।

प्रश्न - शाह पद क्या है ?

उत्तर - मेरा चिदानंद चैतन्य स्वभाव शाह पद है, उसके अक्षय अक्षर, स्वर, व्यंजन, सर्वार्थसिद्धि और सिद्ध पद आदि समस्त निधियाँ उसी में हैं।

उत्पन्न सब्द हितमित परिनत ।। २९ ।।

सूत्रार्थ - उत्पन्न शब्द हितमित परिणत होते हैं।

पद्यानुवाद - स्याद्वाद वाणी निज हितंकर शब्द हितमित परिणमित ।
कर प्रगट अपने आपमें निज ज्योति को तू नित्य नित ।।

भावार्थ - आत्मा के सभी गुण अपनी शुद्ध पर्यायों रूप जब परिणमित होते हैं, तब अर्हंत केवली की दिव्यध्वनि खिरती है जो गम्भीर तथा हितमित प्रिय वचनरूप होती है। आत्मा में शाह पद उत्पन्न होने पर स्वर, व्यंजन आदि भाषा वर्गणा भी शुद्ध हितमित प्रिय वचनरूप परिणत हो जाती है।

प्रश्न - अपने स्वरूप में अक्षर, स्वर, व्यंजन उत्पन्न हुए इसका क्या अभिप्राय है।

उत्तर - उस उत्पन्न शुद्ध स्वरूप के अंतर्ध्वनि के वे शब्द अपने आप हितमित रूप से परिणमित होते हैं यही अंतर्नाद है। इस जाति की भाषा वर्गणायें ही एकत्र होकर दिव्यध्वनि बनकर भव्यों के भय और भव

का विनास करने, भव पार करने में निमित्त बनती हैं।

कोमल ललित हेव अवगाहन अगुरुलघु बाधा विलि मुक्ति सुभाव ।। ३० ।।

सूत्रार्थ – सांसारिक कोमल और ललित प्रिय मिथ्या वाणी भी हेय है। अगुरुलघु, अव्याबाध आदि अनंत गुण युक्त सिद्ध स्वभाव का अवगाहन ही मुक्ति है।

पद्यानुवाद – कोमल ललित प्रिय है तुझे अवगाहना इस देह की ।
यह हेय है, अवगाहनीय सुधा समझ निज गेह की ।।

भावार्थ – लौकिकजनों की कोमल ललित वाणी भी अवधारण करने योग्य नहीं है, हेय है। चार घातिया कर्मों के अभाव से जिनेन्द्र परमात्मा की दिव्यध्वनि जो अव्याबाधत्व, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व और अवगाहनत्व, गुण सम्पन्न है, वही अवधारण करने योग्य है। वही सुखदायिनी भी है।

प्रश्न – हेय और उपादेय वचन कौन से हैं ?

उत्तर – संसार को बढ़ाने वाले कोमल और ललित अर्थात् लुभाने वाले वचन हेय हैं। अगुरुलघु, अव्याबाध आदि अनंत गुण युक्त सिद्ध स्वभाव में अवगाहन हो ऐसे वचन उपादेय हैं।

उत्पन्न उत्पन्न उत्पन्न नो उत्पन्न रमन न्यान ।। ३१ ।।

सूत्रार्थ – सूक्ष्म ज्ञान रमण स्वभाव उत्पन्न हुआ, उत्पन्न हुआ, उत्पन्न हुआ।

पद्यानुवाद – मुक्ति स्वभाव जहाँ प्रगट हो, सूक्ष्मता हो ज्ञान की ।
निज रमण के भाव की उत्पत्ति होगी ध्यान की ।।

भावार्थ – स्वभाव से उत्पन्न होने वाला, अनादि से गुप्त रहा, यह मुक्त स्वभाव उत्पन्न हुआ है। और ज्ञान रमण लक्षण स्वभाव यह निर्ग्रंथ रूप भी उत्पन्न हुआ है।

प्रश्न – श्री गुरुदेव की साधना का क्रम क्या है ?

उत्तर – गुरुवर श्री तारण स्वामी जी ने निश्चय साधना की दृढ़ता का अनुभव किया। उन्होंने अंतर ध्वनि को व्यक्त किया, मुक्ति स्वभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ, सम्यग्ज्ञान में रमणता हुई और तीन कषाय चौकड़ी के अभाव पूर्वक निर्गन्थ चारित्र दशा उत्पन्न हुई।

इति कार्ज सिद्धि तिलकं संवत् १५७२ स्वामी तारन तरन सर्वार्थसिद्धि उत्पन्न ।। ३२ ।।

सूत्रार्थ – इस प्रकार कार्य सिद्धि तिलक सम्पन्न हुआ। संवत् १५७२ में स्वामी तारण तरण सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होंगे।

पद्यानुवाद – उत्पन्न हो तारण तरण सर्वार्थसिद्धिविमान में ।
पंद्रह सौ बहत्तर में बनेगी बात वन सुनसान में ।।

भावार्थ – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति रूप कार्य की सिद्धि हुई। यही कार्य सिद्धि, तिलक और पूर्णता है। अर्थात् शुद्ध स्वभाव की प्राप्तिरूप सर्व अर्थ की सिद्धि हुई।

प्रश्न – स्वामी तारण तरण सर्वार्थसिद्धि उत्पन्न का आध्यात्मिक आशय क्या है ?

उत्तर – तारण का अर्थ है द्रव्य स्वभाव और तरण का आशय है पर्याय। जो पर्याय अपने स्वामी द्रव्य स्वभाव के आश्रय होती है उस पर्याय को ही सर्वार्थसिद्धि उत्पन्न होती है।

इति तिलक बहत्तर को ।। ३३।।

सूत्रार्थ – इस प्रकार आचार्य श्रीमद् जिन तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज का तिलक अर्थात् समाधि समय संवत् १५७२ का है।

पद्यानुवाद – है कार्य की सिद्धि यही होगा महोत्सव तिलक का ।
निज कार्य क्या है, भव्य! तू लेखा लगा ले सिलक का ।।

भावार्थ – यह आत्मा सिद्ध ध्रुव पद को सुख पूर्वक प्राप्त करेगा, इस प्रकार यह सूत्र तिलक बहत्तर का सूचित करता है।

प्रश्न – संवत् १५७२ में किसका तिलक सम्पन्न हुआ ?

उत्तर – तिलक अर्थात् वर्तमान देह की विदाई। विक्रम संवत् १५७२ में हमारा तिलक होगा, ऐसी घोषणा श्री गुरु तारण तरण स्वामी जी ने संवत् १५५४ में कर दी थी।

समय को मुक्ति प्रसाद ।। ३४।।

सूत्रार्थ – समय का मुक्ति प्रसाद है।

भावार्थ – समय मुक्ति प्रसाद देगा, देता है, अपना समय, अपने समय को, अपने समय के द्वारा, अपने समय के लिये, अपने समय से, अपने समय का, अपने समय में। हे समय! अपने समय का प्रसाद वितरण करो। यहाँ समय अर्थात् आत्मा है। आत्मा का अनुभव आत्मा के आश्रय से ही कर सकता है।

पद्यानुवाद – आत्मा की मुक्ति का यह दान है परसाद है ।
जो पसारे हाथ वह पाता यही परसाद है।।

प्रश्न – मुक्ति का परसाद किसको मिला ?

उत्तर – जो परिणति द्रव्य स्वभाव सन्मुख हुई उस परिणति को मुक्ति का परसाद मिला। जिसने अपने लिये समय दिया मुक्ति का प्रसाद उसे मिला।

सुष्येन सुष्येन सिद्धं ध्रुवं ।। ३५।।

सूत्रार्थ – सुख से सिद्ध ध्रुव पद को यह आत्मा प्राप्त होगा।

पद्यानुवाद – सुख से बनो ध्रुव सिद्ध सुख से तिलक होगा आपका ।
संवत् बहत्तर में सफल होगा वचन यह आपका ।।

भावार्थ – अपने परिपूर्ण शुद्ध ध्रुव पद की कितनी निर्मल अनुभूति है। भविष्य में प्राप्त होने वाली परिपूर्ण शुद्ध पर्याय अनुभव में तो वर्तमान में ही उपस्थित है। यही साक्षात्कार है।

प्रश्न – श्री गुरु तारण स्वामी जी महाराज ने इस सूत्र में क्या भावना भाई है।

उत्तर – इस सूत्र में आचार्य देव ने भावना भाई है कि सुख स्वरूपी सिद्ध ध्रुव स्वभाव मेरी अनुभूति में सदा रहे कभी उसका वियोग न हो।

उवं उवन उवन उव उवन उवनं सोई लोय नंत प्रवेसं ।। ३६।।

सूत्रार्थ – शुद्धात्मा का उदय हो रहा है, उदय हो रहा है। अपने आत्मा में उस उदय का, उस अनंत का प्रकाश प्रवेश हो रहा है।

पद्यानुवाद - अपने उवन से उवन बन ले ली समाधी उवन में ।
सुई समय मुक्ति विलास तारण तरण जिनवर उवन में ।।

भावार्थ - ऊँ ओंकार शुद्ध स्वभाव। उव - स्वभाव में। उवन उवन - उदय हो रहा है, उदय हो रहा है। सोई लोय - अवलोकन कर रहा हूँ। इस अनंत प्रवेश को स्व स्वभाव को मैं अपने शुद्ध चिद्रूप में देख रहा हूँ।

प्रश्न - आचार्य देव ने अपनी अनुभूति को कैसे बतलाया है ?

उत्तर - ओंकार को, उसके उदय को, अपने स्वरूप के उदय को, स्वयं शुद्धात्मा के उदय को, अपने अनंत चतुष्टय में प्रवेश करता हुआ, अपने आनंद स्वरूप में अनुभव कर रहा हूँ। हे भव्य जीवो ! तुम भी अपने अनंत चतुष्टय स्वभाव को देखो, प्रवेश करो, अनुभव करो, वहाँ अनंत सुख विलस रहा है।

उवन सरनि सोई विलयं ।। ३७।।

सूत्रार्थ - अपने आत्म स्वरूप की अनुभूति के उदय होने पर संसार का परिभ्रमण सहज ही विलय हो गया।

भावार्थ - अपने स्वरूप का उदय होने पर संसार में जन्म-मरण की परम्परा का विलय हो गया।

प्रश्न - संसार का परिभ्रमण कब छूटता है ?

उत्तर - स्वभाव की शरण ग्रहण करने पर संसार में जन्म-मरण का अभाव होता है।

उवनं सोई तार कमल समय मुक्ति विलसंतं ।। ३८।।

सूत्रार्थ - उवन स्वभाव में तार कमल तारण तरण अपनी मुक्ति का विलास करेंगे।

विशेषार्थ - अपने स्वरूप में उदय हुए चिदानंद चैतन्य में तार कमल - स्वामी तारण तरण देव अपनी मुक्ति में विलास करेंगे। अनंत काल तक उसी में रमण करेंगे।

प्रश्न - मुक्ति में विलास कब होता है ?

उत्तर - आत्मा के संसार परिवर्तनों का विलय होकर जब अपने स्वरूप का उदय और उसमें परिपूर्ण लीनता होती है तब मुक्ति में विलास होता है।

सारांश

श्री छद्मस्थवाणी का यह प्रथम अधिकार है। ब्र. श्री जयसागर जी ने इस ग्रन्थ की टीका करते हुए ४० सूत्रों की संस्कृत टीका, संस्कृत काव्य, सूत्रार्थ, टीका अर्थ, काव्य अर्थ, विशेषार्थ और पद्यानुवाद (हिन्दी) किया है। यह टीका कार्य आपने ईस्वी सन् १९६४-६५ में किया था, इन सूत्रों के रहस्य को खोलने का यह अप्रतिम कार्य आपके द्वारा सम्पन्न हुआ है। यहाँ संशोधित ३८ सूत्रों में ४० सूत्रों का समाहार किया गया है।

उपर्युक्त टीका में पद्यानुवाद-भावार्थ तथा सूत्र-सूत्रार्थ के अनुसार इस अध्याय की विषय वस्तु को संक्षिप्त में साधना क्रम कहा कहा जा सकता है।

मंगलाचरण में अरिहंत सिद्ध परमेष्ठी के स्मरण पूर्वक आत्म शुद्धता की जयवंतता का उद्घोष करते

हुए गुणस्थान के उदय को कमल (निर्विकल्प, निर्लिप्त) वत् विशुद्ध बताया है। जैसे ही तत्वार्थ श्रद्धान, स्व-पर भेदविज्ञान होता है वैसे ही स्वभाव के आश्रय से सूर्य कमल का उदय होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन रूपी सूर्य का तेजस्वी प्रकाश उत्पन्न होता है। कमलवत् कलियाँ खिलती हैं, सूर्य, अर्क, शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। आनंदातिरेक की अनुभूति और तेजस्वी शक्तियों के अतिशय से समवशरण की रचना का आभास होता है। यह आनंद सिंधु है, जिसमें षट्कमल के आश्रय से ३६ अर्क सहज ही उदित होते हैं। परमावगाढ़ सम्यक्त्व सहित तेरहवें गुणस्थान में समवशरण की रचना होती है। तीर्थंकर प्रकृति के पूर्व बंध परिणामरूप तीर्थंकर प्रकृति के उदय में आने से यह अतिशय होता है। दिव्यध्वनि खिरने लगती है। हितमित प्रिय, अनक्षरात्मक ॐकार ध्वनिरूप अर्ध मागधी, अठारह महाभाषा और सात लघु भाषारूप यह दिव्यध्वनि सर्व उपादेय होती है।

सम्यग्दर्शन के अपूर्व आनंदातिरेक में ज्ञानादि गुणों को अवगाहन देने की सामर्थ्य होती है। सम्यग्दृष्टि के सभी गुण सम्यक् हो जाते हैं। वह मुक्ति रमणता अर्थात् स्वानुभूति पूर्वक अपने अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करता है। सम्यग्दृष्टि जीव दिव्यध्वनि को श्रवण कर, अनुभूति को सर्वांग में अनुभव करते हैं। ऐसी दिव्यध्वनि की अनुमोदना से सिद्ध पद की प्राप्ति होती है। दिव्यध्वनि अव्याबाधत्व, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व और अवगाहनत्व गुण से सम्पन्न होती है, जिसे अवधारण करने से सुख का अनुभव होता है। जिन वचनों में दृढ़ता पूर्वक निश्चय साधना के क्रम में गुरुवर श्री तारण स्वामी जी ने मिथ्यात्व का विलय किया, मिथ्या, माया, निदान शल्य का अभाव होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई। जिस समय सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उस समय परिणामों में निरंतर विशुद्धि बढ़ती ही जाती है। आत्मा में अनिर्वचनीय आनंद की लहरें उत्पन्न होती हैं। चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि और सिद्धों की अनुभूति में समानता होती है। निरंतर साधना के क्रम में श्री तारण स्वामी जी को सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यग्ज्ञान में रमणता हुई और स्वभाव में लीनतारूप निर्गन्थ चारित्र दशा उत्पन्न हुई। इस तरह कार्य की सिद्धि हुई, सर्व अर्थ की सिद्धि हुई। संवत् १५७२ में समाधि पूर्वक सहजता के साथ शरीर का संयोग छूटा। आत्मा के आश्रय से आत्मा ने, आत्मा को, आत्मा द्वारा, आत्मा के लिये, आत्मा में से, आत्म स्वभाव को प्रगट कर इस तिलक का प्रसाद प्राप्त किया। जिससे अनंत सुख की प्राप्ति का लक्ष्य पूर्ण होगा। अनंत सुख की, मुक्ति का विलास होगा। यही इन सूत्रों का सारांश कथन है।

।। इति प्रथमोऽधिकारः ।।

निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न - **श्री छद्मस्थवाणी जी के आधार पर 'सम्यग्दर्शन' पर निबंध लिखिये।**

उत्तर - श्री छद्मस्थवाणी श्री गुरु तारण स्वामी जी महाराज द्वारा विरचित दस अध्यायों का सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इसके प्रथम अध्याय में ३८ सूत्रों के माध्यम से सम्यग्दर्शन का आंशिक स्वरूप ध्वनित होता है। सम्यग्दर्शन की महिमा सम्यक्त्व के प्रकार, परिभाषा आदि सैद्धांतिक पक्ष को अनेक बार पढ़कर भी महिमा न आई तो बुद्धि को धिक्कार है। इस अध्याय में व्यवहारिक रूप में सम्यग्दर्शन की साधनावस्था (प्राप्ति के क्रम) में चिंतन या भावभासन का क्या स्वरूप हो सकता है, इसका वर्णन मिलता है।

सम्यक्त्व से ही धर्म का प्रारम्भ होता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहे तो उसे सर्वप्रथम गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्व छोड़ने योग्य हैं।

- **गृहीत मिथ्यात्व** - कुदेव, कुगुरु, कुधर्म की श्रद्धा, मान्यता और इनके मानने वाले के प्रति श्रद्धा, प्रतीति का भाव गृहीत मिथ्यात्व है।
- **अगृहीत मिथ्यात्व** - अत्यंत भिन्न पर पदार्थ स्त्री-पुत्र, मकान-दुकान आदि के प्रति अपनेपन का भाव (भ्रमबुद्धि)। शरीर और आत्मा में एकत्वपने की बुद्धि अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानना आदि।
- अन्याय, अनीति और अभक्ष्य का त्याग, अष्ट मूलगुणों का पालन (पाँच उदम्बर फल व मधु, मांस, मदिरा का त्याग) सप्त व्यसन, पापों का त्याग, बाजार में निर्मित खाद्य सामग्री के सेवन का त्याग करके शुभ परिणति पूर्वक शुद्धता का लक्ष्य रखना कल्याणकारी है।
- सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का यथार्थ श्रद्धान, स्व-पर का भेदज्ञान, षट् द्रव्य और प्रयोजनभूत सात तत्त्वों का सम्यक् श्रद्धान। स्वानुभूति अर्थात् निर्विकल्प निज शुद्धात्मा का स्वीकार होना ही सम्यक्त्व प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।

  उपर्युक्त नियमों को धारण किये बिना सम्यक्त्व प्राप्ति की पात्रता भी नहीं होती।
- सम्यग्दर्शन हमेशा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ही धारण कर सकता है। असंज्ञी नहीं।
- सम्यग्दर्शन पर्याप्त जीव के ही होता है, अपर्याप्त के नहीं।
- सम्यग्दर्शन भव्य को ही होता है, अभव्य को नहीं।
- सम्यग्दर्शन जाग्रत को ही होता है, सुषुप्त को नहीं।
- सम्यग्दर्शन चारों गतियों में हो सकता है।
- अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को पाँच लब्धियों पूर्वक सम्यग्दर्शन होता है। वे पाँच लब्धियाँ हैं- क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि। इनमें से चार लब्धियाँ तो जीव ने अनेक बार प्राप्त की, परंतु करण लब्धि की प्राप्ति नहीं की।
- जब भी सम्यग्दर्शन होता है तब करणलब्धि पूर्वक ही होता है।
- सम्यक्त्व प्राप्ति के समय ये तीन करण होते हैं - अध:करण, अपूर्वकरण और अनिर्वृत्तिकरण।

करण अर्थात् परिणामों में उपयोग की शुद्धता के कारण अर्थात् निज शुद्धात्मा को अपने ज्ञान का विषय बनाकर उसी को जानते रहने से सहज रूप से परिणति में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। अनिर्वृत्तिकरण के अनंतर समय में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। अनादि मिथ्यादृष्टि को सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त होता है।

- प्रथम बार सम्यक्त्व होता है तब मिथ्यात्व का अनुभाग अनंत गुणा हीन होकर एक मिथ्यात्व प्रकृति में से तीन प्रकृति बनती हैं – मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व। यही प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में मिथ्यात्व के तीन टुकड़े होते हैं।
- प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में दर्शन मोहनीय की तीन एवं चारित्र मोहनीय की चार (अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ) प्रकृतियों का उपशम हो जाता है। इस सम्यक्त्व का काल जघन्य अंतर्मुहूर्त है और यह असंख बार हो सकता है।
- क्षायिक सम्यक्त्व में दर्शन मोह की तीन व चारित्र मोह की चारों प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। इसका काल सादि अनंत काल है अर्थात् एक बार क्षायिक सम्यक्त्व होने पर वह कभी छूटता नहीं है। यदि पूर्व (मिथ्यात्व अवस्था) में आयुकर्म का बंध नहीं हुआ हो तो उसी भव में या अधिक से अधिक तीन भव में मोक्ष ले जाता है।
- अनंतानुबंधी की चार एवं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व इन छह सर्वघाति प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सद्‌वस्थारूप उपशम तथा दर्शन मोह की देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति का उदय इसे क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। इसका काल ६६ सागर पर्यंत है, लघुकाल अंतर्मुहूर्त है। इस सम्यक्त्व में चल, मल, अगाढ़ दोष लगते हैं।
- सम्यग्मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय की प्रकृति सादि मिथ्यादृष्टि जीव को उदय में आती है, यह सर्वघाति प्रकृति है और इसका काल अंतर्मुहूर्त ही है।
- प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से सम्यग्दर्शन प्राप्त करके यह जीव जब चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में आता है तब इसे सहज ही ४१ क्षुद्र प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है अर्थात् ये प्रकृतियाँ अब आगे के किसी गुणस्थानों में बंध को प्राप्त नहीं होंगी।
- जिस समय सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है उस समय परिणामों में निरंतर विशुद्धि बढ़ती ही जाती है। आत्मा में अनिर्वचनीय आनंद की लहरें उत्पन्न होती हैं। चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यक्‌दृष्टि और सिद्धों की अनुभूति में कोई अंतर नहीं होता। सम्यग्दर्शन प्राप्ति का एकमात्र उपाय शुद्धात्मा का ध्यान ही है, अन्य नहीं। इसी ध्यान को शुद्धोपयोग कहते हैं।
- एक बार सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद सम्यक्त्व की यह प्रतिज्ञा रहती है कि अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्‌गल परावर्तन काल के अंदर ही वह मोक्ष पहुँचा देगा, इसलिये इसे मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी कहा गया है।

....

मॉडल प्रश्न पत्र

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय

चतुर्थ वर्ष (प्रज्ञ)

प्रथम प्रश्न पत्र – श्री तारण तरण श्रावकाचार जी

मॉडल प्रश्न पत्र

समय – ३ घंटा | पूर्णांक – १००

नोट – सभी प्रश्न हल करना अनिवार्य है। शुद्ध व स्पष्ट लेखन पर अंक दिये जावेंगे।

प्रश्न ०१ – रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये । (अंक २×५=१०)

(क) पद का अनुभव करना............. ध्यान है।

(ख) अचार, मुरब्बा आदि में.....जीवों की उत्पत्ति होती है।

(ग) धर्म वह है जो.........भावों को खंडित करने वाला है।

(घ) बड़ पीपल ऊमर कठूमर पाकर ये..........फल हैं।

(ङ) आत्मा का चैतन्य लक्षण स्वभाव शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से................हैं।

प्रश्न ०२ – सत्य/असत्य कथन चुनकर लिखिये । (अंक २×५=१०)

(क) मलाई रबड़ी आदि पेय भोजन है।

(ख) बिलछानी करना आवश्यक नहीं है।

(ग) पात्र दान वट बीज की तरह है।

(घ) सम्यग्दर्शन होने पर ५८ लाख योनियाँ छूट जाती हैं।

(ङ) कुदेव पूजा से कार्य निर्विघ्न समाप्त होते हैं।

प्रश्न ०३ – निम्नलिखित शब्दों की सही जोड़ी बनाइये । (अंक २×५=१०)

स्तंभ क	–	**स्तंभ ख**
अष्ट	–	उत्तम पद प्राप्ति
रात्रि भोजन	–	मूलगुण
दाता के	–	रूपस्थ ध्यान
पात्र दान का फल	–	सात गुण
अरिहंत पद का ध्यान	–	त्याग व्रत

प्रश्न ०४ – सही विकल्प चुनकर लिखिये । (अंक २×५=१०)

(क) छने पानी की मर्यादा है –	(१) २४ घंटे	(२) १२ घंटे	(३) २५ मिनिट	(४) ४८ मिनिट
(ख) जलकाय की योनि होती है –	(१) ७ लाख	(२) ५लाख	(३) ३ लाख	(४) १ लाख
(ग) अविरत सम्यग्दृष्टि पात्र है –	(१) मध्यम	(२) उत्तम	(३) जघन्य	(४) सामान्य
(घ) पद्म गुप्त नाभि कमल आदि हैं –	(१) वन	(२) प्रदेश	(३) शरीरांग	(४) ध्यान
(ङ) मक्खन किसके समान है –	(१) मांस	(२) मद	(३) शराब	(४) कंद

प्रश्न ०५ – किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर ३० शब्दों में लिखिये । (अंक ४×५=२०)

(१) जीव अपने ममल स्वभाव में क्यों नहीं रहता ?

(२) व्यवहार और निश्चय दान का फल क्या है ?

(३) कोई एक गाथा गाथा शुद्ध रूप में लिखें ?

(४) मध्यम पात्र किसे कहते हैं ?

(५) ध्यान करने वाले ध्याता के लक्षण क्या हैं ?

(६) मिथ्यादृष्टि जीव किसमें रत रहता है ?

(७) दान देते समय कैसे भाव रहना चाहिये।

प्रश्न ०६ – किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लगभग ५० शब्दों में लिखिये । (अंक ६×५=३०)

(१) भोजन कितने प्रकार का होता है ?

(२) आत्मानुभूति की अपेक्षा सम्यक्त्व के कितने भेद हैं ?

(३) ध्यान में बाधक कारण कौन से हैं ?

(४) अनंतानुबंधी क्रोध किसे कहते हैं ?

(५) शुद्ध धर्म क्या है ?

(६) अनंतानुबंधी कषाय वाला जीव किसे कहते हैं

(७) मनुष्य भव में मिले तीन शुभ योगों का उपयोग कैसे करना चाहिये ?

प्रश्न ०७ – किसी एक प्रश्न का उत्तर लगभग २०० शब्दों में लिखिये । (अंक १×१०=१०)

(अ) टिप्पणी लिखिये – (१) दान एवं पात्र (२) अठारह क्रियाएँ

(ब) श्री तारण तरण श्रावकाचार ग्रन्थ के आधार पर सम्यक्त्व का स्वरूप एवं श्रावक की क्रियाओं का स्वरूप समझाइये ।

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय

मॉडल प्रश्न पत्र

चतुर्थ वर्ष (प्रज्ञ)

द्वितीय प्रश्न पत्र - द्रव्यसंग्रह एवं आचार्य परिचय

मॉडल प्रश्न पत्र

समय - ३ घंटा पूर्णांक - १००

नोट - सभी प्रश्न हल करना अनिवार्य है। शुद्ध स्पष्ट लेखन पर अंक दिये जावेंगे।

प्रश्न ०१ - रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये। (अंक २×५=१०)

(क) श्री धरसेनाचार्य ने...........को जीवित रखा। (ख) श्री योगसार ग्रन्थ में ....दोहे हैं।

(ग) षट्खंडागम के रचयिता........और...........मुनि हैं। (घ) मोक्षमार्ग प्रकाशक श्री............की रचना है।

(ङ) जैन परम्परा में यदि आचार्य समंतभद्र जैन न्याय के दादा हैं तो................हैं।

प्रश्न ०२ - सत्य/असत्य कथन चुनकर लिखिये। (अंक २×५=१०)

(क) जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिणामो। (ख) श्री अरिहंत भगवान के चार प्राण होते हैं।

(ग) जो सदा विद्यमान रहे उसे अस्ति कहते हैं। (घ) केवली समुद्घात में साठ समय लगते हैं।

(ङ) जो अभिप्राय अखंड निरपेक्ष त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को जाने उसे शुद्ध नय कहते हैं।

प्रश्न ०३ - सही जोड़ी बनाइये। (अंक २×५=१०)

स्तंभ क	-	**स्तंभ ख**
कषाय के निमित्त से	-	सविपाक निर्जरा
पूर्ण अवधि में कर्मों का झड़ना	-	कुन्दकुन्द
कोण्डकुन्द	-	धरसेनाचार्य
चंद्रगुहा	-	भूतबलि आचार्य
बांमिदेश	-	स्थिति अनुभाग बंध होता है.

प्रश्न ०४ - सही विकल्प चुनकर लिखिये। (अंक २×५=१०)

(क) गलयति पूरयति इति....... - (१) पुद्गलः (२) कषायः (३) कर्मः (४) द्रव्यः

(ख) बारस अणुपेक्खा णियमसार - (१) अकलंकदेव (२) भूधरदास (३) बुधजन (४) कुन्दकुन्द

(ग) कर्मों के उत्तर भेद - (१) ००४ (२) ००३ (३) १०८ (४) १४८

(घ) परिणाम क्रिया परत्व अपरत्व - (१) निश्चयकाल (२) व्यवहारकाल (३) समय (४) काल

(ङ) धरसेन पुष्पदंत भूतबलि कुंदकुंद आचार्य हैं - (१) श्रुतधर (२) सारस्वत (३) प्रबुद्ध (४) कवि

प्रश्न ०५ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लगभग ३० शब्दों में दीजिये। (अंक ४×५=२०)

(१) परम ध्यान का लक्षण क्या है ? (२) उपचार किसे कहते हैं ?

(३) चौदह मार्गणा के नाम लिखिये ? (४) स्याद्वाद किसे कहते हैं ?

(५) कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओं के नाम लिखें। (६) अस्तिकाय किसे कहते हैं ? अस्तिकाय कितने द्रव्य हैं ?

(७) अनुबद्ध केवली कौन हैं, उन्होंने कितने वर्षों तक धर्म प्रभावना की ?

प्रश्न ०६ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लगभग ५० शब्दों में लिखिये। (अंक ६×५=३०)

(१) उपयोग का स्वरूप एवं भेद बताइये। (२) मूर्तिक-अमूर्तिक का स्वरूप बताइये।

(३) निर्जरा का लक्षण व भेद बताइये। (४) श्रुतधर आचार्य कौन होते हैं, संक्षेप में बताइये।

(५) समुद्घात किसे कहते हैं स्पष्ट कीजिये ? (६) टोडरमल जी की रचनाओं व अनुवाद के नाम लिखिये।

(७) द्रव्यसंग्रह गाथा दो के आधार पर जीव के विशेषण बताइये।

प्रश्न ०७ - किसी एक प्रश्न का उत्तर लगभग २०० शब्दों में दीजिये। (अंक १×१०=१०)

(अ) किन्हीं चार पर टिप्पणी लिखिये - (१) पंचपरमेष्ठी लक्षण (२) सम्यक्चारित्र का लक्षण (३) सम्यग्ज्ञान का लक्षण (४) बंध के भेद और कारण। (५) समुद्घात (६) जीवो उवओगमओ..........गाथा पूर्ण कर विस्तार करें।

(ब) निबंध लिखें - द्रव्यसंग्रह में जीव द्रव्य के विशेषण और लक्षण अथवा चौदह जीव समास।

मॉडल प्रश्न पत्र

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय

चतुर्थ वर्ष (प्रज्ञ)

तृतीय प्रश्न पत्र - श्री अध्यात्म अमृत कलश

मॉडल प्रश्न पत्र

समय - ३ घंटा   पूर्णांक - १००

नोट - सभी प्रश्न हल करना अनिवार्य है। शुद्ध व स्पष्ट लेखन पर अंक दिये जावेंगे।

प्रश्न ०१ - रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये । (अंक २×५=१०)

(क) अध्यात्म अमृत कलश में ....कलश हैं।
(ख) एक नय जीव को बद्ध तो दूसरा नय.........कहता है।
(ग) द्रव्य अकेला ही ....करता है।
(घ) औपाधिक भावों का कर्ता केवल.........जीव होता है।
(ङ) जो पर्याय से तन्मय होकर परिणमता है वही द्रव्य उसका..............है।

प्रश्न ०२ - सत्य/असत्य कथन चुनकर लिखिये । (अंक २×५=१०)

(क) प्रमाण, नय, निक्षेप पर को जानने के उपाय हैं।
(ख) दो द्रव्य मिलकर एक पर्याय के कर्ता होते हैं।
(ग) द्रव्य शुद्ध का अर्थ है कि जीव द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है।
(घ) आत्मा उपयोग लक्षण वाला है अत: ज्ञान स्वरूप है।
(ङ) आत्मा न निश्चयात्मक है और न व्यवहार नयात्मक है, वह नयातीत है।

प्रश्न ०३ - निम्नलिखित शब्दों की सही जोड़ी बनाइये । (अंक २×५=१०)

स्तंभ क	-	**स्तंभ ख**
य: परिणमति	-	अमृतचंद्र
आत्मा ज्ञानं	-	सदा
कर्ता कर्मणि	-	नास्ति
एक: परिणमति	-	स्वयं ज्ञानं
तत्त्वार्थसार	-	स: कर्ता

प्रश्न ०४ - सही विकल्प चुनकर लिखिये । (अंक २×५=१०)

(क) द्रव्य व्यापक और उसकी पर्याय है -(१) कर्ता (२) कर्म (३) व्यापक (४) व्याप्य
(ख) रागादि विभाव परिणमन होता है - (१) जीव में (२) पुद्गल में (३) अजीव में (४) आकाश में
(ग) शुद्ध नय की विषयभूत शुद्धात्मा है -(१) हेय (२) उपादेय (३) उपेय (४) उपमान
(घ) पुद्गल के साथ जीव का संबंध है - (१) हेय उपादेय (२)कर्ता कर्म (३) संयोग (४) ज्ञेय ज्ञायक
(ङ) एक कर्ता के प्रतिसमय कर्म होते हैं -(१) एक (२) दो (३) तीन (४) अनंत

प्रश्न ०५ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर ३० शब्दों में लिखिये । (अंक ४×५=२०)

(१) जीव दु:खी क्यों है ?
(२) जीव की मोहजन्य एकत्व परिणति कब छूटती है ?
(३) जीव ज्ञान स्वभावी है तो उसे अज्ञानी क्यों कहते हैं ?
(४) आत्मा सभी पर्यायों में कैसा रहता है ?
(५) क्या दो द्रव्यों की एक क्रिया हो सकती है ?
(६) क्या ज्ञानी जीव विकाररूप परिणमित होता है ?
(७) कर्मोदय जीव को क्रोधादिरूप परिणमन कराते हैं ऐसा क्यों नहीं मानते हैं ?

प्रश्न ०६ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लगभग ५० शब्दों में लिखिये । (अंक ६×५=३०)

(१) टिप्पणी लिखिये - क्रोध का कर्ता जीव।
(२) परिभाषा लिखिये - निश्चय नय, व्यवहार नय
(३) जानने और करने में क्या भेद है ? बताइये।
(४) कर्ता कर्म क्रिया क्या है, तीनों भिन्न हैं या अभिन्न ?
(५) रागादि में प्रवृत्त उपयोग आत्मानुभव कैसे करता है ?
(६) सम्यग्दृष्टि को रागादिहोने पर भी बंध नहीं होता क्यों?
(७) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता है ऐसा उपचार कथन किसलिये किया जाता है ?

प्रश्न ०७ - किसी एक प्रश्न का उत्तर लगभग २०० शब्दों में लिखिये । (अंक १×१०=१०)

(अ) निबंध लिखिये - नय पक्ष में निर्विकल्पता (गाथा ७० से ८९ के आधार पर)
(ब) टिप्पणी लिखिये - (अ) व्याप्य व्यापकता। (ब) कर्ता-कर्म अधिकार का सिद्धांत पक्ष

मॉडल प्रश्न पत्र

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय

चतुर्थ वर्ष (प्रज्ञ)

चतुर्थ प्रश्न पत्र - त्रिभंगीसार एवं छद्मस्थवाणी

मॉडल प्रश्न पत्र

समय - ३ घंटा पूर्णांक - १००

नोट - सभी प्रश्न हल करना अनिवार्य है। शुद्ध स्पष्ट लेखन पर अंक दिये जावेंगे।

प्रश्न ०१ - रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये। (अंक २×५=१०)

(क) अनंतज्ञान स्वरूप का अनुभव करना.......सी अर्क है। (ख) इस देह में षट् कमल हैं...........अर्कों से भरे।

(ग) ....शब्द हितमित परिणत होते हैं। (घ) कण्ठ कमल.............पंखुड़ियों का होता है।

(ङ) सम्यग्दर्शन का बहिरंग कारण........का उपदेश है।

प्रश्न ०२ - सत्य/असत्य कथन चुनकर लिखिये। (अंक २×५=१०)

(क) आसन की दृढ़ता से मन वचन काय एकाग्र होते हैं। (ख) स्वभाव की शरण आने से जन्म-मरण छूट जाता है।

(ग) छद्म ज्ञानावरण-दर्शनावरण को कहते हैं। (घ) हास्य से जीवन सुखमय हो जाता है।

(ङ) परिवार के प्रति हंसी-खुशी-राग भाव प्रगाढ़ होना चाहिये।

प्रश्न ०३ - सही जोड़ी बनाइये। (अंक २×५=१०)

स्तंभ क	-	**स्तंभ ख**
अनृतं	-	झूठा राग
माया	-	सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व
चल मल आगाढ़ दोष	-	मिथ्यात्व
स्व-पर एकत्व मान्यता	-	आर्त ध्यान
क्षोभ-शोक	-	असत्य

प्रश्न ०४ - सही विकल्प चुनकर लिखिये। (अंक २×५=१०)

(क) श्री तारणस्वामी को मिथ्यात्व विलय हुआ - (१) ११ वर्ष (२) २० वर्ष (३) ३१ वर्ष (४) ६० वर्ष

(ख) षट् कमल साधना की जाप है - (१) ॐनमःसिद्धं (२) अर्हं नमः (३) ॐह्रींश्रीं (४) उवन नमः

(ग) स्वरूपाचरणके प्रकाशसे प्रकाशित करनेवाला-(१) चरनसीअर्क (२) करनसीअर्क (३) नंदसीअर्क (४) हंससीअर्क

(घ) शुभ-अशुभ और मिश्र परिणाम बीज हैं - (१) मुक्ति के (२) स्वर्ग के (३) संसार के (४) विनास के

(ङ) कर्म आस्रव का कारण है - (१) कृत अनुमो. (२) कारित अनु. (३) कृ.का.अनु. (४) अनुमोदना

प्रश्न ०५ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लगभग ३० शब्दों में दीजिये। (अंक ४×५=२०)

(१) मुक्ति में विलास कब होता है ? (२) नंद आनंद सहजानंद को स्पष्ट करें।

(३) पुरुषार्थ क्या है ? (४) मन, वचन, काय को स्पष्ट करें ?

(५) भावयोग और द्रव्ययोग को स्पष्ट करें। (६) कर्म आस्रव को स्पष्ट करे।

(७) व्यवहार नय से साधु के पाँच आचार कौन से हैं ?

प्रश्न ०६ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लगभग ५० शब्दों में लिखिये। (अंक ६×५=३०)

(१) छद्मस्थ के भेद व लक्षण बताइये। (२) त्रिभंगीसार की अंतिम प्रशस्ति क्या है ?

(३) त्रिभंगीसार की विषय वस्तु क्या है ? (४) कर्मास्रव कैसे होता है ?

(५) कुमति कुश्रुत कुअवधि को समझाइये । (६) आलस प्रपंच विनास दृष्टि क्या है ?

(७) मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व को समझाइये।

प्रश्न ०७ - किसी एक प्रश्न का उत्तर लगभग २०० शब्दों में दीजिये। (अंक १×१०=१०)

(अ) निबंध लिखिये किसी एक विषय पर - (अ) छद्मस्थवाणी में छद्मस्थ का स्वरूप।

(ब) त्रिभंगीसार के आधार पर कर्मास्रव के निरोध का उपाय। अथवा त्रिभंगीसार में कर्मास्रव के त्रिभंग।

।। वन्दे श्री गुरु तारणम्।।

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय

संचालन संस्था - श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान, संबद्ध - श्री सम्मेद शिखर जी मधुबन जिला - गिरिडीह (झारखंड)

संचालन कार्यालय - श्री तारण भवन, संत तारण तरण मार्ग, छोटी बाजार, छिन्दवाड़ा (म.प्र.) फोन : ०७१६२-२४५२७८

प्रवेश आवेदन पत्र

मैं श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय में ज्ञानोपार्जन की भावना से अध्ययन हेतु प्रवेश पाने हेतु इच्छुक हूँ। अत: निवेदन है कि आप मुझे प्रवेश हेतु स्वीकृति प्रदान करें।

प्रवेशार्थी स्वयं का पासपोर्ट साइज फोटो लगायें

मेरी व्यक्तिगत आवश्यक जानकारी निम्नानुसार है -

१. नाम - श्री/कु./श्रीमती/सुश्री : ....

२. पिता/ पति श्री : .... ३. जन्म तिथि : ...../...../..... उम्र : .... जन्मस्थान: ....

४. पुरुष/महिला : .... जाति : .... लौकिक शिक्षा : ....

५. पत्र व्यवहार का पूरा पता (पिनकोड सहित): ....

विकासखंड : .... तहसील : .... जिला/प्रदेश : ....पिनकोड : ....

६. फोन व मोबाइल : .... ईमेल/फेक्स : .... प्रवेश शुल्क : ....

७. प्रवेश वर्ष (जिस वर्ष में प्रवेश लेना हो उस वर्ष में सही का चिन्ह लगायें)(प्रथम वर्ष उत्तीर्ण होने पर ही अगले वर्ष की पात्रता होगी)

प्रथम वर्ष (प्रवेश) ☐ द्वितीय वर्ष (परिचय) ☐ तृतीय वर्ष (प्रवीण) ☐

चतुर्थ वर्ष (प्रज्ञ) ☐ पंचम वर्ष (शास्त्री) ☐

८. प्रवेश वर्ग - (प्रवेशार्थी अपनी उम्र के अनुसार प्रवेश वर्ग में सही का चिन्ह लगायें)

दर्शन वर्ग ☐ (१५ से २५ वर्ष) ज्ञान वर्ग ☐ (२६ से ४० वर्ष) ममल वर्ग ☐ (४१ वर्ष से ऊपर)

९. श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय द्वारा संचालित गत वर्ष की परीक्षा का विवरण -

प्रवेश वर्ष का नाम	उत्तीर्ण वर्ष	प्राप्तांक	प्रतिशत	श्रेणी	अनुक्रमाँक

एतद् द्वारा मैं प्रमाणित करता हूँ/करती हूँ कि मुझसे संबंधित उपरोक्त जानकारी सत्य है। श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय द्वारा निर्देशित समस्त नियम मुझे स्वीकार हैं और मैं इन नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करूँगा/करूँगी।

पालक का नाम एवं हस्ताक्षर

विद्यार्थी के हस्ताक्षर एवं पूरा नाम

दिनाँक : ....../...../......

स्थान : ....

इस पुस्तक में प्रारम्भिक १८ पेज – दो पेज प्रथम अध्याय के मिलाकर। पुस्तक के २२१ पेज। एवं अंदर के अध्याय के ६ पेज इस प्रकार कुल – २२१ + ०६ + १८ = २४५ इनमें तीन पेज पुस्तक के पीछे लाइन डालकर २४८ करें। इस प्रकार कुल पेज २४८ रहेंगे।